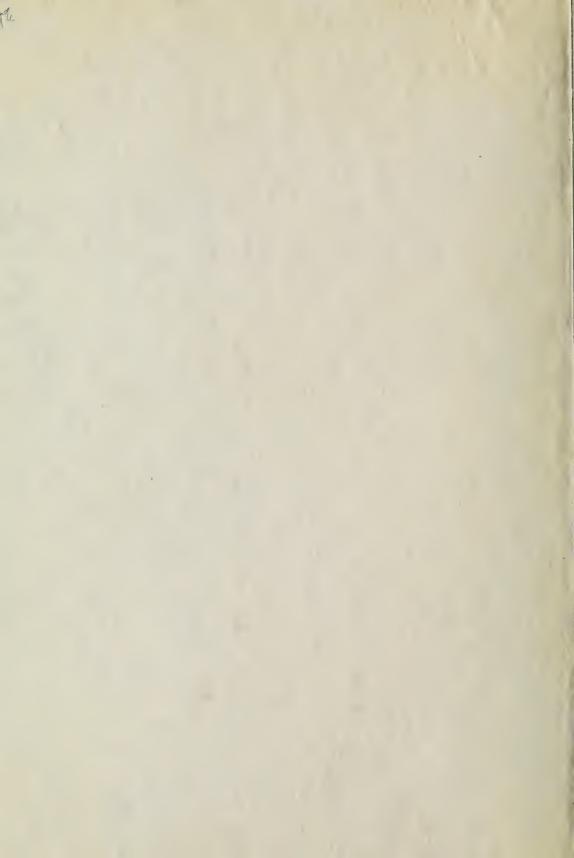
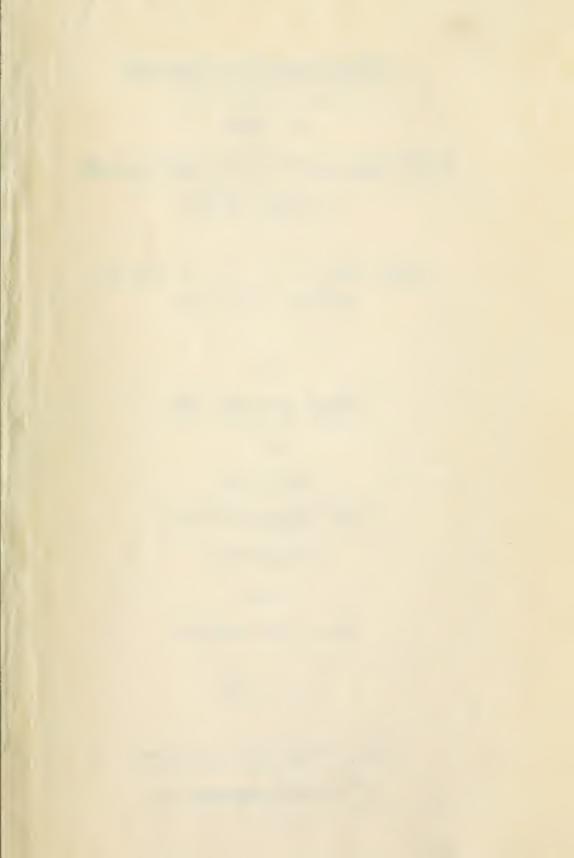
# नन्दा अमसंस्कृतप्रन्थाविहै।



# शुन्द्रीयोगिनयुत् ।

यं प्वाशतमाहे प्रतिः प्व देशकाः ( ५०५० )







# आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थाविः।

ग्रन्थाङ्गः ६३

# श्रीमद्रङ्गरामानुजमुनिविरचितप्रकाशिकोपेता छान्दोग्योपनिषत् ।

एतत्पुस्तकं वे० शा० रा० रा० गोखले इत्युपाह्वे-र्गणेशशास्त्रिभिः संशोधितम् ।

तत्

# हरि नारायण आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

# आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८३२

खिस्ताब्दाः १९१०

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनान्तसारेण स्वायत्तीकृताः )

मूल्यं पादोनकण्कचतुष्टयम् । (३४१२)

SEP 201966

LIBRAR
SEP 201966

LIBRAR

SEP 201966

2.47

## छान्दोग्योपनिषद्दिपयसूचीपत्रम् ।

#### अथ प्रथम: प्रपाठकः।

| विषयाः। (आरम्भ- (समा  | प्ति- |
|---|-------|
| खण्डाङ्गाः । प्रशङ्काः।) प्रशः  |       |
| बह्मविद्यौपयिककर्माङ्गविषयकोंकारोपासनोपदेशः १ २५३ २                         | प३    |
| ॐकारोपासनस्य रसतमत्वकामाप्तिसमृद्धिगुणक-                                    |       |
| त्वादिपकारवैशिष्टचम् १ २५४ २  | ६०    |
| उद्गीथावयव ओंकारे मुख्यप्राणदृष्टिं विधातुमाख्या-                           |       |
| यिकाप्रस्तावः २ २६० २   | ६२    |
| 144114 (1114)   | ६३    |
| देशाह्रवाचा गाउँद गा  | ६७    |
| इत्राणाव्यक्तम इंट्यालिस  |       |
| आदित्वहुट्या माणाप्रदुष्या याद्वारासार र                                    | ००    |
| उद्गायनानाकरापातपद्र  | १७२   |
| स्वरशब्दितोंकारस्य प्रशंसा ४ २७२ २  | १७३   |
| प्रणवोद्गीथयोरेकत्वविज्ञानोपदेशस्तस्य फलं च ५ २७४ र                         | २७८   |
| आदित्यमण्डलान्तर्विता पुरुषेणोद्गीथस्यैक्याध्यासः ६ २७८                     | १८२   |
| चाक्षुपेण परमात्मनोद्गीथस्यैक्याध्यासः ७ २८३                                | १८७   |
| विवस्तालभाजेवलिमंबादः ८.९ २८७   | २९३   |
| शिलिकद्राल्भ्यजनालसमापुरमा  |       |
| प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारमिक्तत्रयविषयकोषासनविधा-                              | 2     |
| नार्थमुपस्त्याख्यायिका १०-११ २९३  | ५००   |
| श्वदृष्टोद्वीथस्त्यत्यर्थं दालभ्यस्याऽऽख्यायिका १२ ३००                      | २०१   |
| सामावयवान्तर्गतस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि १३ ३०१                       | ३०२   |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ।  |       |
| समस्तसामोपासनम् १ ३०३   | ३०४   |
| समस्तानापात्राच्य   |       |
| हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनलक्षणपाञ्चविध्य-<br>यक्तमास्त उपासनम् २ ३०४ | 300   |
| 12 (11 / 11 / 11 / 11 / 11 / 11 / 11 / 1                                    |       |
| वृष्टिदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् ३ ३०५                                      | 4. 3  |

2

ह्मपाप्ति:

विषयाः । (आरम्म- (समाप्ति-खण्डाङ्काः। पृष्ठाङ्काः।) पृष्ठाङ्काः।) अब्दृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् ... ३०६ S ३०६ ऋतुदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् ... ३०६ 308 पशुदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् ... २०७ 300 प्राणादिदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् 300 306 षाक्छ ब्दितशब्द हुष्ट्या हिंकारप्रस्तावों कारोद्गीथप्रति-हारोपद्रवनिधनाख्यसप्तविधसामोपासनम् 306 306 सप्तविधे साम्न्यादित्यबुद्धिः... ३०९ 323 अतिकान्तादित्यसप्तविधसामोपासनम् ... 90 322 ३१२ प्राणेषु गायत्रसामोपासनम् ... ... ?? 373 373 अग्नौ रथंतरसामोपासनम् ... 373 ...१२ 388 मिथुने वामदेव्यसामोपासनम् ... ?3 ३१४ ३१५ आदित्ये बृहत्सामोपासनम् ... ... 88 ३१५ 384 पर्जन्ये वैरूप्यसामोपासनम् ... ... १५ ३१६ ३१६ ऋतुषु वैराजसामोपासनम् ३१६ ...१६ 396 पृथिव्यादिवृष्ट्या शकरीसामोपासनम् ...१७ ३१७ 370 पशुदृष्ट्या रेवतीसामोपासनम् ... १८ 380 385 अङ्गवृष्ट्या यज्ञायज्ञीयसामोपासनम् ... १९ 386 ३१८ देवतादृष्ट्या राजनसामोपासनम् ..,२० 385 ३१९ त्रयीविद्यादिहरूचा सामोपासनम् ...२१ 313 320 गानविशेषोपदेशः ...२२ 370 ३२२ ओंकारेण बह्योपासनविधि:... ...२३ ३२२ . . . 358 कानिचित्कर्माङ्गाणि... ... २४ ३२४ 370 ... अथ तृतीयः प्रपाठकः। आदित्यादौ मध्वादिदृष्टिः ... ३२८ 329 दक्षिणदिवस्थरकस्यादौ मधुनाड्यादिहृष्टिः ... ३२९ 330 पश्चिमदिवस्थररुम्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः ... ३३० 330 उत्तरिवस्थररुम्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः 338 338 ऊर्ध्वदिवस्थररुम्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः ३३१ ३३२ वसूपजीवनभूतप्रथमामृतोपासने वसुत्वपाप्तिपूर्वकब-

333

... ६ ३३२

बलीवर्द्स्य सत्यकामाय बह्मणः प्रथमपादोक्तिः ... ५

अग्ने: सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयपादोक्तिः ... ६

३८८ ३८९

३८९. ३९०

| ष्ठ छान्द्राण्यापानपाद्वपपद्वपापत्र                      |         |                 |        |
|--|---------|-----------------|--------|
| विययाः ।   |         | आरम्म- (        |        |
|  |         | विष्टाङ्कीः।)वृ |        |
| हंसस्य सत्यकामाय तृतीयपादोक्तिः                          | ٠ ه     | 390             | _      |
| मद्गोः सत्यकामाय चतुर्थंपादोक्तिः                        | ٠ د     | ३९१             | 368    |
| सत्यकामस्य गुरुकुले पुनर्गमनम्                           | }       | ३९२             | ३९३    |
| उपकोसलविद्या   | 90      | ३९३             | ३९५    |
| गार्हपत्याभिविद्या                                       | ११      | ३९५             | ३९७    |
| अन्वाहार्यपचनाभ्रिविद्या                                 | १२      | ३९७             | ३९७    |
| आहवनीयाग्निविद्या  | १३      | ३९८             | ३९८    |
| अग्नीनामुपकोसलं प्रति वचनम्                              | 88      | ३९८             | 800    |
| अक्षिपुरुषोपासना   | १५      | ४००             | Ros    |
| यज्ञे क्षम उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्थहोममन्त्रत | स्या    |                 |        |
| विधातव्यास्तद्भिज्ञस्यैव ब्रह्मत्वलक्षणमार्तिव           |         |                 |        |
| तस्य च ब्रह्मणो मौनमावश्यकमित्यादिविधान                  |         | ४०४             | ४०६    |
| यज्ञभ्रंशे व्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तम्                   | _       | ४०६             |        |
| अथ पञ्चमः प्रपाठकः।                                      | •       | •               |        |
| जय पश्चमः भपाठकाः ।                                      |         |                 |        |
| प्राणविद्या  |         | ४०९             | ४२१    |
| संसृतिवैराग्यहेतुभूतप्रकृतविविक्तजीवयाथात्म्या           |         |                 |        |
| षयपञ्चाग्निविद्यार्थं श्वेतकेतुप्रवाहणसंवादः             | ३       | ४२१             | ४२५    |
| िचिरकालमुपितवते गौतमाय राजकृतविद्योपदेः                  | शः,     |                 |        |
| तत्र वेत्थ यथा पश्चम्यामाहुतावाप इति पश्च                | ाम ∙    |                 |        |
| प्रश्नस्य प्रतिवचनम्                                     | y-9     | ४२५             | ४२९    |
| वेत्थ यथा देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तन               |         |                 | ' '    |
| इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनम्                            | १०      | ४२९             | ४३१    |
| वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति प्रथमप्रश्नस्य प्र       | ति-     |                 | 1      |
| वचनम्  | 80      | ४३२             | ४३२    |
| वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रति        |         |                 |        |
| चनम्   |         | ४३२             | ४३५    |
| वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्वत ३ इति चत्                   |         |                 |        |
| प्रश्नस्य प्रतिवचनम्                                     |         | บลน             | VVV    |
| औपमन्यवादिभिः पश्चभिरुद्दालकेन सहितैः वै                 | ··· ( ) | 047             | 600    |
| •  |         | 9 19 19 4       | *1*110 |
| यस्य संवादः  | \$ \$   | 884             | 880    |

| छान्द्राग्यापानपाद्वपयसूचापः                      |               |               | 9         |
|---|---------------|---------------|-----------|
| विषयाः ।  | <b>(</b> 8)   | गरम्भ- (      | समाप्ति-  |
|   | सण्डाङ्काः। इ | रिहाह्याः।) ह | (৪াছ্মাঃ) |
| औपमन्यवकैकेयराजसंवादः                             | १२            | 886           | 888       |
| सत्ययज्ञकैकेयराजसंवादः                            | १३            | ४४९           | ४४९       |
| इन्द्रद्युम्नकैकेयराजसंवादः                       | 88            | ४५०           | 840       |
| जनकैकेय संवादः                                    | १५            | ४५०           | 845       |
| बुंडिलंकेकेयसंवादः                                | …१६           | 848           | RAS       |
| उद्दालककैकेयसंवादः                                | १७            | ४५२           | ४५२       |
| सर्वैः सह कैकेयसंवादः                             | १८            | ४५२           | ४५५       |
| विदुषोऽग्निहोत्रसिद्ध्यर्थं प्राणाय स्वाहेतिप्रथम | ाहु-          |               |           |
| तिकथनम्   | १९            | ४५५           | ४५६       |
| व्यानाय स्वाहेतिद्वितीयाहुतिकथनम्)                |               |               |           |
| अपानाय स्वाहेतितृतीयाहुतिकथनम्/                   | २०-२३         | vus           | VUC       |
| Manual (albin all albina and )                    | 70 77         | 0.9           | 0 10      |
| उदानाय स्वाहेतिपञ्चमाहुतिकथनम्)                   |               |               |           |
| एवंविदोऽग्रिहोत्रफलम्                             | २४            | ४५८           | 865       |
| अथ पष्टः प्रपाठकः ।                               |               |               |           |
| all address of mentions                           | •             | ues           | 5.105     |
| सद्विद्योपदेशार्थमाख्यायिका                       | _             | ४६३           | १७२       |
| अन्यपक्षानिरसनपूर्वकस्वमतोपन्यासः                 |               | ४७२           | ४८७       |
| ब्रह्मव्यतिरिक्तेतरसर्वस्यापि तेजोवन्नात्मकषीजः   |               |               |           |
| प्रसूतत्वम्                                       | ३-४           | ४७८           | 8<8       |
| अन्नाद्यशितं त्रेधा भवतीति                        | <b>પ</b>      | 858           | ४८५       |
| मक्ष्यमाणस्याणीयभागो मनआदिर्भवतीति                | ६             | ४८५           | ४८६       |
| योडशकलपुरुपोपदेशः                                 | v             | ४८६           | 888       |
| सुषुप्तिकालस्थित्युपदेशः                          | 6             | ४९५           | 488       |
| सुषुप्तौ प्रजानां सत्संपत्तिर्न श्रद्धेयेति मन्वा | नस्य          |               |           |
| श्वेतकेतो रसदृष्टान्तेनोपदेशः                     | \$            | 488           | पश्२      |
| सुप्तोत्थितस्य गृहादागतोऽस्मीतिप्रतिसंधानवत       |               |               |           |
| प्तिद्शायां परमात्मानि संपन्नस्य सुषुप्त्यन       | न्तरं         |               |           |
| सत आगतोऽस्मीति प्रतिसंधानं स्यादिति ः             |               |               |           |
| मानस्य श्वेतकेतोर्नदीदृष्टान्तेनोपदेशः            |               | ५१२           | 493       |
| देहवियोगसमये जीवस्य नाशः कस्मान्न भव              |               |               |           |
| पुरायपायतम् सामर्यं मार्गः मार्गाक्षः म           | in h          |               |           |

छान्दोग्योपनिषद्विषयसूचीपत्रम् ।

| ्ड् छान्दोग्योपनिषद्विषयः<br>विषयाः।         | धूचीपत्रम् ।   |  |
|--|----------------|--|
| विषयाः ।                                     | t              | (आरम्भ- (समाप्ति-<br>पृष्ठाङ्काः।) पृष्ठाङ्कः )ः |
|  | বঙ্গাল্লা:।    | प्रष्ठाङ्काः।) यष्टाङ्कः:)ः                      |
| त्याशङ्कचमानस्य श्वेतकेतोर्वृक्षद्वष्टान्ते  | निषद्शः ११     | पश्य पश्य  |
| सच्छन्दितस्यानेकब्रह्माण्डहेतुत्व आइ         | ाङ्कमानस्य     |  |
| श्वेतकेतोर्वटफलदृष्टान्तेनोपदेश:             | १२             | पश्प पश्ह  |
| कारणानुगतस्य परमात्मनोऽनुपलम्मे              | शङ्कमानस्य     | पशृद्द पृश्क                                     |
| श्वेतकेतोर्लवणहष्टान्तेनोपदेश:               | १३             | पृष्ठ ५१७  |
| सर्वव्यापिनः सच्छब्दितस्यावगत्युपा           | यप्रदर्शनार्थं |  |
| गन्धारदेशानीतपुरुषदृष्टान्तेनोपदेश:          | १४             | पश्ट पर्व  |
| देहराहित्योपजीविनी ब्रह्मसंपत्तिरपि न        | न श्रद्धेयेति  |  |
| मन्वानस्य श्वेतकेतोर्मुमूर्षुपुरुषदृष्टान्ते |                | ५२० ५२१  |
| सत्यभूतं सद्दात्मकत्वमनुसंद्धानस्यैवान       |                |  |
| रिति चौरपरशुग्रहणहष्टान्तेन कथनम्            |                | ५२१ ५२५  |
| अथ सप्तमः प्रप                               |                |  |
| अथ सतमः भप                                   | 1040+1         |  |
| नारदाय सनत्कुमारोपदेशः                       | ?              | पर्प पर्ट  |
| वाङ्नाम्नो मूयसीति                           | २              | ५२८ ५२९  |
| मनो वाचो मूय इति                             | 8              | ५३० ५३०  |
| संकल्पो मनसो मूयानिति                        | 8              | ५३१ ५३३  |
| चित्तं संकल्पाद्मूय इति 😬                    | 4              | ५३३ ५३४  |
| ध्यानं चित्ताद्मूय इति                       | ६              | ५३४ ५३६  |
| विज्ञानं ध्यानाद्मूय इति                     | u              | पद्द ५३७   |
| बलं विज्ञानाद्मूयं इति                       | c              | ५३७ ५३८  |
| असं बलाद्भूय इति                             | 9              | ५३८ ५३९  |
| आपोऽन्नाद्भूयस्य इति                         | १०             | पंद्र९ पं४०                                      |
| तेजोऽद्भच भूय इति                            | ११             | ५४० ५४१  |
| आकाशस्तेजसो भूयानिति                         | १२             | ५४१ ५४२  |
| स्मरणमाकाशाद्भूय इति                         | १३             | ५४२ ५४३  |
| आज्ञा स्मरणाद् मूर्यसीति                     | १४             | ५४३ ५४३  |
| प्राण आशाया भूयानिति                         | १५             | ५४४ ५४६  |
| सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः        | १६             |  |
| विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः     | ٧٥             | ५४८ ५४९  |
| मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः          | १८             | ५४३ ५४९  |

| छान्द्रियोपनिपाद्वेषयस्                  | (चीपत्रम् ।       | હ                     |
|--|-------------------|-----------------------|
| विषयाः ।                                 | (आ                | रम्भ- (समाप्ति-       |
|  | खण्डाङ्गाः। पृष्ठ | शहाः।) व्रष्ठाह्याः।) |
|  | १९                | ५५० ५५०               |
|  |                   | ५५० ५५०               |
|  | २१ ९              | पपर पपर               |
|  | २२ '              | पपृष् पपृष्           |
| मूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपदेशः     | २३ ५              | १५२ ५५२               |
| मूमाल्पयोः स्वरूपकथनम्                   | २४ ५              | पप्र पप्प             |
|  | २५–२६ •           | प्पद प्पर             |
| उपासकः सान्विकाहारसेवी मवेदित्युपदेः     | तः <b>२६</b> '    | पद् पद्               |
| अथाष्ट्रमः प्रपाठक                       | T: 1              |                       |
| वृहरविद्योपासनम्                         | 8                 | १६३ ५७२               |
| दृहरविद्योपासनफलम्                       | <del>?</del> •    | ५७२ ५७४               |
| असत्यापिहितसत्योपासनं नामाक्षरोपासनं     | ₹ ३ ५             | 148 463               |
| सेतुद्धपात्मोपासनम्                      |                   | १७९ ५८१               |
| बह्मचर्यप्रशंसा                          |                   | १८१ ५८३               |
| मूर्धन्यनाडीगमनप्रशंसा                   |                   | 468 460               |
| अथ प्रत्यगात्मविद्या तत्रेन्द्रविरोचनयोः |                   |                       |
| ^ · _                                    |                   | १८७ ५९०               |
|  |                   | ५९० ५९३               |
|  |                   | १९३ ५९५               |
| 2-2-                                     |                   | पुरुष पुरुह           |
| 4 4                                      |                   | पुरुह पुरुट           |
| 2 0 2                                    |                   | पुष्ट ६०६             |
|  | * *               | इ०७ ६०८               |
|  | •                 | ६०८ ६१०               |
| ^ \                                      | •                 | इंश्व इंश्व           |
|  | 8                 |                       |

#### समाप्तमिदं छान्दोग्योपनिषद्विषयस्चीपत्रम् ।



### ॐ तत्सद्वह्मणे नमः । रङ्गरामानुजविरचितप्रकाशिकोपेता छान्दोग्योपनिषत् ।

अतसीगुच्छसच्छायमाश्चितोरःस्थलं श्रिया।
अञ्जनाचलगृङ्गारमञ्जलिर्मम गाहताम् ॥ १ ॥
श्रीशैलपूर्णवंशाधिकौस्तुभस्य जगद्धरोः।
श्रीमतस्तातयार्यस्य चरणौ शरणं वृणे॥ २ ॥
श्रीतातगुरुसेवाप्तवेदान्तयुगलाशयः।
वात्स्यानन्तगुरुः श्रीमाञ्श्रेयसे मेऽस्तु भूयसे॥ ३ ॥
यत्सेवावैभवाल्च्धा मया परमहंसता।
तमहं शिरसा वन्दे परकालमुनीश्वरम्॥ ४ ॥
ध्यासं लक्ष्मणयोगीन्द्रं प्रणम्यान्यान्गुरूनि ।
छन्दोगोपनिषद्याख्यां करवाणि यथामति॥ ५ ॥

बह्मविद्यौपियकं कर्माङ्गविषयमादावुषासनमुपिद्श्यते— ॐमित्येतदक्षरमुद्रीथमुपासीत ।

उद्गीथमत्त्रवयवभूतमोमित्येतद्क्षरमुपासीतेत्यर्थः । ओमित्यक्षरस्यो-द्गीथत्वासंभवेन सामानाधिकरण्यार्थमुद्गीथपदस्य वाऽक्षरपद्स्य वा मुख्यार्थत्यागेन लक्षणायां समाश्रयणीयायामेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यान-मित्युपसंहारानुगुण्यादुद्गीथशब्दस्य जघन्यतया च तस्यैवोद्गीथावयवल-क्षकत्वं युक्तं न तु मुख्यस्योमित्येतद्क्षरमित्यस्योकारावयवयुक्तोद्गीथलक्ष-कत्वं युक्तमिति दृष्टव्यम् । स्वयमेव श्रुतिरोकारस्योद्गीथशब्द्पतिपाद्यत्ये हेतुमाह—

ओमिति ह्युद्गायति।

लोक ओमिति ह्यारभ्यैवोद्गायति । अत् उद्गीथावयवत्वादुद्गीथशब्द-प्रतिपाद्यत्वं युक्तमित्यर्थः ।

तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥ १०००

तस्याक्षरस्यैवमुपासनमेवं विभूतिरेवं फलमित्यादिकथनमुर्पव्याख्यानं कियत इति शेषः ॥ १॥

#### एषां भूतानां पृथिवी रसः।

एषां स्थावरजङ्गमात्मकभूतानां पृथिवी रसः परायणं भूतानां पृथिवयाधारकत्वादिति भावः।

पृथिव्या आपो रसः।

तस्या जलप्रकृतिकत्वादिति भावः।

अपामोषधयो रसः।

तत्परिणामत्वादिति भावः।

ओषधीनां पुरुषो रसः।

अन्नपरिणामत्वाच्छरीरस्येति भावः।

पुरुषस्य वाग्रसः।

वाचोऽत्युपकारकत्वादिति भावः।

वाच ऋग्रसः।

ऋचां गम्भीरार्थकत्वादिति भावः।

ऋचः साम रसः।

गीतिसारत्वात्साम्नामिति भावः।

साम्र उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

श्राब्यत्वात्सार इत्यर्थ: । अत्रोद्गीथशब्देनोद्गीथावयव ओंकार उच्यते॥ २॥

स एष रसाना रसतमः परमः।

स एप ओंकारो भूतादीनामुत्तरोत्तरसानामतिशयितो रसः।

पराध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

परार्ध्यः परस्य ब्रह्मणोऽर्धमर्धशब्दः स्थानवाची स्थानमहिति स परार्ध्यः । छन्दासि चेति यत् । ब्रह्मवदोंकारस्याप्युपास्यत्वादिति भावः । अष्टमोऽयमुद्गीथः । पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रस इति परिगणना-यामष्टम इत्यर्थः । यदुद्गीथो य उद्गीथ इत्यर्थः ॥ ३ ॥ वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रस इत्यृक्सामोद्गीथानां प्रस्तुतत्वात्तानि विमृशति कतमा कतमाित—

कतमा कतमक्।

कतमा कतमेति वीप्साऽऽदरार्था का ऋगित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

प्राचीनैविमर्शः कृतो मवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

विमर्शनिष्पन्नमर्थमाह—

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः।

ऋचो वागिन्द्रियोचारणसाध्यत्वाद्वागेवर्क् । सामगानस्य प्राणनरूप-श्वासधारणसाध्यत्वात्प्राण एव साम । उद्गीथभक्त्यवयवत्वादोमित्यक्ष-रमेवोद्गीथ इत्यर्थः ।

तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्च ।

स्त्रीलिङ्गशब्दवाच्यतया वाचः स्त्रीत्वं, प्राणस्य पुंलिङ्गशब्दवाच्यतया पुंस्त्वमिति भावः ।

ऋक्च साम च ॥ ५ ॥

अत्रापि तदेतन्मिथुनमित्यनुषज्यते । उक्तरीत्या वाक्प्राणयोर्मिथुन-त्वेन तद्भिन्नत्वेनक्सामयोरपि मिथुनत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ५॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सक्ष्मुज्यते ।

ऋक्सामात्मकं तदेतिन्मथुनमोमित्यस्मिन्नक्षर उद्गीथावयवभूते संस्-ज्यते । उद्गीथस्यगां ऋढसामभक्तिऋपत्वेनक्सामिक्षपतयोद्गीथावयवप्रण-वस्यक्सामाभ्यां संसृष्टत्वात्तदात्मकमिथुनेन संसृष्टत्वमित्यर्थः । वाक्पा-णात्मकमिथुनाध्यासविशिष्टक्सामसंसृष्टतयोद्गीथावयवप्रणवोपासनं कर्त-ज्यमित्यर्थः ।

> यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

यदा दंपती मिथुनीभूती ग्राम्यधर्माय संसृज्येयातां तदाऽन्योन्यकाम-

प्रापकत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । मिथुनाविति पुंस्त्वद्विवचने छान्द्से ततश्रों-कारोऽपि स्वात्मसंसृष्टमिथुनेन कामप्रापक इति भावः ॥ ६ ॥

तदुपासकोऽप्युद्गाता स्वोपास्योंकारवद्यजमानकामप्रापक इत्याह— आपियता ह वै कामानां भवति य एत-देवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

कामाप्त्यादिविशिष्टोद्गीथावयवोपासनस्य यजमानगतकामाप्तिरेव फलमित्यर्थः ॥ ७ ॥

तद्दा एतदनुज्ञाक्षरम् ।

ओंकारोऽनुज्ञाक्षरमित्यर्थः । तदेवोपपादयति—

यदि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह।

लोके ह्यनुज्ञां प्रयच्छन्पुरुष ओमित्यनुजानाति । एषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा ।

लोके समृद्धो ह्योमित्यनुज्ञां प्रयच्छति । अतोऽनुज्ञारूपस्योंकारस्य समृद्धिमूलकत्वादनुज्ञारूप ओंकार एव समृद्धिरित्यर्थ:।

एवं समृद्धिगुणविशिष्टोंकारोपासनस्य फलमाह— समर्थियता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

यजमानस्य कामसमृद्धिं करोतीत्वर्थः ॥ ८ ॥ उपास्यमोंकारं प्ररोचनार्थं स्तौति— तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ।

तेन प्रकृतेनोपास्येनोंकारेण त्रयी विद्या त्रयीविहितं कर्म प्रव-र्तत इत्यर्थ: ।

तदेवोपपादयति—

ओमित्याश्रावयत्योमिति शश्सत्योमित्युद्गायति । ओंकारपूर्वकत्वादाश्रावणशंसनोद्गानामित्यर्थः । किमित्योंकारपूर्वकमेवाऽऽश्रावणादिकं क्रियत इत्यत्राऽऽह---एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

रसेन सारभूतेन महिम्ना माहात्म्येन युक्तस्योंकारलक्षणस्यापचित्यै पूजार्थमित्यर्थः ॥ ९ ॥

नन्वनेवंविद्धिरिप कर्मणोऽनुष्ठीयमानत्वद्र्शनाद्विद्याया वैयथ्यंमिः त्याशङ्कच सत्यं विद्वद्भिरविद्वद्भिरिप लोक ऑकारेण कर्मानुष्ठीयतेऽ-थापि विद्याविद्ये विलक्षणफले। विद्यया क्रियमाणं हि कर्म वीर्य-वत्तरं मवति, अतादृशं तु न तथेत्याह—

तेनोभी कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

विद्योपासनं श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिः । उपनिषच्छब्देनोपनिषज्जन्यं बह्मात्मकज्ञानमुच्यते । कर्मणो वीर्यवत्तरस्वं नाम प्रबलकर्मान्तराप्रति-बद्धफलकत्वम् ।

इति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १०॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १॥

रसतमत्वकामाप्तिसमृद्धिगुणकत्वादिभिक्कप्रकारैविशिष्टमभिहितमु-पासनं सर्वमेतद्क्षरविषयकमेवेत्यर्थः । ततश्चोपास्यभेदशङ्का न कार्येति भावः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयाधिकरणान्युपन्यस्यन्तेऽङ्कपादे । 'स एष रसानाः रसतमः परमः पराध्योऽष्टमो यदुङ्गीथः ' [ छा० १ । १ । ३ ] इत्येवंजातीयकानाम् 'इयमेव जुहूः स्वलींक आहवनीयः ' इत्यादिवाक्यवत्स्तावकत्वमेव न तु रसतमत्वादिलक्षणोपास्यगुणसमर्प-कत्वम् । ओमित्येतद्क्षरमुद्गीथमुपासीतेति नोपासनं विधीयते । उद्गी-थविधिसिद्धानुष्ठानौपयिकज्ञानसामान्यवाची ह्युपासनशब्दः । अतोऽ-नुवाद एव । ततश्च रसतमत्वादिवाक्ये समभिव्याहृतविष्यभावेन तदे-

कवाक्यतया स्तावकत्वाभावेनोद्गीथपदोपस्थापितकतुपकरणगतोद्गीथ-विध्येकवाक्यतयैव रसतमादिवाक्यानां स्तावकत्वम् । न च स्तावकवा-क्यानां स्तुत्यविधिसमभिव्याहारनियमोऽस्ति । एतद्वाह्मणान्येव पश्च ह्वींषि यद्वाह्मणानीतराणीत्यतिदिष्टार्थवादेषु व्यभिचारात् । अस्तु वोद्गीथमुपासीतेत्युपासनविधिस्तदेकवाक्यता च रसतमादिवाक्यानां तथाऽपि रसतमादिवाक्यानां नोपासनियपसमर्पकत्वेनैकवाक्यत्वम् । ओं भित्येतद्क्षरमित्यनेनैयोपास्यस्य लाभात् । अपि तूपास्योद्गीथस्ता-वकत्वेनैवोपास्योद्गीथमुपादाय स्तुतिमात्रस्योपलम्भादिति 'स्तुतिमा-त्रमुपादानादिति चेत् ' [ ब० सू० ३।४। २१ ] इति सूत्रखण्डेन पूर्वपक्षं कृत्वा 'नापूर्वत्वात् । 'इति सूत्रखण्डेन 'भावशब्दाच ' [ब॰ सू॰ ३।४। २२] इति सूत्रेण च सिद्धान्तः कृतः। अयमर्थः---उद्गीथे रसतमस्यादीनां मानान्तरापातस्वेनानुषाद्मुखेन स्तृत्यसंभवादियमेव जुहूरित्यादौ जुहूविधेः संनिहिततया तदेकवा-क्चत्वेन तत्स्तावकत्वसंभवेऽपि क्रतुप्रकरणगतोद्गीथविधेरसंनिहिततया तदेकवाक्यत्वाभावात् । एतद्वाह्मणान्येव पश्च हवींपीत्यादिवदेकवा-क्यताकल्पकवचनान्तराभावादोमित्येतद्क्षरप्रुद्धीथमुपासीतेति संनिहिते विशिष्टविधिप्रत्यययुक्ते क्रियाबाचिनि भावशब्दे विद्यमाने तदेक-वाक्यतामनाद्वत्य क्रतुपकरणगतोद्गीथविध्येकवाक्यताकरूपनस्यान्या-य्यत्वात् । नतु संनिहितोपासनविध्येकवाक्यत्वेऽष्युपास्योद्घीथस्तावक-त्वेनैव रसतमादिवाक्यानामेकवाक्यताऽस्तु न तूपास्यसमर्पकत्वेनेति चेत्र । उपासनविषयसमर्पकतया प्रवृत्तिविशेषकत्वे संभवति व्यर्थप्राय-स्तुतित्वकरुपनाया अयुक्तत्वात् । अतो रसतमत्वादिकमप्युपास्यभेव । ततश्च रसतमत्वादिविशिष्टतयैवोद्गीथोपासनं कर्तव्यं तत्फलार्थिभिरिति स्थितम् । तथा ' ओमित्येतद्क्षरमुद्गीथमुपासीत ' इत्यादो निर्वि-शेषसामान्येन व्यवहारासंभवाद्विशेषाकाङ्क्षायां तत्तच्छाखागताना-भेवोद्गीथव्यक्तीनां संनिहितत्वात्तन्मात्रविषयभेवोद्गीथश्रुतेरिति युक्तम्। ततश्च ताण्डिशाखागतरसतमत्वकामाप्तिहिरण्मयपुरुपाकाशादिदृष्टिवि-शिष्टोपासने ताण्डिशाखागतोङ्गीथव्यक्तेरेव क्रतुमध्यप्रयुक्ताया उपास्यत्वं न तु शाखान्तरगतोद्गीथव्यक्तेः । न च सर्वशाखागतोद्गीथानामैक्यं शङ्क्यम् । स्वरादिभेदेनोद्दीथव्यक्तीनां भिन्नत्वात्। न चोद्दीथश्रुते: संको-चलक्षणबाधपसङ्ग इति वाच्यम् । शुक्कं परमानयेत्याद्ौ परशब्दस्य व्यक्तिविशेषार्थकत्वेऽपि

जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं तु श्रुतिलक्षिते । क्लप्त्यादि यदि मुश्चामः का श्रुतिस्तत्र पीड्यते॥

इत्युक्तन्यायेन श्रुत्यर्थभृतायाः पटत्वजातेर्लक्ष्याया व्यक्तेश्चापरित्याः गेन पटश्रुत्यवाध इत्युक्तरीत्योङ्गीथश्रुतेरप्यवाधात्तत्तच्छाखागतोङ्गीथमा-व्यविषयत्वमेवेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते— 'अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्। ' [ ब० सू० ३।३।५५ ] तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृ-स्यर्थः । उद्गीथाद्यङ्गाववद्धा उपासनास्तत्तच्छाखागतोद्गीथव्यक्तिष्वेव न व्यवतिष्ठेरस्रिपि तु प्रतिशाखं संबध्येरन् । शुक्कं पटमानयेत्यादौ शुल्क-पद्समभिव्याहारान्यथानुपपत्या विशिष्टेकार्थप्रत्यायनायाविशेषप्रवृत्त-अतेः पीडनेऽपि प्रकृते ताहुश्चाधकाभावेनाविशेषप्रवृत्तोद्गीथश्चतेः संनि-धिमात्रेण संकोचासंभवाच्छा बान्तरगतः क्रतुमध्ये प्रयुज्यमान उद्गीथः शाखान्तरोक्तोपासनप्रकारेणाप्युपास्य इत्यर्थः । 'मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः।' [ ब॰सू॰३। ३। ५६] शाखान्तराम्नातानां मन्त्रादीनां शाखान्तराम्ना-तकतुसंबन्धवच्छाखान्तरगतोपासनानामपि शाखान्तरगतोद्गीथसंबन्धे विरोधाभावादिति स्थितम् । तथा गुणोपसंहारपादे 'ओमित्येतदक्षर-मुद्गीथमुरासीत । ' इत्यादिना विहितानामङ्गावबद्धोपासनानामध्य-भिचरितक्रतुसंबन्धिजुहूपस्थापितक्रतुफलनिराकाङ्क्षपर्णतादिवद्य्य-भिचरितकतुसंबन्ध्युद्गीयोपस्थापितकतुफले नैराकाङ्क्ष्यात् । 'तदेव धीर्यवत्तरं भवति ' [ छा० १। १। १० ] इति वीर्यवत्तरत्वादिश्रव-णानामर्थवाद्त्वाद्वीहिप्रोक्षणपर्णतादिवदङ्गत्वादुपासनानि क्रतौ निय-मेनोपादेयानीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते-'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टे: पृथ-ग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ' [ ब० सू० ३। ३। ४२ ] निर्धारणं निश्च-येन मनः संस्थापनं ध्यानमित्यर्थः । तस्योपासनस्यानियमो नियमेनान-नुष्ठानं 'तेनोभौ कुरुतो पश्चैतदेवं वेद पश्च न वेद ' [ छा० १। १। १०] इत्यनियमद्र्शनात् । तस्योपासनस्य प्रबलकर्माप्रतिबन्धरूपवी-र्यवत्तरत्वलक्षणफलान्तरवत्त्वेन कर्माङ्गत्वाभावादित्यर्थः। अयं भावः-पर्णतोदुम्बरतादिस्थले विधिविभक्त्यभवणाद्रथवादेनैव विधिशक्तिमुप-जनय्य पुनस्तेनैव फलसमर्पणे विरम्य व्यापाराद्वाक्यं भिद्येत । उपासनायां तु विस्पष्टविधिश्रवणान्न फलविधित्वेऽपि वाक्यमेद्-शङ्का। अतः पर्णतोदुम्बरतादिविध्यपेक्षयोपासनविधेर्वैपम्यात्फलविधित्वं संभवतीति स्थितम् । तथाऽङ्गपादे मुक्तिव्यतिरिक्तफलकोपासनाना-

मुद्रीथविद्यारहितयज्ञादिकमंनिष्पाद्यानामपि यज्ञादिरूपसाधननिष्पत्तौ सत्यां विलम्बे हेत्वभावादिह जन्मन्येव निष्पत्तिरिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'ऐहिकमप्रस्तुतपतिबन्धे तद्दर्शनात्।'[ ब० सू० ३। ४। ५१ ] मुक्तिव्यतिरिक्तफलकसुपासनमप्रस्तुतप्रतिबन्धे प्रतिबन्धाभाव ऐहिकमिहैंव जन्मनि भवमिहैव जन्मनि भवति । सति प्रतिबन्धे जन्मा-न्तरे। न च प्रतियन्धासंभवः शङ्कनीयः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिपदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति । '[ छा०१।१।१०] इत्युद्गीथविद्यायाः प्रबलकर्मान्तराप्रतिबद्धफलत्वावेदनेन प्रबलकर्मान्तर-प्रतिबन्धस्यानुज्ञातत्वात् । न च 'तमेवं वेदानुवचनेन बाह्मणा विविदि-षन्ति ' [ षृ० ४ । ४ । २२ ] इति यज्ञादेवैदनसाधनत्वश्रवणात्कारीर्य-भिचारादिवान्नियतैहिकत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम् । शुष्यच्छालि-संपत्तिवैरिविशेषविपत्तिफलकत्वेन विहितानां तेपां नियतैहिकत्वेऽपि विद्यासाधनयज्ञादिकर्मणां तज्जन्मनि विद्योहेशेनाविहिततया पश्चा-दिफलकचित्रेष्टचादिवन्नियतैहिकत्वाभावात, पूर्वतन्त्रे चतुर्थाध्याये योगसिध्द्यधिकरणे तथा निणीतत्वादिति स्थितम् । तथा तदुत्तरा-धिकरणे यक्षानु रूपो बलिरिति न्यायेन बलवत्कर्मसाध्यानां मुक्तिफल-कब्रह्मोपासनानां प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धासंभवान्नियतैहिकत्वमेवेति पूर्व-पक्षे प्राप्त उच्यते—'एवं मुक्तिफलानियमस्तद्वस्थावधृतेस्तद्वस्थावधृतेः'। [ब॰ सू॰ ३। ४।५२] मुक्तिफलकविद्यानामप्यैहिकत्वनियमो नास्ति। अप्रस्तुतप्रतिबन्धत्वरूपावस्थाया विशेषेण तत्राप्यवधृतत्वात्तत्रापि प्रब-लानां बह्मविद्पचाराद्वित्रतिबन्धकानां संभवात् । द्विरुक्तिरध्यायसमा-प्तयर्था । प्रकृतमनुसरामः ॥ १० ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य प्रथम: खण्ड: ॥ १ ॥

उद्गीथावयव ओंकारे मुख्यप्राणदृष्टिं विधातुमाख्यायिकां प्रस्तौति— देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्याः।

द्विविधाः प्रजापतिसुता देवासुरा यस्मिन्काले परस्परं युद्धं कृत-वन्त इत्यर्थः । प्राजापत्या इत्यपत्यार्थे दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदा-ण्ण्य इति ण्यः।

तद्ध देवा उद्गीथमाजहरुरनेनैनानिभभविष्याम इति ॥ १ ॥
तदा देवा अनेनोद्गीथावयवेनोंकारेणोपासितेनासुराञ्जेष्याम इत्यभिसंधायोदगीथं प्राणमुपायत्वेन स्वीकृतवन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचिकिरे।

ते देवा घाणेन्द्रियत्वेनोद्गीथमुपासितवन्त इत्यर्थः । नासिकायां मवं नासिक्यं शरीरावयवाचेति यत् ।

त हासुराः पाप्मना विविधः।

तं नासिक्यं प्राणमसुराः स्वकीयेन पाप्मना संयोजितवन्तः पापहेतुभूतवृत्त्या संयोजितवन्त इति यावत् ।

तस्मानेनोभयं जिद्यति सुरिभ च दुर्गन्धि च पाप्मना होष विद्यः॥२॥

तस्मात्पापसंसर्गाद्धेतोः पुरुषो घाणेन सुरिम च दुर्गन्धि चोमपं जिञ्जति । तस्मान्नासिक्यः प्राणः पापविद्ध एवेत्यर्थः ॥ २॥

> अथ ह वाचमद्गीथमुपासांचिकिरे ता हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदित सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३॥

गूर्ववत् ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचिकिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना होतदिद्धम् ॥ ४ ॥ अदर्शनीयममेध्यादिकमित्यर्थः ॥ ४ ॥

> अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचिकरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयः शृणोति श्रव-णीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना होतद्विद्धम्॥ ५॥

अश्रवणीयं पापवचनमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचिकिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्माचेनोभयः संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना होतदिद्धम् ॥ ६॥

असंकल्पमीयं पापमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचिकिरे।

उद्गीथावयवमाँकारं मुख्यप्राणत्वेनापासितवन्त इत्यर्थः।

तश हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः।

तं मुख्यप्राणं पाप्मना वेद्धं प्रवृत्ता असुरास्तं प्राप्य स्वयमेव विद्-ध्वं मुर्विध्यस्ता अभवन्नित्यर्थः । तत्र हष्टान्तमाह—

यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वश्सेतैवम् ॥ ७ ॥

आखन्यत इत्याखणं मृत्विष्डः । यथा मृत्विण्डोऽइमानं प्राप्य विष्वस्तो भवति एवमिति व्यासार्येव्याख्यातम् । आखणमिति च्छान्द्सं णत्वं नपुंसकत्वं च ॥ ७ ॥

एतद्विद्यायाः फलमाह—

' यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वःसत एवः स विध्वः सते य एवंविदि पापं कामयते यश्चेनमिदासति।

एवं विदि एतद्विद्यानिष्ठे यः पापं कर्तुं कामयते । यश्चैनमभिदासिति हिनस्ति सोऽश्मपाप्तलोष्टवद्ध्वस्तो भवतीत्यर्थः । दाष्ट्रवन इत्यतो दोऽवखण्डन इत्यतो वा लेटि सिन्बहुलं लेटीति सिपि दासतीति रूपम् ।

स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

स एप एतद्विद्यानिष्ठे पापकामोऽश्मप्राप्ताखण इत्यर्थः। एतेन खनो च चेति घप्रत्ययस्य करणाधिकरणयोरित्यनुवृत्त्या कर्मण्यभावात्करणार्थ

एव चप्रत्ययो वक्तव्यः । अत आखणशब्दस्याशमिवशेषणत्वमेव वक्तव्यम् । खननसाधनतया हृदमश्मानं प्राप्य यथा लोष्टादिकं ध्वंसत

हृति हि तस्यार्थः । अत एव स एपोऽश्माखण इति वाक्यशेषेऽश्मविशेपणत्वमेवाऽऽखणस्य श्रूयत इति शङ्काऽपास्ता । वाजसनेयके समानपकरणे 'यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्व सेते' [बृ० १।३।७] इति श्रवणेन तत्समानार्थत्वस्य वक्तव्यतयाऽऽखणशब्द्स्य लोष्टवाचित्वस्यवोचितत्वात् । बहुलग्रहणेन कर्मण्यपि चप्रत्ययस्योपपत्तेः । इतस्था कर्तृवाचिपदाध्याहारप्रसङ्गात्स एपोऽश्माखण इत्यत्राश्माखणशब्द्स्य समस्तस्याश्मप्राप्ताखणवाचित्वेनाश्मशब्द्सामानाधिकरण्येनाऽऽखणशब्द्स्याश्मविशेषणत्वाभावात्पूर्ववाक्ये नपुंसकलिङ्गिनिर्दृष्टस्यापि स एप इति
पुंलिङ्गसामानाधिकरण्येनाऽऽखणशब्द्स्य पुंलिङ्गत्वोपपत्तेश्चेति दृष्टव्यम् ॥ ८॥

इतरप्राणाद्यपेक्षया तस्य वेषम्यमाह—

नैवैतेन सुरिभ न दुर्गन्धि च विजानाति ।

एतेन मुख्यप्राणेनेत्यर्थः । पुरुष इति शेषः । तत्र हेतुमाह-

स्पष्टोऽर्थः ।

तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति।

तेनैव हेतुना तस्यापहतपाष्प्रत्वादेय प्रागान्तरवदात्मं मरित्वामादाः रस्वाशितपीतादिनेतरान्प्राणान्रक्षतीत्यर्थः ।

एतमु एवान्ततोऽविच्वोत्कामति ।

यत एव बाणादिपाणसमुदायो मुख्यप्राणाशितपीतलब्धसत्ताकोऽत एवान्ततो मरणकाले मुख्यप्राणाशितादेरभावेनैतमावित्त्वाऽलब्ध्वोत्काम-तीत्यर्थ: । विद्ल लाभ इति हि धातुः ।

व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

अन्ततो मरणकाले सर्वपाणानामुत्कमणादेवाऽऽस्यव्यादानं करोती-त्यर्थः॥ ९॥ तः हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचके।

तमध्यस्तप्राणभावमुद्गीथावयवमोंकारमङ्गिरा ऋषिरुपासांचक इत्यर्थ: । केचित्त्वङ्गिरसोपास्यमेव मुख्यप्राणमाङ्गिरसं वदन्तीत्याह-

एतमु एवाऽऽङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः॥ १०॥

अङ्गानां प्राणाधीनस्थितित्वेन प्राणस्याऽऽङ्गिरसत्वमिति भावः। अङ्गरसमङ्गिरसं वदन्ति परोक्षप्रियत्वाद्देवानामिति भावः॥ १०॥

तेन तथ ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचके।

तेनाऽऽङ्गिरसत्वेन गुणेन बृहस्पतिरुपासितवानित्यर्थः ।

एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥ ११॥

वागिन्द्रियस्य सर्वार्थप्रकाशकत्वादिना बृहत्त्वम् । तस्य च मुख्यप्रा-णाधीनत्वात्प्राणस्य वाक्पतित्वम् । अत उपास्यस्यैव बृहस्पतित्वं मन्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

तेन तथ हायास्य उद्गीथमुपासांचके ।
तेन वृहस्पतित्वेनायास्य ऋषिरूपासितवानिति ।
एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यायदयते ॥ १२ ॥
आस्यानमुखाद्यते निर्गच्छतीत्यर्थः ॥ २ ॥
तेन तथ ह वको दालभ्यो विदांचकार ।

तेन पूर्वोक्ताङ्गिरसत्वबृहस्पतित्वायास्यत्वादिगुणविशिष्टतया दल्भ-स्रुतो बकनामोपासितवानित्यर्थः।

स ह नैमिषीयाणामुद्राता वभूव।
स्पष्टोऽर्थः।

स ह समिभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

स दाल्भ्यो बक एभ्यो नैमिपीयेभ्यो यजमानेभ्यः शञ्चपराभवादीन्का-मान्गानेन विद्यामाहात्म्यात्संपादितवानित्यर्थः। आगायति सम 'लट्समे' इति लड्भूतेऽपि ॥ १३॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।

एवमुपासको यजमानकामानां गानेन संपादियता भवतीत्वर्थः। इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयः

खण्डः ॥ २ ॥

अध्यात्ममुद्गीथोपासनं समाप्तमित्यर्थः । आत्मशब्देनेन्द्रियमनःप्राणा-दिसंघात उच्यते । अध्यात्ममात्मनीत्यर्थः । आत्मविषयमिति यावत् । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यतेऽङ्गपादे । ऋत्विक्परि-क्रयस्याङ्गानुष्ठानमात्रार्थत्वादङ्गावबद्धोपासनानां च 'तन्निर्धारणानियमः स्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्' [ ब० सू० ६।३।४२ ] इतिसूत्रोक्त-न्यायेनानङ्गत्वाच्छास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायेन यजमानगामिफलसाध-नभूतोपासनस्य यजमानेनैव कर्तव्यत्वात् । 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् ' इतिश्रुतपश्चर्थगोदोहनादेरनङ्गत्वेऽप्यृत्विक्कर्तृकप्रणयननिर्वाह-कस्य गोदोहनस्य यजमानेनोपादातुमशक्यतयत्विक्कर्तृकत्वेऽप्युद्गातृकर्तृक उद्गीथे यजमानस्योपासनसंभवादुपासनं यजमानकर्तृकमेव । औद्गात्रस-माख्यानं तु शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायविरोधादुपेक्षणीयम् । अतः फलस्य स्वामिगतत्वात्फलस्वामियजमानकर्तृकमेवोपासनमित्यात्रेयमत-मिति 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्याञ्चेयः ' [ ब० सू० ३।४।४४ ] इति सूत्रेण पूर्वपक्षं कृत्वा, उपासनान्यप्यृत्विक्कर्माण्येव स्युः । प्रयोगाङ्गस्य-र्तिवजः प्रयोगान्तःपात्युद्गीथाद्युपासनेऽपि तत्कर्तृकत्वसंभवात् ' त ह बको दालभ्यो विदांचकार। स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह समैभ्यः कामानागायति ' [ंछा० १। २। १३] इत्युद्गातृदालभ्यागतविद्याया यजमानकामसंपादकत्वद्र्शनिलिङ्गाचरिवकर्तृकमेवोपासनम् । न चरिवक-र्नृकोपासनस्य फलमृत्विग्गतमेव स्यादिति शक्यशङ्कम् । ऋत्विजां परार्थ-तया तेषां वचनमन्तरेण फलसंबन्धानुपपत्तेः। 'यां वे कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानायैवैतामाशिषमाशासते ' [शत०१।३।१।२६]

इति श्रुतेश्च। 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता बूयात्कं ते काममागायानि' [छा०१। ७।८] इत्यृत्विग्गतविज्ञानस्य यजमानगामिफलकत्वावेदनलिङ्गाञ्च न शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायावतारः । ततश्च परिक्रयविधिवलादु-त्मृष्टस्यर्त्विक्कर्तृकत्वस्य यजमानसमाख्याद्यपपादकाभावालिङ्गानुग्रहादौ-द्गात्रसमाख्यानाचाऽऽरिवज्यमेवोपासनमिति ' आरिवज्यमित्यौ हुलौमि-स्तस्मै हि परिक्रीयते' [ ब० सू० ३ । ४ । ४५ ] इति सूत्रेण सिद्धा-न्तितम् । सूत्रस्य चायमर्थः — उपासनमार्त्विज्यमृत्विक्कर्म तस्मै क्रतुप्रयो-जनाय द्यात्विक्परिक्रीयते । अतोऽनङ्गभूतमप्युपासनं क्रतुप्रयोगान्तः-पातित्वाद्दात्विजैवानुष्ठेयमिति स्थितम् ॥ १ ॥ तथा गुणोपसंहारपादे च चिन्तितम् । तत्र हि वाजिनां ताबह्वया ह वै प्राजापत्या देवाश्चासु-राश्चेत्यारभ्य 'ते ह देवा ऊचुईन्तासुरान्यज्ञ उद्गीर्थनात्ययामेति ' 🛛 👨 🛚 १।३।१] । उद्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनः-पर्यन्तदृष्टावसुरेरभिभवसुक्त्वा ' अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः ' [ वृ० १। ३। ७ ] इत्यादिनोद्गीर्थे प्राणहट्याऽसुरपरिभवसुक्त्वा भवत्यात्मना पराऽस्य द्विपनभातृत्यों भवति य एवं वेद् ' वि०१। ३। ७ इति शञ्च-पराजयफलायोद्गिथे प्राणदृष्टिविहिता । एवं छन्दोगानामपि 'देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे' इत्यारभ्य ' तद्ध देवा उद्गीथमाजहरुरनेनैनानभिभ-विष्याम इति ' | छा० १ । २ । १ ] इत्युद्धीर्थनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तद्वदेवोद्गीथे वागादिहृष्टी दोषमभिधाय 'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचकिरे ' [ छा० १ । २ । ७ ] इत्यादिनोद्गीथे प्राणदृष्टचाऽसुरपराभवसुक्त्वा ' यथाऽह्मानमाखणमृत्वा विध्व स्सत एव १ हैव स विध्व १ सते य एवं विदि पापं कामयते ' [छा०१। २। ८] इति शत्रुपराभवायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । तत्रोभयत्राध्यस्तप्राणभा-वस्योद्गीथस्यैवोपास्यत्वश्रवणेन रूपाभेदाच्छत्रुपराभवरूपफलसंयोगावि-शेपादुद्गीथविद्येति समाख्यैक्याच तयोरैक्यमिति पूर्वः पक्षः । तत्र राद्धान्तच्छायया परिचोद्य परिहरति—' अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्ना-विशेषात् ' [ ब० सू० ३। ३। ६ ] वाजसनेयके—' अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एप प्राण उद्गायत् ' [ बृ० १।३।७] इत्युद्गानकर्तरि प्राणहृष्टिविधानात् । छान्दोग्ये—' अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे '[१।२।७] इत्युद्गानकर्मणि प्राणहष्टिविधानाच्छव्दादुपास्यक्तपान्यथात्वप्रतीतेभेद इति चेन्न । देवासुरसङ्गामोपक्रमादिबहुसारूप्याद्वाजसनेयकेऽपि 'हन्ता-सुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ' [ बृ० १ । ३ । १ ] इत्युद्गीथेनो-पक्रमात्तद्विरोधाय 'तेभ्य एष प्राण उद्गायत् ' [ बु० ३।७] इत्युद्गानकर्मरूप एवोद्गीथे पाकादिषु सौकर्यातिशयविवक्षया पच्यत ओद्नः स्वयमेवेत्योद्ने कर्तृत्वोपचारवदुद्गानकर्भण्येव कर्तृत्वोपः चारोपपत्तेरुद्गीथ एवोभयत्राप्युपास्यः । अतो विद्यैक्यमिति प्राप्ते प्रच-क्ष्महे 'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् '[ब० सू० ३।३।७] न वेति पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । प्रकरणभेदात् । छान्दोग्ये 'ओमित्येतद्क्षरमु-द्गीथमुपासीत' इति प्रकृतोद्गीथावयवप्रणवविषयक्रमुपासनम् । वाजसने-यके प्रणवस्याप्रकृतत्वादुद्गीथेनात्ययामेति कृत्स्रोद्गीथस्यैव प्रस्तुतत्वात्कृ-त्स्रोद्गीथविषयकमेवोपासनम्।अतो रूपभेदाद्विद्याभेदः। किं च च्छान्द्रोग्य उद्गीथस्याध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्वं वाजिनां तु अथ हेममासन्यं प्राणमुचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एप प्राण उद्गायत्' [बृ०१।३। ७]इत्यध्यस्तप्राणभावस्योद्गातुरुपास्यत्वम् । न च वाजसेनयक उङ्गातुरुपा-स्यत्व उद्गीथेनात्ययामेत्युपक्रमविरोधः शङ्कनीयः। उद्गातुरुपासन उ-द्गीथस्यानुप्रविष्टतयोपक्रमावगतस्योद्गीथस्यापारित्यागात् । अत्र च वक्त-व्यं बृहद्रारण्यकप्रकाशिकायामुक्तं तत्रैवानुसंधेयम् । ' संज्ञातश्चेत्तदुक्तम-स्ति तु तद्पि' [ ब०स्०३।३।८ ] ननूष्गीथविद्येति संज्ञैक्याद्विद्यैक्यमुक्त-मिति चेन्न । तत्संज्ञैक्यं विधेयभेदेऽप्यस्त्येव । यथाऽग्निहोत्रसंज्ञा नित्याः ग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च । छान्दोग्यगतप्रथमप्रपाठकोदि-तासु बह्वीषु विद्यासूद्गीथविद्येति संज्ञैक्यद्र्शनाच तद्प्रयोजकमिति भावः । 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' [ ब० सू०३।३।९ ] छान्दाग्ये प्रथमप्रपा-ठक उत्तरास्वपि विद्यास्वोमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्यादिषूद्गीथा-वयवस्य प्रणवस्य व्याप्तत्वेन तन्मध्यपातित्वाद्स्या अपि विद्याया उद्गी-थावयवप्रणवविषयत्वमेव।ततश्च च्छान्द्रोग्यवाजसनेयकयोर्बह्वर्थवाद्सा-रूप्येऽपि च्छान्दोग्यगतविद्याया अध्यस्तप्राणभावोद्गीथ(वयवप्रणववि-षयत्वाद्वाजसनेयकोद्गीथविद्यायाश्चाध्यस्तप्राणभावोद्गानकर्तृविषय-त्वात्प्रधानभूतोपास्यभेदे बह्वर्थवादसारूप्यस्याप्रयोजकत्वाद्विद्याभेद इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ १४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयः

खण्डः ॥ २॥

#### अथाधिदैवतम् ।

उद्गीथस्योपासनमुच्यत इति शेषः । अधिदेवतं देवतायामित्यर्थः । देवताविषयमिति यावत् ।

#### य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत ।

आदित्यहृष्टचोद्गीथमुपासीतेत्यर्थः। कर्माङ्गभूतोद्गीथापेक्षया कर्मारा-ध्यस्याऽऽदित्यस्योत्कृष्टत्वाद्पकृष्ट उत्कृष्टहृष्टेच न्याय्यत्वादादित्यहृष्टचो-द्गीथस्योपास्यत्वं दृष्ट्यम्। अयमर्थः 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः' [ ब० स० ४।१।६ ] इत्यधिकरणसिद्धः। तच्चाधिकरणं बृह-दारण्यकप्रकाशिकायामुपन्यस्तं तत्रैवानुसंधेयम्। उद्गीथेऽध्यस्यमान-स्याऽऽदित्यस्योद्गीथसाम्यमाह—

> उद्यन्वा एष अजाभ्य उद्गायति । उद्यश्क्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयक्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

वैशन्दोऽवधारणे एप आदित्य उद्गच्छन्नेव प्रजानामर्थप्रकाशनं कुर्वन्नद्गायतीव भवति । उद्गीथोऽपि प्रजानामुद्गायतीव भवतित्यर्थः । उद्यन्नेवाऽऽदित्यस्तमोजनितं प्राणिनां भयमपहन्ति । तमोभयापहन्तृ-त्वगुणविशिष्टतयोद्गीथ आदित्योपासनस्य फलमाह—अपहन्तेत्यादि । अन्धकारादिपयुक्तभयापहन्ता भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

#### समान उ एवायं चासी च।

अध्यात्मप्रकरण उक्तोऽयं प्राणश्चाधिदैवतप्रकरण उच्यमानोऽसावा-दित्यश्च समान एवेत्यर्थः । तदेव दर्शयति—

#### उष्णोऽयमुष्णोऽसौ ।

अयं प्राण उष्ण उच्छासस्योष्णतयोपलभ्यमानत्वात् । उष्णोऽसौं सवितुश्चोष्णत्वं स्पष्टमेवेति भावः।

#### स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम्।

इमं प्राणं स्वर इत्याचक्षते । स्वरो गन्तेत्यर्थः । स्वृ शब्दोपतापयोरि-त्यसमाद्धातूनामनेकार्थत्वात्कर्तर्यचि रूपम् । अमुमादित्यं स्वर इति

प्रत्यास्वर इति चाऽऽचक्षते । उद्यास्तमययोर्गमनप्रत्यागमनवत्त्वात् । प्राणस्य वायुरूपतया सदागतित्वेन प्रत्यागमनाभावान्न प्रत्यास्वरसं-ज्ञोति भावः । अतः स्वरसंज्ञावत्त्वादौष्ण्याच प्राणादित्यौ परस्परसमा-नावित्यर्थः ।

तस्माद्या एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

तस्मादुभयोरपि समत्वादिमं प्राणं वाऽमुमादित्यं वैतमेताहशगुण-कमुद्गीथमुपासीत । उद्गीथेऽध्यस्तमुपासीतेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनमाह—
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत।

उन्नीथं व्यानत्वेनोपासीतेत्यर्थः । को व्यान इत्यत्राऽऽह— यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपा-नेऽथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः ।

पुरुषो मुखनासिकेन यत्प्राणिति यं वायुं बहिर्निःसारयति स प्राणा-ख्यो वायोर्वृत्तिविशेषः।मुखनासिकेन यं वायुमन्तराकर्षति सोऽपानाख्य-वृत्तिविशेषः । तयोरन्तर्वृत्तिविशेषरूपः संधिट्यान इत्यथं:। उद्गीथे व्यानाध्यासहेतुमाह—

यो व्यानः सा वाक्।

वाचो व्याननिर्वर्त्यत्वाद्वाग्व्यान एवेत्यर्थः । वाचो व्याननिर्वर्त्यत्व युक्तिमाह—

तस्मादपाणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

तस्माद्वाचो व्याननिर्वर्यत्वादेव हेतोः श्वासमोक्षाकर्षणलक्षणप्राणा-पानौ विनेव तत्संधिरूपया व्यानवृत्त्या वाचममिव्याहरतीत्यर्थः॥ ३॥

> या वाक्सक्र्तस्माद्याणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यक्र्तत्साम तस्मादपाणन्ननपानन्साम गायति यत्साम् स उद्गीथस्तस्मादपाणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४॥

अपाणताऽनपानता पुंसा क्रियमाणत्वादेव व्यानस्य वागृक्सामोदृश्यानां चैक्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाऽमेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानःस्तानि करोत्ये-तस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५॥

लोकेऽग्रिमथनमर्यादाधावनदृढधनुरारापणादिवीर्यवत्तराणि कर्माणि व्यानसाध्यान्येव । अतो हेतोरुद्धीथाख्यवीर्यवत्कर्मणोऽपि व्यानसा-ध्यत्वाद्यानमेवोद्गीथमुपासीतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ सलूर्द्गिथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति।

त्रीण्युद्गीथनामानुप्रविष्टान्यक्षराण्येवोपासीतेत्यर्थः । प्राण एवोत्पाणेन सुत्तिष्ठति ।

उदित्यक्षरे प्राणबुद्धिः कार्येत्यर्थः । तत्र हेतुः प्राणेन ह्युत्तिष्ठति । वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते।

गीरित्यक्षरे वाग्बुद्धिः कार्या । वाचे गीःशब्दवाच्यत्वाद्वीरित्यस्यं वागध्यासाधिष्ठानत्वमुपपद्यत इति भावः। अन्नं थम्।

थमित्यक्षरेऽन्नबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाह-अन्ने हीदः सर्वः स्थितम् ॥ ६ ॥

अन्नस्य सर्वस्थानत्वेन थकारवत्त्वसाम्यात्थशब्देऽन्नबुद्धिपुज्यत इति मावः ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनमाह— यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमा-दित्य एवोद्वायुर्गीरिशस्थ सामवेद एवोयजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम् ।

उद्क्षरे द्युलोकादित्यसामवेददृष्टिगीरक्षरेऽन्तारिक्षवायुयजुर्वेददृष्टिस्थ-मक्षरे पृथिन्यग्न्यृग्वेददृष्टिश्चकार्यत्यर्थः । उक्तस्य चतुर्विधस्योद्गीथनामा-क्षरोपासनस्य फलमाह-

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्।

वागस्मा उपासकाय सकामाय दोहं दोग्धि। कं दोहमित्यत्राऽऽह— यो वाचो दोहः।

वाक्साध्यं फलमित्यर्थः । फलान्तरमप्याह— अन्नवानन्नादो भवति ।

प्रभूतान्नो दीप्ताग्निश्च भवतीत्यर्थः। य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति॥ ७॥ स्पष्टोऽर्थः॥ ७॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत ।

आशीःसमृद्धिहेतुभूतान्युपासनानीति मत्वोपासनं कुर्यादित्यर्थः । केपामुपासनं कार्यमित्यब्राऽऽह—

येन साम्रा स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

उपधावेचिन्तयेदुपासीतेत्यर्थः ॥ ८ ॥

यस्यामृचि तामृचम्।

यस्यामृचि साम्ना स्तोष्यनस्यात्तामृचं चिन्तयेषिःवर्थः । यदार्षेयं तमृषिम् ।

ऋषिसंबन्ध्यार्षेयसृपिद्दष्टमित्यर्थः । यस्याऽऽर्षेयं यदार्षेयं शिवभा-गवतवत्समासः । साम यद्टिषकं तसृषिं चिन्तयेदित्यर्थः ।

यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यनस्यात्तच्छन्द उपधावेत्।

छन्दो गायज्यादिकमित्यर्थः ।

येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तः स्तोममुपधावेत्॥१०॥

स्तोमस्त्रिवृत्पञ्चद्शादिलक्षण ऋक्संख्याविशेषः ॥ १० ॥ यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

यद्दिगिममुखतया स्तोष्यन्स्यात्तां दिशं च ध्यायेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तः।

उक्तं सर्वं ध्यात्वाऽन्ततोऽन्त आत्मानमप्युपसृत्य ब्रह्मात्मकं ध्यात्वा काममात्मन इष्टं ध्यायन्नप्रमत्तोऽवहितः स्वरवर्णाद्यभ्रेपानुकूलमनोव-धानयुक्तः सन्बहिष्पवमानादिस्तोत्रमारभेतेत्यर्थः ।

> अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥१२॥ इति च्छान्दोग्योषनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३॥

यत्कामनया स्तोत्रं करोति स कामो यस्मात्कारणाद्भ्याशः क्षिपं सप्य-ध्येत समृद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः । अभ्याङ्गपूर्वादश्चोतेरसुन्यभ्याश इति रूपं क्षिप्रफलसिद्धिरुपसरणफलमित्यर्थः । द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था॥ १२॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति सुद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥१॥

पूर्ववद्रथः । अत्रोक्तस्यैवोद्गिथोपासनस्य पुनः परामर्शो मध्य उद्गी-थनामाक्षराद्युपासनयाऽन्तरितत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥ देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् ।

देवा मरणभीता वैदिकं कर्म प्रारब्धवन्त इत्यर्थः । ते छन्दोभिरच्छादयन् ।

छन्दोभिः कर्मविनियुक्तैर्वेदिकैर्मन्त्रेर्मृत्युभीताः सन्त आत्मानं छादि-तवन्त इत्यर्थः । वैदिकमन्त्रकञ्चुकच्छन्ना इति यावत् । यदेभिरच्छादयश्रस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

छाद्कत्वादेव वैदिकमन्त्राणां छन्द्स्त्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

तानु तत्र मृत्यूर्यथा मत्स्यमुदके परि-पश्येदेवं पर्यपश्यद्दचि साम्रि यजुषि ।

उशब्दो निरर्थकः । तान्देवान्कर्मपरान्यथा मत्स्यग्राह्यदके मत्स्यं परि-पर्यत्येवं मृत्युस्त्रयीविहितं कर्मानुप्रविष्टान्कर्मभ्रंशसमयं प्रतीक्ष्य ग्रही-तुमैच्छत्।

ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्रो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

ते देवा मृत्योश्चिकीपितं ज्ञात्वा त्रयीविहितयज्ञादिकर्मभ्य उद्गताः कर्मनिर्भलीकृतान्तःकरणाः सन्तः स्वरशब्दितमीकारमुपासितुं प्रवृत्ता इत्पर्थः । नुशब्दः खत्वर्थः ॥ ३ ॥

कथं पुनः स्वरशब्द्वाच्यत्वमोंकारस्येत्यज्ञाऽऽह-यदा वा ऋचमामोत्योामित्येवातिस्वरत्येव सामैवं यजुः। यदा वर्गादिकमारमते तदोमिति शब्दं करोतीत्यर्थः। एष उ स्वरः।

तस्मादेष ओंकारः स्वर इत्यर्थः।

यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

मरणभयादिनिवर्तकमोंकारं प्रविश्य देवा अमृताश्चाभयाश्चाभ-वन् ॥ ४॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणीत्येतदेवाक्षरः स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थः

खण्डः ॥ ४ ॥

एवं विद्वानेतद्क्षरं प्रणौति स्तौति । णु स्तुताविति हि धातुः ।

उपास्त इति पावत् । ताहशामृतत्वादिगुणकं प्रणवं प्रविश्य देवा पाह-शामृतत्वयुक्तास्ताष्ट्रशो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपदि प्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

प्रणवोद्गीथयोरेकस्वविज्ञानमनेकपुत्रफलकमुपद्दिश्यते—

अथ खलु य उद्मीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति।

उद्गात्रा प्रयुज्यमानी य उद्गीथ उद्गीथावयवींकारः स एव होत्रा प्रयुज्यमानः प्रणवः । यश्च होत्रा प्रयुज्यमानः प्रणवः स एवोद्गात्रा प्रयुज्यमान उद्गीथावयवोंकार हतीतरेतरैक्याध्यासः कर्तव्य इत्यर्थः । एवं तयोरैक्यं कृत्वा तत्राऽऽदित्यदृष्टिमुपदिशति—

असो वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः।

कथमादित्यस्य प्रणवत्वमित्यत्राऽऽह-

ओमिति होष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

एप आदित्य ओमिति स्वरन्कर्तव्यकर्मणामोमित्यनुज्ञां कुर्वन्नियो-देति। स्वृ शब्दोपतापयोरिति हि धातुः । अतः सविता प्रणयोऽत एवो-द्रीथश्चेति भावः ॥ १॥

> एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमे-कोऽसीति ह कौषीतिकः पुत्रमुवाच ।

एतमादित्यमेवोद्गीथं गीतवानस्मि न तु बहुरिमगुणविशिष्टतयोषा-सितवानस्मि । तेन दोषेण मम त्वमेक एव पुत्रोऽभूरिति कौषीताकिः स्वपुत्रमुवाचेत्यर्थः ।

रश्मी श्रस्त्वं पर्यावर्तयाद्वहवो वै ते भविष्यन्ति ।

तस्मात्त्वं बहुरिमविशिष्टादित्यविज्ञानावृत्तिं कुरु तव रिमबहुत्व-ज्ञानमहिम्ना बहवः पुत्रा भविष्यन्तीत्यप्युवाचेति पूर्वेण संबन्धः । पर्यावर्तयादिति पुरुषध्यत्ययश्छान्दसो लेटि लेटोऽडाटावित्या-डागमः ।

इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

उपदिष्टामिति शेषः ॥ २ ॥

#### अथाध्यात्मम् ।

उपद्रियत इति शेष:।

य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीत ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ओमिति होष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

एप प्राणो वागादिप्राणप्रवृत्त्यर्थमोमित्यनुज्ञां कुर्वन्निव संचरित तस्मात्त्राण एव प्रणव उद्गीथश्चेत्यर्थः ॥ ३॥

> एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमे-कोऽसीति ह कौषीतिकिः पुत्रमुवाच ।

पूर्ववदर्थः ।

प्राणा श्रस्तवं भूमानमभिगायताद्व-हवो वे मे भविष्यन्तीति ॥ ४॥

मे बहवः पुत्रा मविष्यन्तीत्यभिसंधाय मुख्यं प्राणमुपासीनस्त्रं मूमानं बहुत्वमाश्रितान्वागादीन्प्राणांश्च मुख्यप्राणेन सहामिसंधायामि-गायतादुद्गानं कुर्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

उक्तप्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानफलमाह—

अथ खलु य उद्गीथः । स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्वैवापि दुरु-द्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य पश्चमः

खण्डः ॥ ५ ॥

अपि दुरुद्गीथं वेदनहीतमप्युद्गीथमित्यर्थः । होतृपदनाद्धोतृकर्तृकोद्गीथपणवैक्यज्ञानादित्यर्थः । होतृपदनादित्यत्रः पूर्वपदादितिपत्वम् । अपं
भावः—उद्गीथपणवैकत्वविज्ञानं होत्राऽपि कर्तव्यमुद्गात्राऽपि कर्तव्यं
पणवे होतुरुद्गीथ उद्गातुश्च कर्तृत्वात् । तत्रोद्गातुरेताहरीकत्वविज्ञानाभा-

वेन दोपयुक्तमप्युद्धात्रा प्रयुज्यमानमुद्धीथं होता स्वीयोद्धीथप्रणवैकत्व-विज्ञानमाहात्म्याद्नुसमाहरति समाद्धात्यदुष्टं करोतीति । द्विरुक्तिर्वि-द्यासमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते गुणोपसंहारपादे ' अङ्गेषु यथाश्रयभावः ' [ ब० सू० ३ । ३ । ६१ ] अङ्गेष्वाश्रितानामुपासनानां ऋतोर्वाहिः प्रयोगासंभवेनाऽऽश्रयतन्त्रत्यस्य षक्तव्यतया प्रयोगवचनेनाऽऽश्रयाणामुद्गीथादीनां समुचयनियमेनाऽऽश्रि-तानामपि समुचयनियमो युक्तः । इतरथा तदाश्रितत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । ' शिष्टेश्च ' [ ब्र० सू० ३ । ३ । ६२ ] गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदि-तिवद्धिकारान्तराश्रवणेनोद्धीथमुपासीतेत्युद्धीथाङ्गतयोपासनविधानाञ्च नियमेनोपासनोपादेया । न च वीर्यवत्तरत्वह्रपफलार्थत्वस्य 'तन्निर्धा-रणानियमः ' बि० सू० ३ । ३ । ४२ ] इत्यत्रोक्तत्वात्कथं तस्यो-द्रीथाङ्गत्वामिति वाच्यम् । उद्गीथमुपासीतेतिवाक्येनोपासनस्योद्गीथरू-पाश्रयसंबन्धे वीर्यवत्तरत्वरूपफलसंबन्धे च बोध्यमाने वाक्यभेद्प्रस-ङ्गात् । न च वाक्यभेद्भीत्या तस्य फलविधित्वासंभवेऽपि तस्य फला-काङ्क्षायां रात्रिसन्नन्यायेन वीर्यवत्तरत्वस्यैवाऽऽर्थवादिकस्य फलत्वक-ल्पनं संभवतीति वाच्यम् । पर्णतादाविष तथा प्रसङ्गात्। 'समाहारात् ' [ ब॰ सू॰ ३। ३। ६३ ] होतृपद्नाद्धैवापि दुरुद्गीथ्मनुसमाहरति [ छा० १। ५। ५ ] इत्युपासनस्य समाहारनियमो हुश्यते । उद्गा-तुकृतवेदनहानिप्रयुक्तोद्गीथवैगुण्यस्य होतृकर्तृकप्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानेन समाधानोक्त्योपासनस्याऽऽवश्यकत्वप्रतीतेरित्यर्थः । 'गुणसाधारण्यश्रु-तेश्च ' [ ब्र० स्०३। ३। ६४ ] उपासनगुणस्योपास्यस्य प्रणवस्य 'तेनेपं त्रथी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्धाय-तीति '[ छा० १ । १ । ९ । ] इति साधारण्यश्चतेश्चोपासनावश्यकता गम्यते । प्रकृतपरामर्शिना तेनेतिशब्देन सोपासनस्य प्रणवस्यैव प्रतीते-रुपासनानियमोऽस्तीति प्राप्त उच्यते—' न वा तत्सहभावाश्चतेः ' [ब० सू० ३ । ३ । ६५ ] न वा क्रतुपूपादाननियम उद्गीथोपासनादेः । कुतः । तत्सहभावाश्चतेरुद्दीथभावाश्चतेरित्यर्थः । वीर्यवत्तरत्वरूपफलार्थतया गोदोहनतुल्यत्वेन क्रत्वर्थत्वाभावादिति भावः । न च पर्णतादेरपि पुरु-षार्थत्वप्रसङ्गः । पर्णताया जुहूसंबन्धेऽप्यव्यापाररूपतया फलनिष्पाद्क-त्वाभावेन फलाकाङ्क्षाया एवाभावात्फलकल्पनाया अप्रसक्तेः । अतः फलाकाङ्क्षासिद्ध्यर्थं क्रतूपरागेण व्यापारक्षपतां संपाद्यितुं जुहू लिङ्गेन क्रतुमुपस्थाप्य तत्संबन्धबोधकः शब्दो वा कल्प्यः । जुहूशब्द्स्य जुहूसं- बन्धिक्रतुलक्षकत्वं वा कल्पम् । ततश्च क्रतुफलेनैव नैराकाङ्क्ष्याद्रा-त्रिसत्रन्यायेनाऽऽर्थवादिकफलकल्पना न समुन्मिपति । इहोपासनायाः स्वयं व्यापारक्षपायाः क्रतूपरागमन्तरेणैव फलाकाङ्क्षा संभवति । सत्यां च फलाकाङ्क्षायां वाक्यशेषस्यैव फलसमर्पकतया परि-णामसंभवे फलवत्कर्मान्तरबोधकवाक्यकल्पनाद्यनपेक्षणात्तरमाद्वाक्य-शेषश्चताय तस्मै फलायोद्गीथाद्याश्रयविशिष्टोपासनविधिरित्येव यु-क्तम् । न चोपासनानामाश्रयतन्त्रत्वात्सत्याश्रये तत्तन्त्राणामुपासना-नामप्यावश्यकत्वमिति वाच्यम् । इद्मेव ह्युपासनानामाश्रयतन्त्रत्वं यदाश्रये सत्येव वृत्तिर्नान्यदाऽस्तीति न तु यावदाश्रयसत्त्वं वृत्तिरिति । ततश्च कामोपबद्धत्वादुपासनानां कामानां चानित्यत्वात्तद्वबद्धानाम-प्युपासनानामनित्यत्वमेव । 'दुर्शनाच्च ' [ ब० सू० ३ । ३ । ६६ ] 'एवं विद्ध वै बह्मा यज्ञं यजमानं सर्वौश्चीत्विजोऽभिरक्षति ' [ छा० ४। १७। १० ] इति ब्रह्मणो वेदनेनैव सर्वेषां रक्षणं ब्रुवतीति श्रुति-रुद्गातृप्रभृतीनां घेदनस्यानियमं द्र्शयतीति स्थितस् । केचित्तूद्गीथवि-द्यायाः क्रत्वर्थत्वाभावे ' अन्यथात्वं शब्दादिति चेत्। ' [ ब० सू० ३। ३। ६ ] इत्यधिकरण उद्गीथविद्यायाः क्रस्वर्थत्वेन क्रतुसाद्ध-ण्यफलकत्वेऽप्यार्थबादिकमपि फलं तद्विरुद्धं ग्राह्ममिति देवताधि-करणे प्रतिपादितमिति भाष्यं विरुध्येत । तथा पुरुपार्थाधिकरणे 'यदेव विद्यया करोति' [ छा०१।१।१० ] इति विद्यायास्तृतीयाश्चत्या कर्माङ्ग-त्वप्रतिपादनाम्न विद्यातः पुरुषार्थ इति ' तच्छूतेः ' [ ब० सू० ३।४।४ ] इति सूत्रेण पूर्वपक्षे कृते तत्र विद्याशब्दस्य प्रकृतोङ्गीथवि-द्याविषयत्वेनोद्गीथविद्यामात्रस्य कर्माङ्गत्वेऽपि न ब्रह्मविद्यायाः कर्मा-क्कत्वमस्तीत्येतद्रथप्रतिपाद्कयोः 'असार्वत्रिकी' [ ब०स्०३।४।१० ] इति सूत्रतद्भाष्ययोविरोधश्च स्याद्तश्चास्त्येव क्रत्वर्थत्यम् । न च 'तन्निर्धार-णानियमः । ' ' अङ्गेषु यथाश्रयभावः ' [ ब्र०सू०३।३।४२।६१ ] इत्य-धिकरणद्वयविरोधः । तयोर्नियतक्रत्वर्थत्वप्रतिक्षेपमात्रपरत्वात् । न च क्रत्वर्थत्वेऽप्यार्थवादिकफलस्वीकारे पर्णताया अप्यपापश्लोकश्रवणफ-लकत्वप्रसङ्ग इति शङ्क्यम् । प्रस्तरप्रहरणस्य क्रत्वर्थस्यापि सूक्तवा-कमन्त्रप्रतिपाद्यफलार्थत्ववदुपकोसलविद्याङ्गभूताग्निविद्यायाः 'नास्या-वरपुरुषाः क्षीयन्ते ' [ छा०४।११।२ ] इति प्रतिपन्नवह्मविद्याविरोधि-तदुपयोगिफलाथत्ववञ्च क्रत्वर्थाया अपि पणताया अर्थवाद्प्रतिपन्नक- त्वविरुद्धफलार्थत्वे न दोष इति माष्यकाराशय इति वद्नित । अन्ये तु 'अन्यथात्वं शब्दात्' [ ब॰सू॰३।३।६ ] इत्यत्र माष्यस्यान्वारुद्योक्त-त्वात्कत्वर्थत्वं न माष्यकृद्भिमतमिति वद्नित । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनं प्रस्तूयते—

इयमेवर्गभिः साम ।

ऋचि पृथ्वीदृष्टिः साम्न्यग्निदृष्टिश्च कर्तव्येत्यर्थः ।

तदेतदेतस्यामृच्यध्युढश साम ।

तदेतदग्न्याख्यं सामैतस्यां पृथिवीक्ष्पायामृ स्पध्यूहमुपरिस्थितमि-त्यर्थः । अत एवाद्याप्यृगारूढमेव साम गीयत इत्याह—

तस्माद्दच्यध्यूदः साम गीयते।

एवमुक्सामयोः पृथिव्यग्निहृष्टिं विधाय सामनामावयवभूतयोः साश-•दामशब्दयोः पृथिव्यग्निदृष्टिः कर्तव्येत्याह—

इयमेव साऽशिरमः ।

उक्तोऽर्थः।

#### तत्साम ॥ १ ॥

तत एव परस्परसंसृष्टपृथिव्यग्निरूपसाशब्दामशब्दमेलनेन सामव्यव-हारो लोके प्रवर्तत इत्यर्थ: ॥ १ ॥

> अन्तरिक्षमेवर्गियुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढश् साम तस्मादृच्यध्यूढश् साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥ यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढश् साम तस्माद्यध्यूढश् साम गीयते यौरेव साऽऽदित्योऽ-मस्तत्साम ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढर साम तस्माद्यध्यूढर साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

पूर्ववद्धः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्कं भाः सैवर्क् ।

शुक्कं माः शुक्का वीप्तिरित्यर्थः । शुक्कमिति लिङ्गव्यत्ययश्छान्द्सः । अथ यन्नीलं परः ऋष्णं तत्साम ।

परः कृष्णमितशयेन काष्ण्यं एरः कृष्णमिति प्रसिद्धं पन्नी छं तरसामेत्यर्थः । आदित्ये काष्ण्यं स्य समाहितदृष्टिमिरीक्ष्यमाणत्वात्तद् स्तीति दृष्टव्यम् । अत्र परः शब्दः सान्तो दृष्टव्यः ।

तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ साम तस्मादच्यध्यूढ साम गीयते ॥५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्तं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः छण्णं तदमस्तत्साम ।

एवमृचि पृथिव्यन्तिरक्षद्धनक्षत्रादित्यगतशुक्कभारूपत्वदृष्टिं साम्न्य-भिवाम्बादिस्य चन्द्रादित्यगतनीलभारूपत्वदृष्टिं च विधायाऽऽह—

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते ।

आदित्यमण्डलस्यान्तर्हिरण्मयो रमणीयो यो योगिभिर्द्धस्यत इत्यर्थः । 'हश्यते त्वउयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मद्शिमिः'[क०१।३।१२]इति श्रुत्ये-कार्थ्याद्धिरण्मय इति रूपसामान्याच्चन्द्रमुखविद्गति वाक्यकारः । ततश्च हिरण्मयत्वमुज्ज्वलत्वमित्यर्थः । ततश्च नीलतोयदामस्यापि हिरण्मयत्वे नानुपपत्तिः। यद्वा कचिन्न तद्धेमसमानवणे तस्याऽऽननिमिति श्रीरामाय-णप्रयोगात् 'पश्यते कक्मवर्णम् [मु० ३ । १ । ३ ] इति श्रुतेश्च नीलतोयदामस्यापि क्वमवर्णत्वं संभवति । तत्र हेतुश्च संप्रदायगम्यः । एतत्सर्वं वेदार्थसंग्रहप्रकाशिकायां स्पष्टं तत एवावगन्तव्यम् । अत्र केचित् 'कप्यासं पुण्डरीकम् ' [छा० १ । ६ । ७ ] इति वाक्ये कप्यासशब्देनाऽऽदित्यमण्डलमुच्यते पुण्डरीकमित्यनेन हृद्यपुण्डरीक-मुच्यते । अतश्च यथा सूर्यमण्डलं हृदयपुण्डरीकं चोपासनस्थानमेवमु-

पासकस्याक्षिणी अपि परमात्मन उपासनस्थानभिति परोक्तव्याख्यान-द्वणावसरे व्यासार्थेरादित्यमण्डलक्षपस्थानावरुद्धेऽक्ष्णोः स्थानतया विधानं न संभवतीत्युक्तेरादित्यमण्डलस्थानमुत्पत्तिशिष्टमिति प्रतीयते । ततश्च य एपोऽन्तरादित्य इति वाक्यमुपासनोत्यत्तिपरम् । ततश्च पुरुषो हृश्यत इत्यत्र द्रष्टव्य इत्यर्थ इति व्यासार्याभित्रायः। न चाऽऽदित्यमण्डः लस्योत्पत्तिशिष्टत्व उत्पत्तिशिष्टस्थानावरुद्धे भाष्यकृद्भिमतपुण्डरीकः दलामलायताक्षत्वादेः कथं विधानमिति वाच्यम् । पुण्डरीकाक्षत्वादेरुत्प-तिशिष्टादित्यमण्डलस्थानाविरुद्धत्वादुत्पत्तिशिष्टाविरुद्धगुणानां विधा-नसंभवात् । नन्वेवं ' सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ' [ ब० सू० १ । २ । १ ] इत्यत्र 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' छि।०३।१४।१] इत्युत्पत्तिशिष्टसार्वात्म्यावरुद्धे मनोमयत्वादीनां विधानं न संभवती-त्याक्षिप्य सर्वं खल्विति वाक्यस्योपासीतेत्यनेनैकवाक्यत्वाभावेन सार्वा-तम्यस्य नोत्पत्तिशिष्टत्वमिति व्यासार्थैः समर्थनमयुक्तं स्यात् । मनोमय-त्वादीनामुत्पत्तिशिष्टसार्वातम्याविरोधादित्येव परिहारसंभवेन वाक्यभे-दमाभित्य सार्वात्म्यस्योत्पत्तिशिष्टत्वाभावसमर्थनं मुधेति चेदुपायान्तर-स्योपायान्तराद्वपकत्वादिति वदन्ति। अन्ये त्वादित्यमण्डलस्थानावरुद्ध इत्यस्य नोत्पत्तिशिष्टस्थानावरुद्धत्वमभिष्रेतमपि तु युगपद्नुपसंहरणी-यादित्यमण्डलाक्षिरूपस्थानद्वयविधानेऽष्टदोषद्ष्टविकल्पप्रसङ्गादित्येव तात्पर्यमित्याहुः । 'यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णम् ' [ मु०३ । १ । ३ ] इति प्रकरणे मनसा तु विशुद्धेनेति रुक्मवर्णविग्रहविशिष्टस्य शुद्ध-मनोयाह्यत्वोक्तेरारोपिताकारस्य विशुद्धमनोयाह्यत्वाभावादनारोपितत्वं सिद्धम् । 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः' [ब०सू०१।३।१३] इत्यवेक्षणस्य पर-मात्मविषयत्वं वक्तव्यमिति परैरप्यङ्गीकृतत्वाञ्च । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ' श्वि॰३।८ ] इति तमःपारवर्तिन आदित्यवर्णविग्रहविशि-ष्टत्वाभिधानेन कल्पितत्वाप्रसक्तेः । न हि कल्पितस्य तमःपारवर्तित्वं संभवति ।

हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥ रमणीयश्मश्रुकेशो रमणीयसर्वावयव इत्पर्थः ॥ ६ ॥ तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ।

कं पिचतीति कपिरादित्यस्तेनास्यते क्षिप्यते विकास्यत इति कप्या-सम् । तथाऽऽह वाक्यकारः-आदित्यिक्षिप्तं वा श्रीमत्त्वादिति । यद्वा कं पिवतीति कपिर्मालं तस्मिन्नास्त इति कप्यासम् । अपचिताद्पि पक्कुजान्नालस्थस्य पुण्डरीकस्य शोभातिशयशालिस्वात्ताहशमिष्ठ विवक्षितम् । यद्वा कं जलम् । आस उपवेशन इति धातुरपिपूर्वकः । विष्टि भागुरिरलोपमवाप्योरुपसर्गयोरिति वचनादकारलोपः । के जलेऽप्यास्त इति कप्यासं सालिलस्थमिरयथंः । एवमस्यार्थत्रयस्योपपन्नतया वाक्य-कारेण सिद्धिन्तितस्वमिभेषेत्यभगवता भाष्यकारेण वेदार्थसंग्रहे—'गम्भी-राम्भःसमुद्भूतसुमृष्टनालरिवकरिवकसितपुण्डरीकद्वलामलायतेक्षण ' इत्यभिहितम् । मर्कटजघनसहशपुण्डरीकसादृश्याद्यथांन्तरं स्वश्लीलत्वा-विदोषदुष्टतया वाक्यकृद्नादृतस्वाद्धाव्यकारेणाप्यनाद्धतम् । यद्यप्यमरकोशे पुण्डरीकं सितामभोजमित्यनुशिष्टं तथाऽपि शवरस्वामिना नवमाध्याये मौद्धं चकं निर्वपेच्छ्रये श्रीकाम इति विहितायामिष्टी पोण्डरीकाणि वहींपि भवन्तीति स्तरणार्थत्वेन विहितेषु पुण्डरीकेष्व-तिदेशपाप्तस्य द्भैः स्तृणीत हरितैरिति मन्त्रस्य द्भैपक्स्थाने पुण्डरीक-पदं हरितपदस्थाने रक्तपदमूहितव्यमित्युक्तत्वादकाम्भोजमेव पुण्डरीक-मिति द्ष्टव्यम् ।

#### तस्योदिति नाम।

ं स्पटोऽर्थः । तस्योन्नामकत्वे हेतुमाह—

स एष सर्वेभ्यः पाष्मभ्य उदितः।

सर्वपापोद्गतत्वादुन्नामकत्विमित्यर्थः । नीडाच्छकुन्तस्योद्गमनवत्पापपअत्रादुद्गमनरूपमुख्यार्थस्य कुत्राप्यभावादुद्गमनेन तत्संबन्धराहित्यं लक्ष्यते । 'नैन से सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्म शोको न सुकृतं न
दुष्कृतम् ' [ छा० ८ । ४ । १ ] इति परमात्मनः सुकृतदुष्कृतसंबन्धाभावो हि प्रतिपाद्यते तरतेः प्राप्तिवाचित्वात् । पापशब्दश्च पुण्यपापरूपोभयविधकर्मपरः । परमात्मप्रकरणेषु 'नैन से सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा
न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृत सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' [छा०
८ । ४ । १ ] इति सुकृतेऽपि पापशब्दप्रयोगात् । पाप्मनः कालजरामृत्युशोकाद्यः संख्यातत्वादिति वाक्यकारवचनाद्लोकिकत्वे सत्यनिष्टफलसाधनत्वरूपपृत्तिनिमित्तयोगात्पुण्यस्यापि पापशब्दामिधेयत्वोपपत्तेः । मुमुक्ष्वपेक्षया स्वर्गादीनामप्यनिष्टत्वात् ।

एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः। क नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम्॥ क जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्।

इति स्मरणात्सर्वपापोदितत्वं नाम कर्मवश्यतागन्धराहित्यमिति फलितोऽर्थः । कृतानामपि कर्मणां फलजननशक्तिप्रतिमटत्वलक्षणः कश्चिदैश्वरस्वभावविशेषोऽपहतपाप्मत्वाख्यः सर्वपापोदितशब्दार्थं इति दृष्टव्यम् । एवं नाम शिष्टज्ञानफलमाह—

उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाष्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

# तस्यक्चं साम च गेष्णौ।

पृथिव्यग्न्यादित्यदृष्टिविशिष्टतया प्राक्ष्यस्तुते ऋक्सामे एतस्य गान-रूपे। यद्यप्यूचो गानाश्रयत्वेऽपि न गानरूपत्वं तथाऽप्यभेदोपचारेण गेष्णाःवोक्तिर्द्रष्टग्या। अव्युत्पन्नो गेष्णशब्दो व्यत्ययेन पुंस्त्वम्। अग्नी-न्द्रादिप्रतिपादकक्सीमगेयत्वोकत्या सर्वात्मकत्वमुक्तं भवति।

### तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता ।

पस्मादुन्नामकत्वं परमात्मनोऽत एव तद्गानरूपत्वाद्वितीयमक्तेर-द्गीथसंज्ञत्वं तद्गातुरुद्गातुसंज्ञावस्वं चेत्यर्थः। यद्वा परमात्मन उन्ना-मकत्वाद्ववसामगेष्णत्वाचोद्गेष्णस्य परमात्मन उद्गीथत्वमुपपद्यते तत उद्गीथे परमात्मदृष्टिर्युक्तेत्यर्थः।

स एष ये चामुष्मात्पराश्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च।

स एव हिरण्मयः पुरुष आदित्यमण्डलोध्ववर्तिलोकानां देवभोग्य-भोगोपकरणभोगस्थानानां च नियम्तेत्यर्थः ।

### इत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ १ ॥ उपिष्टमिति शेषः ॥ ८ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः॥ ७ ॥

#### अथाध्यात्मम् ।

उपदिश्यत इति शेषः।

वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्युढः साम तस्मादच्यध्युढः सामगीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

चक्षरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यृदश् साम तस्मादच्यध्युदश् साम गीयते चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम॥२॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्य-ध्यूढश साम तस्माद्यध्यूढश साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्षणः शुक्कं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः छण्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्य-ध्यूढः साम तस्माद्यध्यूढः साम गीयते अथ यदेवैतदक्षणःशुक्कं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः छण्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

एवमृचि वाक्चञ्चःश्रोत्राक्षिगतशुक्रमारूपत्वदृष्टिं साम्नि प्राणच्छापा-रममनोक्षिगतपरःकृष्णरूपस्वहाधं च विधायाऽऽह—

> अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते । सैवक्रतत्साम तदुक्थं तयजुस्तद्ग्रस ।

चक्षुषि यः पुरुषो योगिभिर्द्यते स एवर्ग्यजुःसामात्मोक्थािष्ठा-स्नात्मा बह्म चेत्पर्थः । अत्रोक्थस्य त्रय्यपेक्षया पृथक्परिगणनं गोब-लीवर्दन्याेपन द्रष्टव्यम् ॥१॥२॥३॥४॥

> तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमु-ष्यगेष्णो तो गेष्णो यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

एतस्याक्ष्यन्तर्वर्तिनः परमपुरुषस्याऽऽदित्यान्तर्वर्तिनो यद्धिरण्मयत्वा-

दिरूपमुदिति नाम ऋक्सामरूपगेष्णौ च तानि सर्वाणि भवन्ती-त्यर्थः ॥ ५ ॥

> स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोका-स्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति।

एतस्माद्क्षिस्थानाद्धोवर्तिनां लोकानां मनुष्यभोग्यादीनां च निय-

तय इमे बीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति ।

यस्माद्यमीश्वरस्तरमाद्धेतोर्वीणागायकाः सर्वेऽपीममेव गायन्तीः त्यर्थः । तस्य सर्वात्मकत्वेन देवमनुष्यादिकमंकगानस्यापि परमात्म- विषयःवादिति भावः ।

तस्माने धनसनयः ॥ ६ ॥

सनिर्लामः । धनानां सनिर्धेषां ते धनसनयः । ईश्वरगायकत्वादेव वीणागायकानां धनलाभवत्त्वं न ह्यनीश्वरगातृत्वे धनप्रसक्तिरस्तीति भावः ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्सामं गायत्युभौ स गायति।

अध्यातमाधिदैवतभिन्नविद्यायुक्तः सम्नुद्गीथं यो गायित स चाक्षुषमा-दिश्यस्थं च गायतीत्यर्थः। उद्गीथस्य चाक्षुषेण परमात्मनाऽऽदित्यान्तर्व-तिना च परमात्मनैक्याध्यासविशिष्टतया ताष्टशोद्गीथगायकस्यैव परमा-त्मगायकत्वादिति भावः। तस्यैवंविदः फलमुच्यते—

> सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोका-स्ता श्श्वाऽऽमोति देवकामा श्र्य ॥ ७ ॥ अथानेनैव ये चेतस्मादर्वाञ्चो लोका-स्ता श्श्वाऽऽमोति मनुष्यकामा श्र्य ।

स विद्वानमुनैवाऽऽदित्यान्तर्वतिनोपासितेन स एप तदुपासनाविशिष्ट एतस्मादूर्ध्वलोकान्देवकामांश्चाऽऽप्रोति । अनेनाक्ष्यन्तर्वतिनोपासितेन मनुष्यलोकाद्धस्तनलोकान्मनुष्यकामांश्चाऽऽप्रोति। चक्षुरादित्यस्थानव-तिपरमात्मोपासनया सर्वलोकाप्तिर्भवतीत्यर्थः।

## तस्मादु हैवं विदुद्गाता बूयात् ॥ ८ ॥ कं ते काममागायानीति ।

एतावृशविद्यायुक्त उद्गाता यजमानं प्रति हे यजमान ते कं देवकामं मनुष्यकामं वा गानेन संपाद्यानीति ब्रूयादित्यर्थः । नन्वेताहशोक्तावु-द्गातुः कथं सामर्थ्यमित्यबाऽऽह-

एष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायित साम गायिति॥ ९॥
इति च्छान्दोग्योपिनपिद प्रथमप्रपाठकस्य
सप्तमः खण्डः॥ ९॥

एवं विदुषः सामगस्य कामसंपादकगानसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः । द्विरु-किर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यते समन्वयाध्याये प्रथमपादे-अन्तरादित्येऽन्तरक्षिणि च वर्तमानत्वेन श्रुतः पुरुषो जीव एव । 'हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' [छा० १।६।६] इति शरीरसंबन्धश्रवणाच्छरीरस्वस्यैव कर्मजन्य-तावच्छेदकत्वेन कर्माजन्यशरीरासंभवात्प्रक्रमश्रुतेन शरीरित्वलिङ्गेन जीवत्वे निश्चित औपसंहारिकं सर्वपापोदितत्वमापेक्षिकं नेतव्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते-'अन्तस्तद्धमीपदेशात्' [ब० सू० १।१।२०]आदि-त्याक्ष्यन्तर्वर्ती पुरुषः परमात्मेव परमात्मधर्मीपदेशात् । कर्मवश्यतागन्ध-राहित्यलक्षणं नित्याविभूतं सर्वपापोदितत्वं न परमात्मनोऽन्यत्र संभ-वित ततश्च चरमश्रुतमपि 'उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद्' [छा० १।६।७] इति फलक्ष्पतात्वर्थलिङ्गात्प्रबलम् । तथर्क्सामगेयत्वा-क्षिप्तं सैवर्क्तत्सामेति वाक्यश्रुतं च सार्वात्म्यं परमात्मधर्मः । तथाऽक्ष्या-दित्यवर्त्येकपुरुषगतीर्ध्वाधीवर्तिलोककामेश्वरत्वरूपं निरङ्कृशं सर्वकामेश्व-त्वमि 'सोऽमुनैव स एप ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ता श्र्याऽऽप्रोति देवकामारश्च । अथानेनैव ये चैतस्माद्यांश्चो लोकास्तारशाऽप्रोति मनुष्यकाषा ५ अ' [छा०१।७।७।८]इति वाक्यशेषप्रतिपन्नफलक्षपतात्पर्य-लिङ्गानुगृहीतत्वात्प्रबलम् । अतः प्रबलैः परमात्मलिङ्गैः परमात्मत्वे निणीते—अजायमानो बहुधा विजायते ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा मूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संमवाम्यात्ममायया ॥ [गी०४।६] परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संमवामि युगे युगे ॥ [गी०४।८]

इच्छागृहीतामिमतोरुदेह इति श्रुतिस्मृत्यनुसारेणाजहस्वभावस्येव परमात्मनो मायाशिक्तसंकल्पमाञ्चेणोपासकपरित्राणायाप्राकृतिद्य्यवि-ग्रहपरिग्रहोपपत्तेः । एतेन नित्यस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्जानार्थं प्रवृत्त्यर्थं वा करणानपेक्षणादात्मानन्दतृप्तस्य विग्रहे स्पृहासंभवाञ्च विग्रहो न संभवतीति शङ्का प्रत्युक्ता । करणानपेक्षज्ञानिक्रयस्यापि परमात्मन उपासकानुग्रहार्थं भोगार्थं च विग्रहस्वीकारोपपत्तेः । प्रमूतानन्दानाम-प्यानन्दान्तरापेक्षादर्शनेन निरितशयानन्दस्यक्षपस्यापि ब्रह्मणः प्रीति-विशेषापेक्षायाः संभवात् । न च विग्रहस्य भोग्यत्ये स्वक्रपभोग्यत्ववै-कल्यं शङ्करम् । स्वसंबन्धिमोग्यत्यस्य स्वभोग्यत्वातिशयावहत्वेन तद्वे-कल्यावहत्वामावात् । तत्र च

> समस्ताः शक्तयश्चेता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्भिष्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्भरेमंहत् ॥ समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यद्भानुष्याख्याचेष्टावन्ति स्वलीलया ॥

'नित्यालिङ्गस्वभावसिद्धिरिन्द्रायाकाराङ्गप्रत्यङ्गव्यञ्जनवती ''उज्जहाराऽऽत्मनः केशौ सितकृष्णौ ' अंशांशेनावतीर्योद्ध्यामित्यादिप्रमाणान्नित्यस्य विग्रहस्याशिथिलसंस्थानस्यैवापाकृतानन्तावतारहेतुत्वमुपणद्यते चतुर्मुखदेहस्य संस्थानाशैथिरुयेऽप्यनेकदेहोत्पादकत्वदर्शनात् ।
ततश्चोपासकानुग्रहार्थं स्वेच्छासृष्टापाकृतशरिरसंबन्धस्य प्रमाणसिद्धस्य
परमात्मनि सत्त्वाञ्च हिरण्मयविग्रहसंबन्धानुपपत्तिः परमात्मनः ।
अतोऽक्ष्यादित्यान्तर्वर्ती परमात्मा । नन्वाऽऽदित्यपुरुषादन्यः परमात्मैव
नास्तीत्यत्राऽऽह—' भेद्व्यपदेशाच्चान्यः' [ ब० सू० १ । १ । २१ ]
'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद ' [ वृ० ३ । ७ ।
९ ] इत्यादिनाऽऽदित्यादिपुरुपावेद्यस्य तन्नियनतुः परमात्मनोऽन्यस्य
प्रमाणसिद्धत्वात्तद्यादिपुरुपावेद्यस्य तन्नियनतुः परमात्मनोऽन्यस्य
प्रमाणसिद्धत्वात्तद्यातिरिक्तो नास्तीति न शङ्क्यम् । न च नित्यमुक्तव्यतिरिक्तः परमात्मा नास्तीत्यपि शक्यं वक्तुम् । आत्मनि तिष्ठन्निति

पर्याये परिशुद्धमुक्तात्मभ्योऽपि भेदप्रतिपादनादतोऽन्तरादित्येऽन्तरक्षिणि च विद्यमानः परमात्मेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥७॥८॥९॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

प्रकारान्तरेणोपासनं विधातुमाख्यायिकामाह—

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूव शिलकः शालावत्यश्रे-कितायनो दाल्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ।

शालावरस्तः शिलकनामा, दल्भगोत्रश्चिकितायनस्तः, जीवलस्तः प्रवाहणनामा । त्रय एव उद्गीथविज्ञाने निपुणा बभूवुरित्यर्थः । शालाः वत्यः । शालावच्छव्दादपत्यार्थेऽणि तद्गतात्स्वार्थेऽभिजिद्विदम्च्छाला-वदित्यादिना यञ्प्रत्ययः। दाल्भ्यः, द्लभशब्दाद्वीत्रापत्ये गर्गादित्वा-द्यञ् । चिकितायनशब्दाद्पत्येऽर्थ ऋषित्वाद्णि चैकितायनः । जीवल-शब्दाद्त इञि जैवलिः।

ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तो-द्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

वयमुद्गीथविधाने कुशला भवामः । अतो विद्यावैशद्याय वाद्कथां परस्परं प्रवर्तयाम इत्युचुरित्यर्थः ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः।

तथा कुर्म इत्यन्योन्यमुक्त्वैक ज्ञोपविष्टवन्त इत्यर्थः ।

स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।

प्रवाहणः क्षत्रियस्तौ बाह्मणौ प्रागल्भ्यादुवाचेत्यर्थः ।

भगवन्तावय्रे वदतां ब्राह्मण-योर्वदतोर्वाचः श्रोष्यामीति॥२॥

भगवन्तौ पूजावन्तौ ब्राह्मणावधे वाद्कथां कुरुतां तत्प्रकारं श्रोष्यामीति ॥ २॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चेकितायनं दालभ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३॥

स्पष्टोऽर्थ: ॥ ३ ॥

का साम्रो गतिरिति।

गतिरयनं प्राप्यमित्यर्थः।

स्वर इति होवाच ।

स्वरात्मकत्वात्साम्न इति भावः।

स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच ।
प्राणिनर्वर्त्यत्वात्स्वरस्येति भावः । एवमुत्तरज्ञाप्यौचित्यमनुसंधेयम् ।
प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥
अपां का गतिरित्याप हति होवाच ।

युलोकादेव वृष्टिप्रभवादिति भावः।

अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच ।

स्वर्गे लोकमतीत्य परमाश्रयान्तरं साम न नयेत् । स्वर्गलोकव्यतिरि-क्तमाश्रयान्तरं साम न प्रापयेदित्यर्थः । न वदेदिति यावत् ।

> स्वर्गं वयं लोक श्रामा भिसंस्थापयामः स्वर्गस श्रम्ताव श्रह्मा मेति ॥ ५ ॥

अतो वयमपि सामाभि साम प्रत्याश्रयत्वेन स्वर्गं लोकं सम्यवस्था-पयामः । 'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः' इति श्रुत्या स्वर्गत्वेन साम्नः स्तूय-मानत्वादित्यर्थः ॥ ५ ॥

> तः ह शिलकः शालावत्यश्रेकितायनं दालभ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते

दालभ्य साम यस्त्वेताई ब्र्यान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति॥६॥

हे दालभ्याप्रतिष्ठितं स्वर्गलोकं सामगतिपरम्पराविश्वान्तिभूमिं वदतः स्तव मते सामाप्रतिष्ठितमेव स्यात् । एतस्मिन्समये यः कश्चिदागत्य वादकथायामयुक्तमर्थं प्रतिजानानस्य ते जूर्धा विपतिष्यतीति यदि बूया-त्तदा विपतेदेव न संशयः । मया तु सौहार्दात्तथा नोक्तमतो जीवसीति शिलक उक्तवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

हन्ताहमेतद्भगवत्तो वेदानीति विद्धीति होवाच ।

तर्ह्यहं सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमिं त्यसो जानीयामिति प्रार्थि-तस्तथेत्युक्तवानित्यर्थः।

अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाच। यागदानहोमादिभिर्भूलोकस्य स्वर्गीपजीव्यत्वादिति भावः। अस्यलोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमति नयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकप्र सामिभः सप्रस्थापयामः प्रतिष्ठासप्रस्तावप् हिसामेति॥ ७॥

पृथिवीलोकस्य का गिर्ति दालभ्येन पृष्टः शिलकः प्रतिष्ठां पृथि-बीलोकमितकस्य सामगतिपरम्पराविधानितभू सिमन्यं न कश्चिद्पि वद्त्। अतो वयमपि तथैव वदामः । 'इयं वै एथंतरम्' इति श्रुत्या साम्नः प्रतिष्ठालोकत्वेन स्तूयमानत्वात्स्वर्गस्य ज्योतिश्चकलग्रतया बम्भ्रम्यमा-णस्वेन प्रतिष्ठात्वाभावोऽपि पृथिव्यास्तु स्थिरत्वात्प्रतिष्ठात्वमित्युक्त-वानित्यर्थः ॥ ७॥

> त १ वाहणो जैवलि इवाचान्त-वहै किल ते शालावत्य साम ।

अन्तवतीं पृथिवीं सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमितया प्रतिजानानस्य ते मते सामान्तवदेव स्यादित्यर्थः ।

यस्त्वेतर्हि ब्र्यान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति

मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमतद्भगवत्तो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्याष्टमः

खण्डः ॥ ८ ॥

पूर्ववद्थं: ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपा-ठकस्याष्टमः खण्डः ॥ ८॥

प्वमनुमतः शिलको राजानं पृच्छति-

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच ।

अस्य प्रथिवीलोकस्य का गतिरिति शालावत्येन पृष्टः प्रवाहण आकाश इत्युक्तवानित्यर्थः । नित्यमत्राऽऽकाशत आकाशयतीति वा ब्युत्परपाऽऽकाशशब्दो ब्रह्मपर: । 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहि-ता' छि। ८ । १४ । १ ] इत्यादावाकाशशब्दस्य ब्रह्मण्यपि प्रसिद्ध-त्वाम तु भूताकाशपर इति वृष्टव्यम् । तदेव गतित्वं पपश्चयति-

> सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याका-शादेव समुत्पयन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति।

चिद्चिद्रात्मकप्रपञ्च आकाशादेवोत्पद्यते तत्रैव लीयत इत्यर्थः।

आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् ।

ज्यायस्त्वं नाम संवैं: कल्याणगुणै: सर्वेभ्यो निरतिशयनिरुपाधिको-त्कर्षः ।

आकाशः परायणम् ॥ ३ ॥ परायणत्वं परमगतित्वं परमप्राप्यत्वमिति यावत् ॥ १ ॥ स एप परे।वरीयानुद्गीथः।

पर उक्ष्य वरीयान्वरीयसामपि वर इत्यर्थः । अत्र परःशब्दः सकारान्तो द्रष्टव्य:। एवंरूप आकाश उद्गीथ: परमात्मद्रष्टिविशिष्ट उर्धाथ इत्यर्थः । उद्गीथ एताहशाकाशहृष्टिः कर्तव्येति यावत् ।

#### स एषोऽनन्तः ।

उद्गीथेऽध्यस्यमानोऽयमाकाशोऽनन्तोऽपरिच्छिन्न इत्यर्थः । तत्रश्चा-नन्तस्याऽऽकाशशब्दितस्य परमात्मन एव सामगतिपरम्पराविश्रान्ति-भूमित्वान्मत्पक्षेऽन्तवद्दै किल ते सामत्युक्तोऽन्तवत्त्वद्दोषो न प्रसर-तीति मावः ।

> परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयतिय एतमेवं विद्वान्परो-वरीयाश्समुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

यः परोवरीयांसमेतमाकाशशन्दितं परमात्मानं विद्वानाकाशत्वेनोद्गीथ-मुपास्ते तस्य परोवरीयस्त्वगुणकं जीवनं भवति परोवरीयस्त्वगुणकस-कललोकावाप्तिश्च भवति ॥ २ ॥

प्रवाहणः स्वोक्तार्थं संवादयति-

तश्र हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच ।

अतिधन्वनामा शुनकस्रत उद्रशाण्डिल्यायर्षये । उद्रशब्देन संत-तिलंक्ष्यते संततिशाली शाण्डिल्य इत्यर्थः । तस्मा एनमुद्गीथमुक्तवाऽ-न्यद्प्युवाचेत्यर्थः । किं तदित्यत्राऽऽह—

> यावन्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदि-ष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मि-ह्वोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

वेदिष्यन्त इत्येतद्यात्ययेनाऽऽत्मनेपद्म् । प्रजायां त्वत्संततौ यावन्तः पुरुषा एनमुद्रीथमुपासिष्यन्ते तेषामुत्कृष्टमिह लोके जीवनं मविष्य-तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

#### तथाऽस्मिँहोके लोक इति।

तथाऽमुब्मिन्नपि परलोके भविष्यतीत्यर्थः । परोवरीयो जीवनमित्यनुषङ्गः । लोके लोक इति वीष्सायां द्विर्वचनम् । इत्यतिधन्वोवाचेति
पूर्वणान्वयः । अत इदानींतनानामपि तद्विदां तत्फलमस्तौत्याह—

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्या-

स्मिँहोके जीवनं अवित तथाऽमु व्यिँहोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनि प्रदि प्रथमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्खडान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरण-मुपन्यस्यते समन्वयाध्याये प्रथमपादे--उद्गीथेऽध्यस्योपास्यमानाकाशो भूताकाश एव । आकाशशब्दस्य भूताकाशे रुढत्वेन रुढाकाशशब्दा-भ्यासादिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'आकाशस्ति छङ्जात् ' ि ब०सू०१।-१।२२] आकाशशब्दाभिधेयः परमात्मा निखिलजगदेककारणत्वसर्व-ज्यायस्त्वपरायणत्वादीनां परमात्मलिङ्गानां भूताकाशेऽसंभवाज्द्रताका-शस्याचेतनवर्गं प्रतिकारणस्वसंभवेऽपि चिद्चिद्वर्गकारणत्वासंभवात्सर्वैः कह्रयाणगुणैः सर्वीत्कृष्टत्वलक्षणज्यायस्त्वस्याप्यसंभवाद्चेतनस्य स्वरू-पभिन्नत्वेन योक्षविरोधितया च हेयशब्दादिनिषिद्धविषयपावण्यजन-कतया सकलपुरुषार्थियरोधिनोऽचेतनस्य परायणत्वलक्षणप्राप्यस्वस्य वाऽसंभवात् । तस्य ए का साम्रो गतिरस्य लोकस्य का गतिरित्युपक-मलक्षणतात्पर्यलिङ्गेन प्रतिपिपाद्यिपितत्वावगमात्प्रतिपिपाद्यिपितप-रायणत्वानन्तत्वपरोवरीयस्त्वादिलिङ्गविरोधेऽभ्यस्ताया अपि श्रुतेर्दुर्बः लत्वात् । आकाशशब्द् आकाशत आकाशयतीति योगवशेन परमा-त्मपर एव । ननु ' सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' [ छा०१।९।१] इति शुत्यैवाऽऽकाशस्य जगस्कारणत्वावेदनाद्यथाश्रुताकाशस्यैव जगस्कारण-स्वमभ्युपेतव्यमिति चेन्न । ' सदेव सोम्येद्मग्र आसीत् । ' [ छा० ६ । २ । १ । ] 'आत्मा वा इदमेक एवाय आसीत्।' [ ऐ०:१ । १ । ] एको ह दे नारायण आसीदित्यादियोग्यार्थाननुवाद्रुपबहुवाक्यविरोध एकस्यानुवाद्रक्षपस्यायोग्यार्थस्यास्य वाक्यस्य दुर्बलत्वेन स्वार्थप्रतिपाद्-नसामर्थ्याभाषात् । अत आकाशशब्दो यौगिक्या वृत्त्या बह्मपर एव । यस्वत्र व्यासर्विरर्थाविरोध एव रूढिप्राबल्यमित्यपशूदाधिकरणनयोप-जीवनेनावयवशक्त्या निर्वाहो भाष्य उक्तः । खळ्यपरित्यागेनापर्यवसा-नवृत्त्याऽऽकाशशब्दस्याऽऽकाशशसीरकपरमात्मपरतया निर्वाहोऽप्यभि-मत इत्युक्तम् । तदुपायान्तरसंभवप्रदर्शनमात्रपरं न तु प्रकृताभिप्रायम् । अनन्यथासिद्धभूताकाशिङ्किसस्व एव ' जीवमुख्यपाणिङ्कात् । ' [ इ० सू० १ । ४ । १७ । ] इति सूत्रोक्तन्यायावतारात् । परविद्यासु जीवोक्तिर्निरुक्त्यादेः पराश्रया । तिलङ्गानन्यथासिन्द्वौ तिद्विशिष्टावलम्बिनी ॥

इत्याचार्योक्तेर्भूताकाशशरीरकाद्मह्मणः सकलचेतनाचेतनवर्गीत्पत्त्य-भावेन ' सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते '[ छा० १। ९। १। ] इत्यत्राऽऽकाशशब्दस्य भूताकाशशरीरकब्रह्मप्रतिपाद्-कत्वासंभवाचेति द्रष्टव्यमिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपा ठकस्य नवमः खण्डः॥ ९॥

प्रस्तावोद्गीथपतिहारभक्तित्रयविषयकोषासनानि विधातुमाख्यायि-कामाह-

> मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिई चाकायण इभ्ययामे प्रदाणक उवास ॥ १ ॥

चक्रस्य सुत उपस्तिनामा कश्चनिपरमवृष्टिकृतदुर्भिक्षदूषितेषु कुरुषु देशेष्वाटिक्याऽनुपजातपयोधरादित्यञ्जनया भार्यया सहेभ्यानां गजारो-हाणां ग्रामे प्रदाणकोऽनशनेन कुत्सितां गतिमापन्नो बह्मविद्याया निष्पत्तये प्राणानामनवसादं काङ्क्षत्नुवास । द्रा कुत्सायां गताविति हि धातुः । चक्रस्य गोत्रापत्यमित्यर्थेऽश्वादित्वात्फाञि चाक्रायण इति रूपम् ॥ १॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं विभिक्षे ।

सोऽन्नार्थ्यटन्कुत्सितान्माषान्खाद्नतिमिभ्यं याचितवान् । कुल्नापा-द्ञीति निर्देशात्कुत्सितमापार्थे कुल्मापशब्दस्य साधुत्त्वम् ।

> तः होवाच । नेतोऽन्ये वियन्ते यच ये म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

इतो मया मक्ष्यमाणादुच्छिष्टराशेः कुल्माषा अन्ये न विद्यन्ते । यद्यस्माद्धेतोरिमे कुल्माषा मे चये मदीये भक्ष्यचय उच्छिष्टराशावुप-निहिताः प्रक्षिप्ता अतः किं करोमीत्युपस्तिमिभ्य उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच । उच्छिष्टानामपि मध्ये मह्ममपि किंचिद्वहीति प्राधितवानित्यर्थः । तानस्मै पददो ।

तान्कुल्माषानुषस्तये दत्तवानित्यर्थः।

हन्तानुपानिमत्युच्छिष्टं वै मेपीत एस्यादिति होवाच ॥३॥ समीपस्थमुद्कं गृहीत्वा गृहाणानुपानिमतीभ्येनोक्तस्तदुद्कपानेनो-च्छिष्टोद्कपानं में स्यादिति प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥ ३॥

> न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादान्निति होवाच कामो म उदकपानमिति ॥ ४ ॥

किमेत इदानीं त्वया मत्तो गृहीताः कुल्मापा अनुच्छिष्टा इतीम्येन पर्यनुयुक्तः कुल्मापाखाद्ने स्वस्य जीवनहानिर्मवति। तावन्मात्रखाद्नेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोद्कपानं कामकारितं निपिद्धं स्यादित्युवा-चेत्यर्थः॥ ४॥

स ह लादित्वाऽतिशेषाञ्जायाया आजहार । स होपस्तिस्तान्मक्षयित्वाऽतिशिष्टाञ्जायाये दत्तवानित्यर्थः। साऽग्र एय सुभिक्षा वभूव तान्प्रतिगृह्य निद्धो ॥ ५ ॥

सा जाया प्रागेव लब्धान्ना बभूव तथाऽपि स्त्रीस्वभावाद्नवज्ञाय तान्कुल्मापान्पत्युर्हस्तात्प्रतिगृह्य निक्षिप्तवती ॥ ५ ॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्वता-त्रस्य लभेगहि लभेगहि धनमात्राम्।

स होपस्तिः शयनं परित्यजन्नेव पत्न्यां शृण्वत्यामिद्मुवाच । किं तत् । यद्यन्नस्य स्तोकमपि लभेमहि तेन प्राणान्धृत्त्वाऽल्पधनं लभे-महीत्यर्थः ।

कथं धनमात्रा लभ्यत इत्यत्राऽऽह्—

राजाऽसी यक्ष्यते स मा सर्वेरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥ राजाऽसी नातिदूरे यजते स मां हङ्घा सर्वाण्यार्त्विज्यानि त्वया कार-यितव्यानीति प्रार्थयेतेत्युवाचेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तं जायोवाच हन्त पत इस एव कुल्माषा इति। हे पते ये मद्भस्तनिक्षिप्तास्त्वया कुल्मापास्त इम एव। एतानगृहा-णेत्युक्तवतीत्यर्थः।

तान्खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥ तानेव पर्युषितोच्छिष्टान्कुल्माषान्भक्षयित्वा विस्तीणं यज्ञं गतवाः नित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश ।

आस्तुवन्त्यस्मिन्नित्यास्तावः स्तोत्रस्थानम् । सद्सि स्तोतुं प्रवृत्ताना-मुद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तृणां समीप उपविष्टवानित्यर्थः ।

स ह पस्तोतारमुवाच ॥ ८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मुर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

हे पस्तोतः प्रस्तावमक्तावध्यस्य या देवतोपास्या तामविदिखा यदि विदुषो सम समीपे प्रस्तोष्यासि मूर्था ते विपतिष्यतीत्यर्थः। यद्यपि 'तेनोभौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद' [छा०१।१।१०] इत्यविदुषोऽ-प्यार्त्विज्याधिकारोऽस्ति तथाऽपि विद्वत्संनिधावविदुषः कर्माधिकारो नास्तीति भावः ॥ ९ ॥

> एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्वास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१ ०॥ एवमेव प्रतिहर्तारमुदाच प्रतिहर्तया देव-ता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्य-तिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ते ह समारतास्तूष्णीमासांचिकरे ॥ ११ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपातकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

ते ह प्रस्तोत्राद्य उपरताः सन्तो मूर्धपात्भयात्तृष्णीमेव स्थिता इत्पर्थः ॥ ११ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य द्शमः खण्डः ॥ १० ॥

> अथ हैनं यजमान उवाच भग-वन्तं वा अहं विविदिषाणीति ।

को मवानिति भवन्तं ज्ञातुमिच्छामीत्युपस्तिं यजमान उक्तवा-

उपस्तिरस्मि चाकायण इति होवाच ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वेरार्त्विज्यैः पर्यै-षिषं भगवतो वा अहमविद्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥ भगवा स्त्वेव मे सर्वेरार्त्विज्येरिति ।

मगवन्तं सर्वगुणोपेतं श्रुत्वा सर्वाण्यान्तिवज्यानि मगवद्धीनानि कर्तुं मगवतोऽन्वेषणं कृतवानास्म । मगवत अविद्या विदिर्लाभो न विदि-रिवदिः । इक्रृष्यादिभ्य इतीक् । अविद्याऽलाभेनेमानृत्विजो वृतवा-नस्मि । इतः परमपि भगवानेव सर्वैर्ऋत्विक्कर्मभिर्वृत इत्युवाचेत्यर्थः । सर्वार्तिवज्यार्थं वृत इति यावत् ।

> तथेत्यथ तर्होत एव समितसृष्टाः स्तुवतां यावन्वेभ्यो धनं दयास्तावन्मम दया इति।

तथेत्यभ्युपगम्यानन्तरं त्वया पूर्वं वृता एत एव मया सम्यक्प्रसन्ने-नानुज्ञाता उपदिष्टदेवताः सन्तः स्तुवतां स्तुवन्तु । एभ्यो यावद्धनं प्रयच्छिसि तावन्मम दृद्या इत्युक्तवान् ।

तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद । उपस्तिवचनं श्रुत्वा प्रस्तोता विनयेन तत्समीपमागतवानित्यर्थः ।

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद-विद्वान्त्रस्तोष्यसि मूर्था ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

भगवान्मां प्रति प्रस्तोतर्या देवतेत्यादिना यां देवतामुक्तवान्सा देवता केति पप्रच्छेत्यर्थः ॥ ४ ॥

### प्राण इति होवाच।

प्राण एव प्रस्तावमन्वायत्ता देवतेत्युवस्तिरुवाचेत्यर्थः । अत्र प्राण-यितृत्वगुणयोगात्प्राणशब्देन परमात्मोच्यते । प्राणशब्दस्य मुख्यप्रा-णपरत्वं ध्यावर्तयति —

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सेषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ।

प्राणमभिलक्ष्य संविद्यानित समित्येकीकार ऐक्येन विद्यानित लीयनत इरपर्थ: । प्राणमभ्यु जिहते प्राणादेवोद्ग च्छन्तीत्पर्थ: । सर्ष भूतलपो-त्पत्तिस्थानत्वेन वेदान्तेषु प्रसिद्धा प्राणक्षपा देवता प्रस्तावभक्त्यनु-गता प्रस्तावभक्तावध्यस्योपास्येत्यर्थः।

> तां चेदविद्वान्त्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यप-तिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

तां चेद्दिद्वान्यस्तोष्यसि मुर्धा ते विपतिष्यतीति मदुक्तयनन्तरमपि मदुक्तिमनाद्दर्य तद्देवतामनभिज्ञाय यदि प्रास्तोष्यस्तदा मूर्धा ते व्यपतिष्यदेव । अतः साधुकृतं त्वया मत्समीपमागत्य विनयेन पृच्छ-तेति भावः । अत्र मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मधेत्युक्त्या विदुपैवमु-क्तस्याविदुपस्तद्नाद्रेण कर्मकरणे प्रत्यवायो न तु विदुपाऽनुमतस्या-ष्यविदुष इति भावः । व्यासार्थैस्तु मूर्धा ते व्यपतिष्पदित्यस्याऽऽत्म-सत्ता न लभ्येतेत्यर्थ इत्यात्मसत्ताहानिपर्यन्तः प्रत्यवायो वर्णितः ॥ ५ ॥

> अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वा-यत्ता तां चेदविद्वानुद्वास्यसि मूर्धा ते विपतिष्य-

तीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

पूर्वयद्रथः ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच।

उद्गीथेऽध्यस्योपास्य आदित्य इत्यर्थः ।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुचैः सन्तं गायन्ति सेषा देवतोद्रीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-नुदगास्यो मूर्घा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति॥७॥

उच्चै: सन्तमुचैः स्थितमधःस्थितानि भूतानि गायन्तीत्यर्थः । प्रस्ता-वप्राणयोः प्रशब्दवन्त्वेन साम्यवदुङ्गीथोचैःस्थितादित्ययोरुच्छब्दवन्त्वेन साम्यमिति भावः । शिष्टं पूर्ववत् ॥ ७॥

> अथ हैनं प्रतिहर्तापससाद प्रतिहर्तयां देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरि-ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भग-वानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥ अन्न-मिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूता-न्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सेषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्र-त्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्यैकादशः

खण्डः ॥ ११ ॥

प्रतिहरमाणानि भक्षयन्तीत्यर्थः । सन्तीति शेषः । अत्र प्रतिशब्द्वस्वेना-स्नप्रतिहारयोः साम्यात्प्रतिहारेऽस्नाभिमानिदेवताध्यासः। ततश्च प्रस्तावो-द्रीथप्रतिहारभक्तिषु क्रमेण पाणादित्यास्नदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । द्विकक्तिर्वि-

द्यासमाप्त्यर्था। एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते सम-न्वयाध्याये प्रथमे पादे प्राणस्य मूतजातिस्थितिप्रवृत्तिहेतुत्वसंमदात्प्राण-शब्देन मुख्यप्राण एवाभिधीयतामिति पूर्वपक्षे प्राप्ते शिलाकाष्टाच्चेतनस्व-रूपस्य शुद्धस्य जीवस्वरूपस्य च मुख्यप्राणाधीनस्थितित्वासंभवा-त्प्रसिद्धवन्निर्दिष्टसकलचेतनोत्पत्तिलयहेतुत्वस्य परमात्मव्यतिरिक्तेऽसंम-वाचेतनवाचिदेवताशब्दस्याप्यचेतने मुख्यपाणेऽसंभवाच परमात्मेव प्राणियतृत्वादियोगवशेनाभिधीयत इति 'अत एव प्राणः' [ब॰सू॰ १।१। २३] इति सूत्रेण सिद्धान्तितम् । ननु प्रस्तावोद्धीथप्रतिहारभक्त्यनुगत-त्वेन देवतात्वेन च निर्दिष्टेषु प्राणादित्यान्नेषु प्राणस्यैव परमात्मत्वमा-दित्यान्नयोस्तु न तथात्वमित्यत्र किं विनिगमकम् । चेतनवाचिद्वता-शब्दिखिष्वपि समानः । प्राणवाक्यशेषे प्रसिद्धपाणासंभावितासंकृचित-सर्वभूतसंवेशनोद्धमनाधारत्वशवणवदादित्याञ्चवाक्यशेषयोरप्यसंश्चवित-सर्वभूतगेयत्वसर्वभूतोपजीव्यत्वयोः प्रसिद्धादित्याञ्चासंभावितयोः श्रव-णाविशेषात्। यदि चाऽऽदित्यवाक्ये सर्वभूतशब्द् आदित्यगानयोग्यचेत-नविशेषपरतयाऽखवाक्यशेषेऽछोपजीवनयोग्यचेतनविशेषपरतया संको-च्यते । देवताशब्दश्च 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' वि० सू० २।१।५] इति सूत्रोक्तन्यायेनाभिमानिदेवतापरतया योज्यते तिहि प्राणोऽपि तथाऽस्तु विशेषाभावादिति चेदुच्यते-प्राणशब्दस्य 'प्राणस्य प्राणम् '। [बृ० ४।४।१८] 'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, [क ०६।२] इत्यादिषु परमात्मन्यपि निकडत्वात् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि ' [छा० १।११।९] इत्यादिवाक्यशेपस्वारस्याच पर-मारमपरत्वमाश्रितम् । अन्नादित्यशब्द्योरतथात्वाञ्चेतनवाचिदेवतः शब्दस्य केवलादित्यमण्डलालयोरभावासद्भिमानिदेवतापरत्वम् । अल्लाभिमा-निदेवतायाश्च भूतभक्ष्यत्वं तद्धिष्ठेयाञ्चाभेदारोपेणोपपद्यते । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यभुचैः सन्तं गायन्ति' [छा० १।११।७] इति प्रतिपादितं सर्वभूतगेयत्वं परमात्मनोऽपि न संभवति । भूतशब्दो हि प्राणिनिकाये महाभूतेषु च रुढ: । महाभूतस्य गातृत्वप्रसक्तेरेवाभावात्प्रा-णिनिकायपरत्वं वक्तव्यं तद्पि न संभवति । न हि सर्वे प्राणिनः पर-मात्मानं गायन्ति स्थावरेषु पश्वादिषु चाभावात् । तस्माद्गानयोग्यप्रा-णिविशेषपरत्वेन संकोचः परमात्मपरत्वेऽप्यावश्यक इत्यादित्यशब्दस्य लोकन्युरपत्तिविरुद्धपरत्वं नाऽऽश्रयणीयम् । एवमन्नवाक्यशेषेऽपि प्रतिहर्-

माणानीति मक्ष्यमाणत्वं न परमात्मिन मुख्यम् । अत आदित्याञ्चशब्द-योर्बद्धपरत्वामावेऽपि प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं सिद्धमिति द्रष्टव्यम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ९ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठक-स्यैकाद्शः खण्डः॥ ११॥

अतीतखण्डेऽन्नाप्राप्तिनिमित्तोच्छिटपर्युपितमक्षणलक्षणा कटाव-स्थोक्ता। अनन्तरमञ्चलामाय श्वहट उद्गीथः प्रस्तूयते— अथातः शौव उद्गीथः।

शौवः श्वदृष्ट उद्गीथः प्रस्तूयत इति शोषः। शौव इति टिलोप-श्ळान्द्सः।

तद्ध बको दालभो गलावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्दबाज॥१॥

अत्र वाशब्दश्यार्थे। वकग्लावनामद्वययुक्तो दृत्मसुतो मित्रासुतश्च स्वाध्यायं कर्तुं ग्रामान्निर्गतवानित्यर्थः॥ १॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्वभूव।

तत्स्वाध्यायेन तोपितः कश्चनिधः श्वेतज्ञुनकरूपतया पादुर्बभूवेत्यर्थः । तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः ।

तं श्वेतं श्वानं क्षुलकाः श्वान उपसमेत्योक्तवन्तः। अन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

वैशब्दोऽवधारणे वयं बुभुक्षिताः स्मः । अस्माकं गानेनान्नं भगवा-न्संपादयत्वित्यूचुरित्यर्थः ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसभीयातेति ।

श्वः प्रातःकालेऽस्मिन्नेव देशे मामुपगच्छतेति क्षुलकाञ्ज्ञनः श्वेतः श्वोवाचेत्पर्थः।

> तद्ध वको दालभो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥

वकग्लावनामधिः श्वेतश्वाद्यागमनं प्रतीक्ष्य स्थितवानित्यर्थः ॥ ३॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्य-माणाः सभ्रब्धाः सर्पन्तीत्येवमासस्पुः।

ते श्वेतश्वाद्यस्तत्रैव प्रातरागत्य बहिष्यवमानेन स्तोत्रेण स्तोष्य-माणा उद्गातृपुरुषा अन्योन्यस्पृष्टा गच्छन्तीत्येतद्यथा, एवमन्योन्यस्य पुष्छं मुखे गृहीत्वोपसर्पणं कृतवन्तः।

ते ह समुपविश्य हिं चकुः ॥ ४ ॥

हिंचक्क हिंकारं कृतवन्तः ॥ ४ ॥ ओ ३मदा ३मों ३ पिवा ३म ।

ओमिति गानोपक्रमेऽदाम मक्षयेम । ओं ३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २८८झमिहा २८८हरत्।

द्योतमानत्वाद्देवः, वियमाणत्वाद्वरुणः प्रजानां पालनात्प्रजापतिः । एवं मूतः सविताऽन्नमाहरत्वित्यर्थः ।

अन्नपते ३८न्नमिहा २८८हरा २८८हरो ३मिति ॥ ५॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अन्नपत इत्यादित्यस्य संबोधनम् । आहराहरेति द्विरुक्तिः प्रार्थ-नायाम् । इति गीतवन्त इत्यर्थः । अन्नपत इति मन्त्रकरणकादित्याध्या-सविशिष्टोद्गीथोपासनमन्नफलकमिति भावः ॥ ५॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥

सामावयवान्तर्गतस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराण्युपदिश्यन्ते— अयं वाव लोको हाउकारः।

हाउ इत्येवं लक्षणो यः सामसु स्तोभः सोऽयं लोक एतल्लोकत्वेनोपास्य इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि स्तोभशब्दोऽध्याहर्तव्यः । अयं स्तोभो रथन्तर-साम्नि प्रसिद्धः ।

## वायुर्हाइकारः।

हा इति स्तोभो वामदेव्यसाम्नि प्रसिद्धः । चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽप्रिरी-कारः॥१॥आदित्य उकारो निहव एकारः।

आह्वानमित्यर्थः।ह्वः संप्रसारणं च न्यभ्युपविष्विति ह्वेजोऽप्संप्रसारण-योनिहव इति रूपम् ।

विश्वे देवा औहोयिकारः प्रजा-पतिहिंकारः प्राणः स्वरः ।

स्वर इति स्तोभः प्राण इत्यर्थः।

अन्नं या।

या इति स्तोभोऽन्नमित्यर्थः।

वाग्विराट्॥ २॥

वागिति स्तोमो विराडन्नमित्यर्थो विराद्रपुरुषो वा ॥ १ ॥ २ ॥ अनिरुक्तस्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

हाउकारादिभ्यो द्वादशभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽधिको हुमिति त्रयोदशो यः स्तोभः स इदमिति निर्वक्तुमशक्ष्यतयाऽनिरुक्तत्वात्संचरो दोलायितः । ततश्च तत्र संचरत्वहृष्टिः कार्येत्यर्थः । ततश्च ह्वाउकारादिषु त्रयोदशस्-क्तृथिवीलोकादिहृष्टिः कर्तव्येति स्थितम् ॥ ३ ॥

तस्य फलमाह—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति । उक्तोऽर्थः ।

य एतामेव साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य त्रयोदशः

खण्डः ॥ १३॥

प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ।

सामावयवस्तोमाक्षरोपासनां यो वेदेत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायसमा-प्त्यर्था ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥ प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ।

सामावयवोपासनं पाङ्गिर्दिश्य समस्तस्य साम्न उपासनं तस्य प्रस्तौति—

ॐ समस्तस्य खलु साम्र उपासनः साधु ।

समस्तस्य पाञ्चविध्ययुक्तस्य साप्तविध्ययुक्तस्य वा समस्तस्य साम्नः साधुत्वेनोपासनं कार्यमित्यर्थः।

तत्रोपपत्तिमाह—

यत्वलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥ साध्वसाधुकर्मणी सामासामत्वेन व्यवहरन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ तदुताप्याहुः ।

तत्तस्मिन्विषयेऽन्यदृष्याहुः । किं तदित्यत्राऽऽह— साम्नेनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसा-म्नेनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः॥ २ ॥ सामासामोपायाभ्यामागतं प्रत्यिधंनं साध्वसाधुभ्यामागतं व्यवद्दर-

सामासामोपायाभ्यामागतं प्रत्यर्थिनं साध्वसाधुभ्यामागतं व्यवहर-न्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति । यत्कर्म साधु भवति तन्नोऽस्माकं साम बतेति सानुमोदाः प्रवदन्ति छोकाः ।

## साधु बतेत्येव तदाहुः।

साम नो बतेत्युक्त एव विषये साधुवतेति लोकाः प्रवद्नि । ततः सामसाधुशब्दावेकत्र प्रयुज्यमानौ हश्येते इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । असाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥ अतः सामसाधुशब्द्योरेकार्थप्रयोगात्समस्तस्य साम्नः साधुत्वेनो-पासनं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनः साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयभपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

एवं साधुत्वेन समस्तसामोपासकं ह प्रसिद्धमम्याशः क्षिपं साधु-धर्माः सर्व आगच्छेयुश्च भोग्येत्वेनोपनताश्च भवेयुरित्यर्थः । 'रमणी-यचरणा अभ्याशो ह ' [ छा० ५ । १० । ७ । ] इत्यत्राभ्याशोऽम्या-गन्तार इति व्यासार्थेर्व्याख्यातत्वादिहाप्यम्याश आगन्तारः साधवो धर्मा अभ्यागमनयोग्याः साधवो धर्मा अम्यागच्छेयुरिति वाऽर्थः । उपन-मेयुश्च मोग्यतां भजेयुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १॥

## लोकेषु पञ्चविधः सामोपासीत ।

हिंकारपस्तावोद्गीथपतिहारनिधनलक्षणपाञ्चविध्ययुक्तं क्रत्वङ्गभूतं सामोपासीत । पञ्चविधसामकर्मकमुपासनं लोकविषयकं कुर्यादित्यर्थः । 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तः' [ ब० सू० । ४ । १ । ६ ] इत्यधिक-रणेऽङ्गानङ्गसमभिव्याहारयुक्तोपासनेष्वङ्गेष्वनङ्गदृष्टिक्रपत्वस्य समर्थि-तत्वादङ्गभूते साम्न्यनङ्गलोकदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ।

तत्प्रकारमेव द्र्ययति—

पृथिवी हिंकारोऽियः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो यौर्निधनिमत्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥ अथाऽऽवृत्तेषु यौर्हिकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-मुद्गीथोऽियः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २॥

पृथिव्यादिषु द्युपर्यन्तेषूर्ध्वेषु द्युप्रभृतिषु पृथिवीपर्यन्तेष्वावृत्तेषु चोक्त-रीत्या हिंकारादिदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ तत्फलमाह—

कल्प्यन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्वाऽऽवृत्ताश्व य एत-देवं विद्वाः लोकेषु पञ्चविधं सामापास्ते ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अस्य लोकाः कल्पन्त उपासकभोगनिष्पादनसमर्था भवन्ती-त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वृष्टौ पञ्चविधः सामोपासीत ।

पूर्ववदेवात्र पञ्चिविधे साम्नि वृष्टिहृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावी वर्षति स उद्गीथो विद्यातते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम् । उद्ग्रहणं जलस्योद्ग्रहणं वर्षसमाप्तिः ॥१॥ वर्षति हास्मै ।

इच्छत इति शेष: । अस्येच्छायां सत्यां वर्षतीति यावत् । वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधः सामोपास्ते॥२॥

> इति च्छान्देश्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

11 9 11 7 11

अद्यापि य एवमुपास्ते स इच्छायां सत्यां वर्षं कारयतीत्यर्थः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य नृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥ सर्वास्वप्सु पञ्चिविधः सामोपासीत मेघो यत्संप्रवते स हिंकारो यद्दर्पति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः ।

आप इति शेप:।

याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्॥ १ ॥ न हाप्सु प्रेति ।

न प्रैति न म्रियत इत्यर्थः ।

अप्सुमान्भवति ।

प्रभूतोद्कसंपन्नो भवति । अपो योनियन्मतुष्वित्यलुक् । य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिवत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

ऋतुषु पश्चविधः सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥१॥ कल्पन्ते हास्मा ऋतवः ।

कल्पन्त उपासकस्य भाग्यनिष्पादनसमर्था भवन्तीत्यर्थः। कृतुमान्भवति ।

वसन्ताद्यृतुफलभोगशाली भवति ।
य एतदेवं विद्वानृतुषु पश्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिपदि द्वितीयप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

11 2 11 2 11 इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य पश्चमः खण्डः ॥ ५॥

पशुषु पञ्चविधः सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्दीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥१॥ भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥ इति च्छोन्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

स्पद्टोऽर्थः ॥ १॥ २॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

प्राणेषु पञ्चविधः परोवरीयः सामोपासीत । वरीयरत्वं ज्येष्ठत्वं परस्त्वं श्रेष्ठत्वं परस्त्वे सति वरीयस्त्वं परोवरीयस्त्वं परोवरीयस्त्वगुणकपाणहृष्ट्या पञ्चविधं सामोपासनं कर्तव्यमित्यर्थः । प्राणी हिंकारी वाक्पस्तावश्वक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रति-हारो मनो निधनं परोवशिया शसि वा एतानि॥१॥ प्राणादीनि परोवरीयांसि ॥ १ ॥ परोवरीयो हास्य भवति। उपासकस्य जीवनं श्रेष्ठं भवतीत्यर्थः। परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वानप्राणेषु पञ्च-विधः परोवरीयः सामोपास्ते इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

साम्न उपासनमुक्तं भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ सप्तविधस्य।

साम्न उपासनं प्रस्तूयत इत्यर्थः।

वाचि सप्तविधः सामापासीत।

हिंकारप्रस्तावोंकारोङ्गीथप्रतिहारोपद्ववनिधनाख्यसप्ताविधायुक्ते साम्नि वक्ष्यमाणप्रकारेण वाक्छव्दितशब्द्दृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ।

यत्किंच वाचो हिमिति स हिंकारः।

वाचः शब्दस्यावयवभूतो हिमिति यः शब्दः स हिंकारो हिंकारस्य हिंशब्दवस्वसाद्यात्। ततश्च हिंकारे लोके हिंशब्दा यावन्तस्तद्बुद्धिः कर्तब्येत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि।

यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥ प्रस्तावे सर्वत्रप्रशब्दत्वबुद्धिः कर्तव्या। उद्गीथेऽप्याद्यावयवभूत ओंकारे अ इति शब्दबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ १ ॥

> यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥ दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति ।

वाक्संबन्धी यो दोहोऽस्ति वाक्साध्यं यत्फलं तत्फलमुपास्यमाना वागस्मा उपासकाय दुग्धे प्रयच्छति॥ २॥

य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधः सामोपास्ते॥ ३॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठक-

स्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

॥ ३॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्या-ष्टमः खण्डः॥ ८॥ अथ खल्वमुमादित्य सप्तविध सामापासीत । सप्तविधे साम्न्यादित्यबुद्धिः कर्तव्वेत्यर्थः । सामादित्ययोरैक्याध्यासहेतुसाह्—

सर्वदा समस्तेन साम।

आदित्यस्य सर्वदा समपरिमाणत्वेन समत्वात्सामत्वम् ।

मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

लोके ह्यादित्यो मां प्रति समोऽभिमुखों मां प्रति सम इति प्रतीयते पुरुपविशेषं प्रत्याभिमुखस्य पुरुपविशेषं प्रत्यनाभिमुख्यस्य वाऽभावात्। अतः सर्वं प्रति समत्वाद्षि सामत्वम् ॥ १॥

तस्मित्रिमानि सर्वाणि भूता-न्यन्वायत्तानीति विद्यात्।

सर्वभूतोपजीव्यतयाऽऽदित्यमुपासीतेत्यर्थः ।
भूतानामुपजीवनप्रकारं कालभेदेन दर्शयति—
तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारसाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

तस्याऽऽदित्यस्योद्यात्पूर्वं यद्भूपं स हिंकारः । हिंकारे तद्भूपहृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । अस्याऽऽदित्यस्य हिंकाराख्यं तद्भूपं पशव उपजीवन्ति । हि यत एव त एतस्य साम्नः सामरूपस्याऽऽदित्यस्य संबन्धिहिंकारलक्षणरूपोपजीविनस्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति अत एव पशवो हिमिति शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायनास्तस्माने प्रस्तुतिकामाः प्रशन्सा-कामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्रः॥३॥

प्रथमोद्यकालावच्छिन्न आदित्यः प्रस्तावः । अस्य तथाविधं रूपं
मनुष्या उपजीवन्ति यतस्ते प्रस्तावाख्यप्रथमोदितादित्यरूपोपजीवनः ।
अत एव मनुष्याः प्रस्तुतिकामा भवन्ति । प्रस्तुतिकामा इत्यस्य विवरणं प्रशंसाकामा इति ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलाया स्स आदिस्तदस्य वया स्यन्वा-यत्तानि तस्मात्तान्यन्ति रिक्षेऽनारम्बणान्यादायाऽऽ-त्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि होतस्य साम्नः॥४॥

तानि वयांसि पक्षिणोऽनारम्बणान्यालम्बनान्तरश्चन्यान्येवाऽऽत्मा-नभेवावलम्बनत्वेनाऽऽदायाऽऽकाशे परिपतन्ति । संङ्गवकालादित्यसं-बन्ध्यादिशब्दितोकारक्षपोपजीवित्वादेवाऽऽदाय परिपतनं पक्षिणामि । त्यर्थः । आदिशब्दादायशब्दयोराकारदकारवत्त्वसाम्यमिहामिषेतम् ॥४॥

> अथ यत्संप्रति मध्यंदिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तरूमात्ते सत्तमाः प्राजापत्या-नामुद्गीथभाजिनो होतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

संप्रति मध्यंदिन ऋजुमध्यंदिन इत्यर्थः। प्राजापत्यानां मध्ये ते सत्तमा उत्तमा इत्यर्थः। उद्गीथसत्तमशब्द्योः संयुक्ततकारश्चितिमत्त्वसाम्यादुप-जीव्योपजीवकमावोक्तिर्दृष्टव्या ॥ ५ ॥

> अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहार-स्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपयन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६॥

सवितुः प्रतिहारमिक्तिरूपोपजीवित्वादेवोध्वं प्रतिहताः सन्तो गर्भा नावपद्यन्ते द्वारे सत्यपि नाधःपतन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

> अथ यदूर्ध्वमपराह्यात्मागस्तमयात्समुपद्रवस्तदस्याऽऽ-रण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दङ्घा कक्षश्र श्वभ-मित्युपद्रवन्त्युपद्रव भाजिनो होतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अँदित्यसंबन्ध्युपद्रवभक्तयुपजीवित्वादेव पुरुपदर्शनभीतानामार-ण्यानां कक्षश्वम्रादिषूपद्रवणमित्यर्थः ॥ ७ ॥

> अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्यायचास्तस्माचान्निदधति निधन-

भाजिनो ह्येतस्य साम्र एवं खल्वमुमा-दित्यः सप्तविधः सामोपास्ते ॥ ८ ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

श्राद्धकर्तारो हि दर्भेषु पितृन्निक्षिपन्ति तदर्थान्पिण्डान्वेत्यर्थः । उक्तमुपासनमुपसंहरत्येवं खल्वसुमित्यादिना ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ खल्यात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधः सामोपासीत हिंकार इति ज्यक्षरं प्रस्ताव इति ज्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अथाध्यस्तादित्यभावसप्तविधसामोपासनोपदेशानन्तरमितक्कान्तादित्यसप्तविधसामोपासनमुपिदृश्यत इत्यर्थः । अत्र मृत्युशब्देनाऽऽदित्योऽभिधीयते । आदित्यस्याहोरात्रकालावर्तनेन जगन्नाशहेतुत्वान्मृत्युत्वम् ।
आत्मसंमितमात्मना स्वेषामेषामेव ज्यक्षरत्वेन परस्परसंमितत्वकथनादातमसंमितत्वम् । द्वाविंशत्यक्षरात्मकस्य सप्तविधसाममिक्तविशेषस्यैकविंशतिलक्षणादित्यसंख्यातिरेकित्वादितमृत्युत्वम् । आत्मसंमितत्वातिमृत्युत्वपकारमेव दर्शयति हिंकार इतीत्यादि । अत्रश्चेतयोरुभयोः समः
त्वादेवाऽऽवापोद्वापौ न कर्तव्यावित्यर्थः ॥ १ ॥

आदिरिति व्यक्षरं मितहार इति चतु-रक्षरं तत इहेकं तत्समम् ॥ २ ॥

चतुरक्षरादेकमक्षरं गृहीत्वा द्यक्षरे निवेशिते समं भवतीत्यथः ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्भव इति चतुर-क्षरं त्रिभिस्तिभिः समं भवत्यक्षरम- तिशिष्यते त्रयक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥ उपद्मव इति चतुरक्षर एकस्मिन्नक्षरे पृथकृते सत्यवशिष्टं त्रयक्षरं सममेव भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

निधनमिति व्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविश्शतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः॥ ४॥

एकवि श्रात्याऽऽदित्यमामोत्येक-विश्शो वा इतोऽसावादित्यः ।

'द्वाइश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकधि शाः' इति श्रुतेः । यत आदित्यस्यैकविंशत्वमतः सप्तविधमक्तीनामाक्षरगतैक-विंशतिसंख्ययैकधिंशतिसंख्याकमादित्यं प्राप्नोति । आदित्यसालोक्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

> द्वाविश्शेन परमादित्याज्ञयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

अविशटेन द्वाविंशेनाक्षरेणाऽऽदित्यात्यरं दुःखासंभिन्नं लोकं प्राप्नो-तीत्पर्थः ॥ ५ ॥

अभोति हाऽऽदित्यस्य जयम् ।

इह लोक आदित्यजयं प्राप्तोतीत्यर्थः ।

परो हास्याऽऽदित्यजयाज्ययो भवति य

एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधश्र सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

य एव मुपास्ते तस्याऽऽदित्यजयात्सर्वोत्कर्षो भवतीत्यर्थः ॥६॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥ अथ गायत्ररथंतरादिसामोपासनं प्रस्त्यते-

मनो हिंकारी बाक्पस्तावश्रक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनम् ।

गायव्याख्यस्य साम्नो हिंकारादिपञ्चविधमक्तिषु मनआदिदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः।

## एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अनेनाऽऽकारेण गायज्याख्यसाम्नो मनआदिपाणानां चाध्यासाधि-ठानभावलक्षणसंबन्धेन परस्परसंबद्धमित्यर्थः॥

> स य एयमेतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशु-भिभवित महान्कीत्या महामनाः स्यात्तद्वतम्॥ २॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि दितीयप्रपाठकस्यै-कादशः खण्डः॥ ११ ॥

महाममस्कत्वं वदान्यमनस्कत्वं ज्योगुज्ज्वलो व्याध्यादिमिरनुपहत इत्पर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठक-स्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

> अभिमन्थति स हिंकारी धूमो जायते स पस्तावी ज्वलित स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाष्यिति तन्निधन स्थाप्यति तन्निधनम् ।

उपशमः सावशेषः शमो निःशेष उपशमः ।

एतद्रथंतरमशौ प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथंतरमग्नी प्रोतं वेद ब्रह्म-वर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरोति ज्योग्जी-वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङिग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्वतम् ॥२॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२॥

अग्नेरिममुखो न मक्षयेत्, श्लेष्मादिनिरसनं च न कुर्यादित्यर्थः ॥२॥ इति च्छान्दोरयोपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः। उपमन्त्रणं संकेतकरणं ज्ञपनं तोषणं मारणतोषणानिज्ञामनेषु मित्वा-ज्जाधातोर्ज्ञस्वः।

स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः।

एकपर्यङ्कोपवेशनं सह शयनम् । प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः ।

श्चिया आभिमुख्येन शयनमित्यर्थः । कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनम् ।

मेथुननिवृत्तिरित्यर्थः।

एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रीतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रीतं वेद मिथुनी भवति । सर्वदा स्त्रिया अवियुक्तो भवतीत्यर्थः । मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते ।

अमोघरेता भवतीत्यर्थः ।

सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्यजया पशाभि-र्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्वतम् ॥२॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३॥

प्रार्थयमानाभिति शेष: । प्रार्थयमानसर्वयोषिद्गमनस्य वामदेव्योषा-सनाङ्गत्वेन विधानात्परदारगमनप्रतिपेधव बनानि तद्तिरिक्तविषयाणि द्रष्टव्यानि ।

इति च्छान्द्राग्योपनिपत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥

उयन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यंदिन उद्गीथः। मध्यंदिनकालावच्छिन्न आदित्य उद्गीथ इत्यर्थ:। अपराह्नः प्रतिहारः। अपराह्मकालाविकान्न आदिखः प्रतिहारः । अस्तं यन्निधनम् ।

यनगच्छन्नित्यर्थः ।

एतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्बृहदादित्ये भोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशु-भिर्भवति महान्कीत्यां तपन्तं न निन्देत्तद्वतम् ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

तपन्तमादिरयं न निन्देदित्यर्थः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकार्या द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्द्शः खण्डः ॥ १४ ॥

अश्वाणि संप्रवन्ते स हिंकारः ।

संप्रवः संचारः।

मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षाते स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्देरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

वैद्धपाख्यं सामेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एवमेतदै रूपं पर्जन्ये प्रोतं बेद विरूपास्थ्य सुरूपास्थ्य पश्चनवरुन्धे।

विक्रपान्विरुद्धनानारूपान्सुरूपाञ्शोभनरूपानवरुन्थे प्राप्नोतीत्यर्थः।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्वतम् ॥ १२ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
पश्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

वसन्तो हिंकारो ब्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्यतिहारो हेमन्तो निध-नमतहैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वैराजाख्यं सामेत्यर्थः ॥ १ ॥
स य एवमेतद्वेराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजित
प्रजया पशुभिर्बह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति
ज्योग्जीवित महान्प्रजया पशुभिर्भविति
महान्कीर्यर्तुन्न निन्देत्तद्वतम् ॥ २ ॥

# इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य षाडशः खण्डः ॥ १६ ॥

11211

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः॥ १६ ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो यौरु-द्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधन-मेताः शक्तर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

शक्कपांख्यं सामेत्यर्थः । शक्कपं इति नित्यं बहुवचनम् ॥ १ ॥ स य एवमेताः शक्कपों लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रज्या पशु-भिर्भवति महान्कीत्यां लोकान्न निन्देत्तद्वतम्॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

11 7 11

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य सप्तद्शः खण्डः ॥ १७ ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१॥ रेवत्य इत्यपि शक्कर्य इतिविज्ञत्यं बहुवचनम् ॥१॥ स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशु-मान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवित महान्प्रज्या पशुभिर्भवित महान्कीर्त्या पशुन्न निन्देत्तद्वतम्॥२॥

## इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्या-ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्याष्टाद्शः खण्डः ॥ १८ ॥

लोम हिंकारस्त्वक्पस्तावो माश्समुद्रीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनभेतयज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतयज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति । समग्राह्मयुक्तो मवतीत्यर्थः ।

नाङ्गेन विहूर्छति ।

शङ्गिन हस्तपादादिना कुटिलो न भवतीत्यर्थः । हुछां कौटिल्य इति हि भातुः ।

सर्वमायुरोति ज्योग्जीवाति महान्प्रज्ञया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या संवरसरं मज्ज्ञो नाश्रीयात्तद्वतम् ।
मज्जाङ्यमांसविशेषानिस्यर्थः ।

मज्ज्ञो नाश्रीयादिति वा ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्यै-कोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

सर्वदेति शेषः ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अग्निहिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतदाजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥ राजनारवं सामेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एवमेतदाजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासा-मेव देवताना सलोकता सार्षिता सा-युज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीविति। मार्हिता समानार्धित्वं सायुज्यं समानमोग्यत्वम् । महान्त्रजया पशुभिर्भवति महान्की-त्या बाह्मणान्न निन्देत्तद्वतम्॥२॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य विंश: खण्ड: ॥ २०॥

' एते वै देवाः पत्यक्षं यद्वाह्मणा इति श्रुतेर्वाह्मणादीनि देवतानि न निम्देदिति भावः॥ २॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाटकस्य विंदा: खण्ड: ॥ २०॥

त्रयी विद्या हिंकारस्रय इमे लोकाः स पस्तावोऽ-विर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाःसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्वा गन्धर्वाः पितरस्त-न्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्त्रोतम् ॥ १ ॥

अत्र सामविशेषानिर्देशात्सामशब्दः सामसामान्यपरः ॥ १ ॥ स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्त्रोतं वेद सर्व इ भवति ॥ २ ॥ काम्यमानं सर्वमाप्तोतीत्यर्थः ॥ २ ॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

त्रीणि त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोका इत्युक्तानि पानि त्रीणि हिंकारादि रूपेण पञ्चधा मवन्ति । अतः परमुरकृष्टं श्रेपः किमपि नास्ति॥३॥

यस्तद्देद स वेद सर्वम्।

एतदुपासकः सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः।

सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति।

सर्वदिग्वर्तिनोऽपि वशीकृता अस्मा उपासकायोपहारान्सम-र्पयन्ति।

> सर्वमस्मीत्युपासीत तद्वतं तद्वतम् ॥ ४॥ इति च्छान्दोग्योपनिपदि द्वितीयप्रपाठकस्यै-कविंशः खण्डः ॥ २१॥

सामसामान्य उक्तरीत्या सर्वस्याऽऽश्रयत्वेन स्वाभिन्नत्वेन घोपासना कर्तव्येत्यर्थः । द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥ इति च्छान्द्रोग्योपनियत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्यै-कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

एवं सामोपासनं समाप्य गानविशेषानुद्गातुरुपदिशति— विनर्दि साम्रो दृणे पशव्यमिति ।

विशिष्टो नर्दः स्वरविशेषः सोऽस्यास्तीति विनर्दि। गानमिति वाक्यं-शेषः। साम्नः सामसंबान्ध पशव्यं पश्चितिम्। उगवादिभ्यो यदिति यत्। सामसंबन्धि विनर्दि गानं बुणे प्रार्थयेत । पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः।

अग्नेरुद्रीथोऽनिरुक्तः।

अग्निदैवत्यमुद्गानमनिरुक्तोऽस्पष्टं भवति । अस्पष्टो गानविशेषोऽग्निपी-तिहेतुर्भवतीत्यर्थः ।

प्रजापतेर्निरुक्तः ।

निरुक्तः स्पष्टो गानविशेषः प्रजापतिदैवत्यः प्रजापतिशितिहेतुरित्यर्थः। सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिनद्रस्य । बलवत्ययस्तोषेतिभित्यर्थः।

कौञ्चं बृहस्पतेः।

क्रीञ्चपक्षिनाइसमं बाईस्पत्यं गानमित्पर्थः। अपध्वान्तं वरुणस्य।

भिन्नकांस्यरवसमं वाक्रणगानमित्यर्थः ।

तान्सर्वानेवापसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत ।

अपध्वान्तगानव्यतिरिक्तान्सर्वानुद्रीथानुपसेवेतेत्यर्थः ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत् ।

अमृतत्वप्राप्तिमागायानि गानेन साधयानीति गानं कुर्यादित्यर्थः। यथापार्थनं फलं भवतीति भावः।

> स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्ये-तानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

एतानि देवामृतस्वादीनि फलानि मनसा ध्यायन्स्वरादिष्वप्रमत्तः स्तोत्रं कुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्याऽऽत्मानः।

अचः स्वरा आत्मानोऽवयवसहशाः।

सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः ।

कादयो मावसानाः स्पर्शाः।

तं यदि स्वरेषूपालभेत ।

एवंविद्मुद्गातारं यदि कश्चिदागत्य त्वया दुष्टः स्वरः प्रयुक्त इत्युपा-लम्भं कुर्यात्।

इन्द्रः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा पति वक्ष्यतीत्येनं न्यात्॥ ३॥ इन्द्र एव तव प्रत्युत्तरं दास्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ अथ ययेनमूष्मसूपालभेत प्रजापति शरणं प्रप-न्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् । त्वा प्रति त्वां प्रति पेक्ष्यति चूर्णयिष्यतीत्यर्थः । पिष्छ संचूर्णन इति धातुः।

अथ यद्येन १ स्पर्शेषूपालभेत मृत्यु १ शरणं प्रप-न्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं द्रूयात् ॥ ४ ॥ धक्ष्यति भस्मी करिष्यतीत्यर्थः । दह भस्मीकरण इति हि धातुः॥४॥ सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति । घोषवत्तया बलवत्तयोज्ञारणिमन्द्रस्य बलाधायकिमत्यर्थः ।

सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः ।

अग्रस्ता अनन्तरप्रवेशिताः । अनिरस्ता बहिरक्षिप्ताः । निरस्तं त्वरितोदितमित्यमरः । विवृता विवृतप्रयत्नोपेताः ।

प्रजापतेरात्मानं परिददानीति ।

ऊष्मणां प्रजापस्यात्मकत्वाद्यस्तत्वादियुक्तोष्मोचारणे प्रजापतेरात्म-लाभो भवतीत्यर्थः ।

सर्वे स्पर्शा लेशेनानिभिनिहिता वक्तव्याः ।
लेशेनाल्पशोऽनिभिनिहिता अनिभक्षिप्ता अहुतोचारिता इति पावत्।
मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य द्वाविंशः

खण्डः ॥ २२ ॥

सर्वेषां स्पर्शानां मृत्य्वातमकत्वात् स्पर्शानां तेषां दोषेभ्यः परिह्न-त्योज्ञारणे मृत्योरात्मैव दोषेभ्यः परिह्नतो भवतीति भावः । इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

ओंकारेण बह्योपासनं विधातुं प्रस्तौति— त्रयो धर्मस्कन्धाः।

धर्मसाधका मार्गाः ।

यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः।

यज्ञाध्ययनदानशब्दैर्गृहस्थाश्रम उच्यते । अध्ययनशब्दो वेदाभ्या-सपर: ।

#### तप एव द्वितीयः।

तपःशब्देन वैखानसपारिव्यययोर्घहणसुभयोस्तपःप्रधानत्वात् । तपः-शब्दो हि कायक्केशे रुटः स च द्वयोरपि समानः।

> बह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्य-न्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् ।

अत्यन्तमाचार्यकुले नियमैर्देहं क्षपयंस्तृतीय आश्रम इत्यर्थः। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति बहास श्रूथोऽमृतत्वमेति॥ १॥

एवं त्रित्वेन संगृहीतानां चतुर्णामाश्रमाणां मध्ये यो ब्रह्मनिष्ठः स मुक्तिभाग्मवति । बद्धानिष्ठाविकलाः केवलाथमिणः पुण्यलोकमाजो भवन्तीत्यर्थ: । एवमेव हि 'अनुष्ठेयं बाद्रायणः साम्यश्रुतेः' [ ब॰ सू॰ ३ । ४ । १९ ] इत्यत्र भाषितम् । न चात्र ब्रह्मसंस्थशब्दात्संन्यासा-श्रमप्रतिपत्ति।रिति शङ्क्यम् । ब्रह्मसंस्थशस्त्रस्य प्रोक्षणीन्यायेन योगेनैव वृश्युपपत्ती संन्यासे रूढेरनवगन्तव्यत्वात्, योगमाञ्चस्य चाऽऽश्रमान्तरसा-धारणत्वान्न ब्रह्मसंस्थशब्देन संन्यासाश्रमग्रहणे प्रमाणं पश्यामः । न च संपूर्वस्य तिष्ठतेः समाप्तिबाचकत्वाद्नन्यव्यापारत्वलक्षणाया ब्रह्माण समाप्तः संन्यासिध्ववाग्निहोत्रादिकर्मान्तरध्यग्राश्रमान्तरेष्वसंमवाद्वह्य-संस्थशब्देन परिवाडेवोच्यत इति वाच्यम् । स्वाश्रमोचितकर्मव्यग्रताया संन्यासिष्वप्यविशिष्टत्वात, तद्तिरिक्तव्यापारराहित्यस्य सर्वाश्रमेष्वपि संभवात, न बह्मसंस्थशब्देन चतुर्थाश्रमपरामर्शहेतुं पश्यामः ॥ १॥

एवं बह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीत्यमृतत्वसाधनं बह्मोपासनमुक्त्वा तत्प्रण-वाङ्गकमिति वक्तं प्रणवं स्तौति-

प्रजापतिलोंकानभ्यतपत् ।

सारनिष्कर्षाय लोकान्पर्यालोचयदित्यर्थः।

तेभ्योऽभितमेभ्यस्रयी विद्या संशास्त्रवत् ।

त्रयी विद्या सारत्वेन निष्पन्नाऽभवदित्यर्थः।

तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संपास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति - 11

तान्यभ्यत्तपत्तभयोऽभितप्तभय ॐकारः संप्रास्रवत्तयथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेदश् सर्वमोंकार एवेदश् सर्वम् ॥ ३॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३॥

यथा सर्वाणि पत्रजातानि पर्णनालेन व्याप्तानि भवन्त्येवमोंकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेरोंकारेणैव सर्वा वाग्व्याप्ता । अत ॐकार एव सर्वं वाङ्गयम् । अत ओंकारेण ब्रह्मोपासनं कर्तव्यामिति पर्यवसि-तोऽर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३॥

पसङ्गात्कर्माङ्गाणि कानिचिव्धियातुं प्रस्तौति—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनः

रुद्गाणां माध्यंदिनः सवनमादित्यानां च

विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ ३ ॥

क तर्हि यजमानस्य लोक इति ।

प्रातः सवनमाध्यं दिनसवनतृतीय सवनेश्वरैर्व सुरुद्गादित्य विश्वदेवैः पृथ-व्यन्तरिक्षस्व लोकानां वशीकृततयाऽवशिष्टस्य लोकस्याभावाद्य जमानस्य लोकः कास्तीति वेदितव्यमित्यर्थः।

स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यात् । यस्य यजगानपाष्यलेकस्थानज्ञानं नास्ति सोऽज्ञः कथं कुर्यात् । अथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

तस्माहोकस्वीकरणोपायभूतं वक्ष्यमाणं सामगानहोममन्त्रोत्थान-लक्षणं ज्ञात्त्वेव कुर्यादित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ तदेवाऽऽह—

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्यवनेन गार्हपत्यस्यो-दङ्मुख उपविश्य स वासवः सामाभिगायति॥३॥

पातरनुवाकारम्भात्प्राग्गाईपत्यस्य पश्चादुद्रमुख उपविश्य वसुदै-वत्यं साम गायेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेव सामाऽऽह—

लो ३कदारमपावा ३र्णू ३ ३पश्येम वय रा३३३३३ । हु३म् आ३३ ज्या-३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४ ॥

हेऽझे पृथिवीलोकपाप्तये द्वारमपावृणु तेनापावृतद्वारेण खां राज्याय फलाय पश्येमेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ जुहोति।

अथानन्तरमनेन मन्त्रेण जुहोतीत्यर्थः । होममन्त्रमेवाऽऽह-

> नमोऽप्रये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमा-नाय विनदेष वे यजमानस्य लोक एताऽस्मि ॥ ५ ॥

> > अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वा-हाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ।

पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवासाय लोकनिवासायाग्रये नमः । मह्यं यज-मानाय लोकं विन्द् लम्भयस्य । एप वै मम यजमानस्य लोकोऽस्मि-हुँकि आयुषः परस्तान्मरणादृध्वमेताऽस्म्यागन्ताऽस्मि। स्वाहेति जुहोति परिघं लोकद्वारार्गलमपजद्यपनय, इत्येतं मन्त्रमुक्त्वोत्तिष्ठतीत्यर्थः।

तस्मै वसवः प्रातःसवन् संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

पातः सवनसंबन्धिलोकं पृथिवीलोकं प्रयच्छन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

पुरा माध्यंदिनस्य सवनस्योपाकरणा-ज्ञघनेनाऽऽमीधीयस्योदङ्मुख उपविश्य। आग्नीधीयस्याग्नेरित्यर्थः ।

स रौद्रश्र सामाभिगायित ॥ ७ ॥
लो ३कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम
त्वा वयं वैरा ३३३३३ हु ३म आ ३३
ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ द्वित ॥८॥
वैराज्यायान्तरिक्षलोकफलपाप्तय इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥
अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते
लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष
वै यजमानस्य लोक एताऽस्मि॥ ९ ॥

अथ नमो वायव इति मन्त्रेण जुहोतीत्यर्थः । अन्तरिक्षक्षितेऽन्तारि-क्षनिवासायेत्यादि पूर्ववदुन्नेयम् ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजिह परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठाति तस्मै रुद्रा
माध्यंदिनः सवनः संप्रयच्छिन्ति ॥१०॥
माध्यंदिनं सवनं माध्यंदिनसवनसंबन्धिलोकम् ॥ १०॥
पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यः
स वैश्वदेवः सामाभिगायति ॥ ११॥

आहवनीयस्याग्नेरित्यर्थः । आदित्यमादित्यदैवत्यं वैश्वदेवं विश्वदेव-दैवत्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

तत्राऽऽदित्यं सामाऽऽह-

लो ३कद्वारमपावा ३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयः स्वारा ३३३३ हु३म् आ३३ ज्या-३ यो ३ आ ३२१११ इत्यादित्यम् ॥१२॥ स्वाराज्याय स्वर्गलोकायेत्यर्थः ॥१२॥ अथ वैश्वदेवम् । सामोच्यत इति शेपः।

लो ३ कद्वारमपावा ३ णू ३ ३ पश्येम त्वा वय \* साम्रा३३३३इ३म् आ३३ ज्या-३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

साम्राज्यायोत्तमस्वर्गफलायेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्व विश्वेभ्यश्व देवेभ्यो दिविक्षिद्धचो लोकक्षिद्धचो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥ एष वै यजमानस्य लोक एताऽसम्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽप-इत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

सर्वं पूर्ववद्रष्टव्यम् । आदित्यानां विश्वदेवानां च बहुत्वाद्विन्दताप-इतेति बहुवचनम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

> तस्मा आदित्याश्व विश्वे च दे-वास्तृतीयसवनः संप्रयच्छन्ति।

तृतीयसवनं तत्फलं स्वर्गमित्यर्थः।

एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद। मात्रां याधातम्यमित्यर्थः।

य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्विशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ २ ॥

य एवं कर्तुं वेदेत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्विशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ २ ॥

मधुविद्या प्रस्तूयते—

असौ वा आदित्यो देवमधु।

असावादित्यो वस्वादीनां देवानां मोदहेतुत्वान्मधु। अत्र मधुत्वदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ।

मधुत्वोपयोगीनि संपादयति-

तस्य यौरेव तिरश्चीनवश्शः।

तस्य मधुनो द्युलोक एवाऽऽधारभूतस्तिर्यक्प्रसारितो वंशः। अन्तरिक्षमपूपः

अन्तरिक्षं मध्वपूपः । मध्वाश्रयो हि तिरश्चीनवंशलग्नः सहँम्बत एवमन्तरिक्षमपि द्वालोकलग्नं लम्बत इव भातीत्यतो मध्वपूपत्वम् ।

मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

मरीचिशब्देन मरीचिस्थाः सवित्राकृष्टा भौम्य आप उच्यन्ते । ताः अमरबीजभूता मध्वपूपच्छिद्रस्थाः सूक्ष्मकीटा पुत्रा इव पुत्रा इत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्चा रश्मयः।

तस्याऽऽदित्यस्य ये प्राञ्चो रशमयः।

ता एवास्य प्राच्यो मथुनाडचः।

ता एव प्राग्दिगविद्यक्ता मधुनाडचो मधुच्छिद्राणि। ऋच एव मधुकतः।

ऋङ्मन्त्रा एव भ्रमराः।

ऋग्वेद एव पुष्पम्।

ऋग्वेद्विहितं कर्म पुष्पस्थानीयम्।

ता अमृता आपः।

ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यएयोक्षपा आपोऽझौ प्रक्षिप्ताः पाका-भिनिर्वृत्ता अमृता अत्यन्तरसवत्यो भवन्ति ।

ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपन् ।

ता वा एता ऋचो भ्रमरस्थानीयाः पुष्पेभ्यो रसमाद्दाना भ्रमरा इवैतहग्वेद्विहितं कर्म पुष्पस्थानीयमभ्यतपन्नभितापं कृतवत्य इव ।

> तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नायः रसोऽजायत ॥ ३ ॥

यशस्तेजइन्द्रियवीर्यान्नाद्यलक्षणो रसोऽजायतेत्यर्थः । ऋग्मिर्मन्त्रेः स्तोत्रशस्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्मं मधुनिर्वर्तकं सोमाज्यादि-रसं मुश्चिति पुष्पमिव भ्रमरेराचूष्यमाणं, तेन च यशस्तेजइन्द्रियवीर्यादिलक्षणं फलमुत्पन्नं भवति ॥ २ ॥ ३ ॥

तद्वचक्षरत्।

तद्यशआदिलक्षणं फलं विशेषणागमत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् ।

गत्वा चाऽऽवित्यमभित आश्रितवदित्यर्थः।

तद्दा एतयदेतदादित्यस्य रोहित श्रह्म ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयभपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १॥

आदित्ये प्रत्यक्षतः परिदृश्यमानं यद्गोहितरूपं तत्कर्मनिर्वत्यं यशस्ते-जआदिलक्षणफलरूपमित्यर्थः । रोहितरूपे तद्बुद्धिः कर्तव्येति यावत् ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाडचे। यजू श्चिव मधुक्ततो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥
तानि वा एतानि यजुरूष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपर्श्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज
इन्द्रियं वीर्यमन्नाचर्थ रसोऽजायत॥ २ ॥
तब्धक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्दा
एतचदेतदादित्यस्य शुक्क्र्रं रूपम् ॥ ३ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्यदितीयः खण्डः ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ येऽस्य प्रत्यश्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाडचः सामान्येव मधुक्ठतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥ तानि वा एतानि सामान्येत सामवेदमभ्य-तप स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमञ्चाय रसोऽजायत ॥ २ ॥ तव्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतय-देतदादित्यस्य कृष्ण स्तपम् ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

इस्ति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः॥ ३ ॥

अथ येऽस्योदश्चा रश्मयस्ता एवास्यो-दीच्या मधुनाडचोऽथर्वाङ्गिरस एव मधुक्टतः। अथर्वणाऽङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः। इतिहासपुराणं पुष्पम्।

इतिहासपुराणविहितकर्मस्यथर्वाङ्गिरसां विनियोगाद्वग्वेदादिवत्युष्प-खोक्तिश्च द्रष्टव्या ।

ता अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतप स्तस्याभि-तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नायः रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्वचक्षरत्तदादित्यमभितोऽशयत्तदा एतयदे-तदादित्यस्य परः ऋष्णः ऋषम् ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

परः क्रुच्णं रूपमतिशयितं क्रुच्णरूपमिस्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ येऽस्योध्वा रश्मयस्ता एवास्योध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुक्रतः । ब्रह्मविषयकौपनिषद्रहस्योपदेशा इत्यर्थः । ब्रह्मेव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्वसाभ्यतपश्रस्तस्याभितत्रस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाय रसोऽजायत ॥ २ ॥ तब्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतय-देतदादित्यस्य मध्ये क्षीभत इव ॥ ३ ॥

समाहितवृष्टिभिर्निरीक्ष्यमाणमादित्यमण्डलमध्ये चलतीव स्फुर-तीत्पर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

> ते वा एते रसाना रसा वेदा हि रसास्तेषा-मेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानामम्-तानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य पश्चमः खण्डः ॥ ५॥

लोकसारभूता ऋग्वेदादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यत्वाद्दोहितादिस्वपाणाः मित्रसत्वम् । तथा वेद्रेभ्योऽपीष्टतत्साधनप्रतिपादकतया भोग्यभूत-तयाऽमृतेभ्यो रोहितादिस्वपाणां तत्प्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यानामितभोग्य-त्वादमृताद्प्यमृतत्विमत्यर्थः । अयमत्र निगंलितार्थः—प्रागाद्यूर्थ्वदेशा-न्तरस्थितरिमनाडीतस्तत्तद्वेद्दोक्तकर्मकुसृभेभ्यस्तत्तद्वेदिकमन्त्रमधुकरेरा-दित्यमण्डलमानीतानि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्वव्यनिष्पन्नानि यशस्तेजो वीर्यमिन्द्रियमित्येवमात्मकानि रोहितं शुक्कं कृष्णं परः कृष्णं मध्ये क्षोभत इवेत्युक्तानि रोहितादीनि पञ्चामृतान्यादित्यमध्याथितानीति ॥ ४॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य पश्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

एषां पश्चानाममृतानां वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्यगणभोग्यत्वं तदुपासी-नानां वसुत्वादिपाप्तिपूर्वक ब्रह्मपाप्तिरिति प्रतिपाद्यति—

तयत्त्रथमममृतं तद्दसम उपजीवन्त्यिमा
मुखेन न वै देवा अश्वनित न पिवनित ।

चन्द्रमिवेति भावः । पुनः कथमुपजीवनमित्यत्राऽऽह—
एतदेवामृतं हङ्घा तृष्यन्ति ॥ १ ॥

यशस्तेजआदिलक्षणं रोहितं रूपं सर्वैः करणैरुपलभ्य तृष्य-न्तीत्यर्थः॥१॥

#### त एतदेव रूपमिभसंविशन्ति ।

एतदेव रूपममिलक्ष्यानुभूयेति यावत् । संविशन्ति मोगानन्तरमु-दासीना भवन्तीत्यर्थ:।

## एतस्माद्रपादुचन्ति ॥ २ ॥

प्राप्ते भोगकाल इति शेषः । एतस्माद्भूपादिति स्यब्लोपे पञ्चमी । एतद्भूपानुभवमुद्दिश्योद्यन्ति सोत्साहा भवन्तीत्वर्थः ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद ।

अनेन प्रकारेण वसुतुष्त्याधायकद्रशंनगोचरत्वलक्षणवसूपजीव्यत्वा-दिना रोहितामृतं यो वेद सः।

वस्नामेवेको भूत्वाऽभिनेव मुखेनेतदेवामृतं दृङ्घा तृष्यिति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ तत्क्रतुन्यायेन तदुपासीनोऽपि वस्रत्वं प्राप्य तथैव भवतीत्यर्थः॥३॥ क्रियन्तं कालमित्यबाऽऽह—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूना-मेव तावदाधिपत्य स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

आदित्यस्य प्राच्यां दिश्युद्यः प्रतीच्यामस्तमयश्च यावन्तं काल-मनुवर्तते तावन्तं कालं वसूनां यदाधिपत्यं यद्प्रतिहतसंकल्पकत्वलक्षणं स्वाराज्यं च तत्पर्येता परितो गन्तेत्यर्थः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्दुद्दा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्वन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दङ्घा तृप्यन्ति॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मादूपादुचन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणेव मुखेनैतदेवामृतं
ह्ञ्चा तृष्यित स एतदेव रूपमिभसंविशत्येतस्माद्भूपादुदेति ॥ ३ ॥
स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता दिस्तावदक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव
तावदाधिपत्य स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
सप्तमः खण्डः ॥ ० ॥

पुरस्तादुद्यपश्चाद्स्तमयापेक्षया द्विगुणं कालं द्क्षिणत उद्यमुत्तः स्तोऽस्तमयं च कल्पयित्वा श्रुतिर्ववीतीति नात्र कथंता कार्या ॥ १॥ ॥ २॥ ३॥ ४॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दञ्चा तृष्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमिसंविशन्त्येतस्माद्भूपादुयन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेदाऽऽदित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दञ्चा तृष्यिति स एतदेव रूपमिसंविशत्येतस्माद्भूपादुदेति ॥३॥ स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता दिस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्या-नामेव तावदाधिपत्य स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८॥

अथ यचतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्वन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं हङ्घा तृष्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनेव मुखेनैतदेवामृतं हङ्घा तृष्यति स एत-देव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३ ॥ स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्ता-वदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुता-मेव तावदाधिपत्य स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ यत्पश्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्वन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृष्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमिसंविशन्त्येतस्मादूपादुचन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा बसणैव मुखेनैतदेवामृतं दञ्चा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्भपादुदेति॥३॥ स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्त-मेता दिस्तावदूर्ध्व उदेताऽर्वाङस्तमेता साध्या-नामेव तावदाधिपत्यः स्वाराज्यं पर्येता॥४॥

## इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

एवं वसुरुद्दादित्यमरुत्साध्यगणभोग्यरोहितादिपञ्चरूपात्मकपञ्चामुताश्रयदेवमधुत्वरूपितज्योतिर्मण्डलाख्यरूपयुक्तस्योद्यास्तमपादिकृत्यविशिष्टस्याऽऽदित्यनामकस्याऽऽदित्यशरीरककार्यावस्थबहाण उपासनासुपदिश्य नामरूपकृत्यादिरहितकार्यावस्थारहितादित्यजीवशरीरकबह्योपासनं दर्शयति—

#### अथ तत ऊर्ध्व उदेश्य ।

अथ ब्रह्माद्विसरूपस्य कल्पस्य समाप्त्यनन्तरं तत ऊर्ध्व उद्देत्योद्-यास्तमयाभ्यां प्राण्यनुग्रहादूर्ध्व उद्देत्योद्यास्तमयकृत्यप्रयुक्तपाण्यनुग्रह-रहित इत्यर्थः।

## नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता ।

उद्यास्तमयञ्चन्य एकस्यभाव एवोद्यासीनतया वर्तत इत्यर्थः । अत्र हि भाष्ये कार्यकारणावस्थबद्ध्योपासनं विधीयते । असो वा आदित्यो देवमध्वित्यारभ्याथ तत ऊर्ध्व उदेत्येत्यतः प्रागादित्यवस्यादिकार्यविशे-पावस्थं बद्ध्योपास्यमुपदिश्यते । अथ तत ऊर्ध्व उदेत्येत्यादिनाऽऽदित्या-न्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थमेय बद्ध्योपदिश्यत इत्युक्तम् । तत्राप्य-थ तत ऊर्ध्व उदेत्येत्यस्य मुक्तावस्थादित्यान्तर्यामिबद्ध्योपासनपरत्वेऽ-थशब्दादिस्वारस्यात्कारणावस्थमिति भाष्यस्याकार्यावस्थं मुक्त्यवस्थ-मित्यर्थ एवोचितो न त्वादित्यभावप्राप्तिपूर्वावस्था । व्यासार्थेस्तु भाष्य-स्वारस्यमवलम्ब्याऽऽदित्यनामक्ष्यभाक्त्वावस्था पूर्वभाव्यवस्थैवाथ तत ऊर्ध्व उदेत्येत्यादिना संदर्भेण प्रतिपाद्यत इति वर्णितं तेषामयमाशयः— अथशब्दो न निर्दिष्टानन्तर्यार्थोऽपि तूपासनान्तरप्रस्तावार्थः । 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता ' इत्यस्याप्युद्-यास्तमयत्कार्यशू-यत्वमर्थः । तच्चाऽऽदिश्यभावपूर्वावस्थायां कल्पाद्दी संभवतीति ।

## तदेष श्टोकः ॥ १ ॥

तस्मिन्बिषये देवान्त्रति केनिच्योगिना गीतः श्लोकः ॥ १ ॥ न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।देवास्ते-नाह्र सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणीति ॥ २ ॥

हे देवास्तत्र तस्मिन्नादिस्यभावमुक्तिकाले स मुक्तादिस्यान्तर्यामी परमारमा नास्तमितो नोदितश्च तेन ताहशेन सत्येन निर्विकारेण ब्रह्म-णाऽहं मा विराधिषि विरोधं न गच्छाभीति पावत्। निम्लोचेति च्छान्द्सो द्विवचनाभावः॥ २॥

न ह वा अरुमा उदेति न निम्लोचित सक्टदिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

एतां मधुविद्याद्धपां बह्योपनिपदं बह्यविद्यां वेदानुतिष्ठत्यस्मे ब्रह्माविद् आदित्यो नोदेति नास्तमेति । आदित्योदपप्रकाशाभ्यां न किंचि दृष्य प्रयोजनिमस्पर्थः । कुत इत्यत आह—सकृदिवा हैवेत्यादि । अस्मे बह्माविदे सकृदिवेव भवति सकृदुदितमहरेव भवति सदैवाहर्वा भवती-त्यर्थः । संततं सर्वविपयसाक्षात्कारोऽस्य भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

मधुविद्यासंप्रदायमाह-

तद्धेतद्भक्षा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनेव मनुः प्रजाभ्यः।

तद्धैतन्मधुविज्ञानमित्यर्थः।

तद्धैतदुद्दालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता बह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

तद्धैतद्वह्मोद्दालकाय पिता प्रोक्तवान् ॥ ४॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता बह्म प्रबूयात्मणाय्याय वाऽन्तेवासिने॥ ५॥

तस्माद्धेतोरिदं ब्रह्मविज्ञानं ज्येष्ठाय पुत्राय वा प्रवृ्यात् । योग्याघ शिष्याय वा व्यूयात् । प्रणाय्योऽसंमताविति निष्कामार्थे प्रणाय्यशब्द्स्य निपातितत्वात् ॥ ५ ॥

### नान्यस्मै कस्मैचन ।

उक्तपुत्रशिष्यव्यतिरिकाय कस्मैचिव्यि न ब्र्यादित्यन्ययः । ययप्यस्मा इमामिद्धः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दयादेतदेव तता भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्यैकादशः खण्डः॥ ११॥

समुद्रावृतां भोगोपकरणैः पूर्णामिमां पृथिवीं यद्यप्यस्मा आचार्याय द्यासद्पेक्षयाऽप्येतद्विज्ञानमेवाधिकम् । नैतस्यानुरूपो निष्क्रपोऽस्ती-त्यर्थः । द्विक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतयाक्यविषयकमधि-करणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये मधुविद्याया वस्वादिगणभोग्यरोहि-तस्त्पादिपञ्चामृताश्रयादित्योपासनास्त्पतयाऽस्यां विद्यायां वस्वादीनां नाधिकारः संभवस्युपास्योपासकभावस्यैकस्मिन्नसंभवात् । न ह्येकस्पैव प्रीणनीयत्वं प्रीणियतुत्वं च संभवति । ' वसूनामेधेको भूत्वा ' [ छा० ३। ६। ३] इत्यादिना वसुत्वादिपाप्तरेव मधुविद्याफलत्वेन वस्वादी-नामेव सतां वस्वादित्यपाप्तिकामनाया असंभवाचाधित्वाचसंमवाच । 'तहेवा ज्योतिपां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ' [ बृ० ४ । ४ । १६ ] इति परब्रह्मव्यतिरिक्तस्य देवोपास्यत्वनिषेधेन ज्योतिःशब्दिते ब्रह्मण्ये-वोपासनसञ्ज्ञावावगमाञ्च मधुविद्यादिषु नाधिकार इति 'मध्वादिष्व-संभवादनधिकारं जैमिनिः ' [ब॰ मू॰ १।३।३१] । 'ज्योतिषि भावाच' बि॰ सु॰ १। ३। ३२ ] इति सूत्राभ्यां पूर्वपक्षं कृत्वा 'भावं तु बाद-रायणोऽस्ति हिं' बि॰सू॰ १। ३। ३३ ] इति सूत्रेण सिद्धान्तः कृतः। अस्यायमर्थः -- अधिकारस्य सद्भावं बाद्रायण आचार्यो मन्यते । अस्ति हि तेषामप्यथित्वादिसंभव इति । अयमाशयः -- न हीयं विद्या वस्वादित्यादिमात्रपर्यवासिताऽपि तु तच्छरीरकपरमात्मपर्यन्ता । वस्वा-द्निमिव सतां स्वान्तर्यामिपरमात्मोपासनं भवत्येव । न चोपास्यप्रति-पाद्कवस्वादिशब्दानां ब्रह्मपर्यन्तत्वे प्रमाणाभावः । उपसंहारे 'ब्रह्मोप-निषदं वेदं [छा० ३ । ११ । ३] इति अवणाद्वस्वादीनामेव सतां कल्पा-

न्तरे वस्वादिपाप्तिपूर्वंकबह्मपाप्तेरुद्देश्यत्यसंमवाच । लोके पुत्रिणामेव सतां जन्मान्तरेऽपि पुत्रितेष्साया दर्शनात् । ननु वस्वादिपञ्चगणोपजी-व्यरोहितादिपञ्चरूपात्मकपञ्चामृताश्रयादित्यमधूपासन्त्वान्मधुविद्यापा-स्तस्यां च विद्यायामादित्यस्यैवोपास्यतयाऽऽदित्यस्य तद्विद्याधिकारा-संभवेऽपि वस्वादीनां कथमनधिकारशक्रा। न ह्यस्यां विद्यायां वस्वादी-नामुपास्यत्वमपि हु तद्भोग्यस्याऽऽवित्यस्यैव भाष्यकृता-मध्विद्यायाः मृग्वेदादिपतिपाचकर्मनिष्पाद्यस्य रिमद्वारेण प्राप्तस्य रसस्याऽऽश्रयतया लन्धमधुव्यपदेशस्याऽऽदिश्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्य-त्वमिति पूर्वपक्षे वस्वादिभोग्यमूतावित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं तद्वस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यत इति सिद्धान्ते चोक्तत्वात् । न हि स्वोपासनवत्स्वोपजीव्यत्वेनान्यस्योपासनं विरुद्धं तथा सत्युपासनमात्रो-च्छेदप्रसङ्गात् । सर्वेषुपासनेषुपास्यगतस्वोपजीव्यत्वस्वसेव्यत्वस्वाधार-स्वस्वान्तर्याभित्वाधीनामनुसंधेयत्वात् । ततश्च वसुनामेव सतां स्वोपजी-व्यपञ्चामृताभयादित्यविषयमध्विद्यानुष्ठानसंमवात्कुतोऽनधिकारशङ्केति चेदुच्यते । वस्नामेवैको मूखेत्याविना वसुत्वाविपाप्तिफलत्वेन कीर्तनेन मध्विद्यायां तस्क्रतुन्यायेन षस्वावीनामुपास्यत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वात् । अथ तत ऊर्ध्व उद्त्येत्वतः प्रागादित्ववस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मो-पास्यमुपदिश्यते । अथ तत अर्ध्व उदेत्येत्यादिनाऽऽदित्यस्यान्तरा-त्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपिव्श्यत इति कार्याव-स्थोपासनद्शाषामादित्यवस्थादीनामविशेषेणोपास्यत्वस्य भाषितत्वात्। अस्ति ह्यादित्पबस्वादीनामपि स्वारब्धब्रह्मोपासनेन वस्वादिश्यप्रा-तिपूर्वक ब्रह्मभेष्सासंभव इत्यादित्यस्य वस्वादीनां च तुल्यत्वस्य मापि-तत्वाञ्च । मधुविद्याया आवित्योपासनत्वपञ्चामृतोपासनत्ववस्वाद्युपास-नत्वस्पाकारत्रयवस्याम पूर्वपक्षोत्भित्यनुपपिति मृष्टव्यम् । ननु वस्ववस्थस्य ब्रह्मण रपास्यत्वसंभवेऽपि तद्वसव उपजीवन्तीति निर्दिष्टमु-पजीवितृत्वलक्षणं भोक्तृत्यं न बह्मणः संभवतीति चेन्न । उपजीवितृत्व-स्यापि सद्वारकतया तत्र संभवात् । नन्वेवं तद्वसव उपजीवन्तीत्यम वसुशब्दस्य तद्नतर्यामिपरस्वे वस्नामेवैको भूत्वेत्यत्रापि वसुशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं स्यात् । न च तद्युक्तम् । न ह्युपासकस्यापि जीवस्य कल्पा-न्तरे वसुत्वप्राप्तिलक्षणसंसारद्शायां वस्ववस्थब्रह्मभावोक्तिः संगच्छत इति चेन्न । वसूनामेवैको भूखोरपत्र यथाश्रुते बाधकाभावेन, ब्रह्मपरत्वे

बाधकसद्भावेन च यथाञ्चतार्थस्यैवोपपन्नत्वादित्यलमतिचर्चया । ननु 'वसूनामें देको भूरवा ' 'सक्वादिवा हैवास्यै भवति 'इति वाक्यद्वया-नुसारेणानया विद्यया कल्पान्तरे कंचित्कालं वसुभावं प्राप्य पश्चाह्नस प्राप्नोतीत्यम्युपगर्मा न युक्तः । तथा सतीदानीं मधुविद्योपासकानां प्रायणानन्तरं फलपाप्तिनं स्यात्कल्पान्तरभावित्वाद्वस्यवस्य। न च स विलम्बः सोहब्य एवेति वाच्यम् । कल्पान्तरेऽपि वस्वाविभावपापकम-भुविद्यानिष्ठानां तत्प्रापककमांन्तरनिष्ठानां चानन्तानां संभधेन सर्वेषां च युगपद्मस्वादिभावे वसुगतादृत्वसंख्याविशेधप्रसङ्गेन वसुत्वप्रापक-कर्मनिष्ठानामनन्तानां मध्ये विपाकानुसारेण केपांचि जिचतुरकल्पमध्ये वसुखादिपाप्तिर्भवति केषांचिद्नुष्ठितमधुविद्यानामपि सहस्रकल्पप-तीक्षणमप्यस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । न हीद्यक्षः कि श्विनमुमुक्षुर्भवित । सहस्र-कल्पपर्यन्तविलम्बमभ्युपगच्छतः कथं मुमुक्षुता। हैरण्यगर्मान्तसकलमो-गविरक्तिपूर्वकब्रह्मानन्द्रपेप्सालक्षणसुसुक्षाशाली हि बह्मविद्यायामधि-करोति । तत्र वस्वादिपदाभिलापिणः कथं मुमुक्कता कथं वा बह्मविद्याधिकार इतिचेत्सत्यम् , बह्मानन्दैकपेष्सुरेव सुमुक्षुः । अथापि यथा देहावसानकाले बह्मानन्दैकप्रेष्सा मुमुक्षा, एवं यसुत्वावसाने बह्मैव प्राप्नवानीति भेप्साऽपि बह्मानन्दैकपेप्सा भवत्येव । शास्त्रवशा-घेहशविलम्बसहिष्णवोऽप्यधिकारिणः सन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । तत्र च प्रारब्धवैचिष्ट्यमेव नियामकम् । अत एव ' याथातथ्यं स्वपरनियतं यचे वेद्यं पवं तत्काराकरुपं वपुरिष विदम्कस्तितिक्षेत वन्धम् ' इत्युक्त-रीत्या षिवेकिनः कथं विलम्बसहिष्णुतेत्यष्यपास्तम् । प्रारब्धमहिम्ना सर्वस्याप्युपपत्तेः । वस्तुतस्तु आतृणां मध्ये त्वभेक इति लोकिकोक्ते-र्आतृभोगसाम्याभिष्रायत्वयद्वसूनामधिको भूत्वेत्यस्य वाक्यस्य कंचित्का-लमानुपङ्किकवस्वादिभोगसाम्यमनुभूय तेन यथा परं ज्वोतिरुपसंप-द्यत इत्यभित्रायत्वात्तस्य वाक्यस्य ताहशभीगसाव्यस्य च देव्रवि-योगानन्तरमेव संभवाञ्चानुपपत्तिरित्याहुः । ननु वस्वादिदेवतानां विद्यहामावेनोपासनसामर्थ्यासंभवात्कथमुपासनाधिकारः । न हि देवानां शरीरवस्ते प्रमाणसुपलभ्यते । न तावत्प्रत्यक्षानुमाने सस्य तद्गोचरत्वात् । नापि वज्रहस्तः पुरंदरस्तेनेन्द्रो वज्रमुद्वच्छदिरया-दीनां प्रामाण्यम् । मन्त्रार्थदादानामनुष्टेयस्मृतिस्तुतिप्रयोजनकतया

१ महिशृरमुद्रितपुस्तके चि दिव्यं प<sup>०</sup>। इति पाठः ।

विग्रहादी तात्पर्याभावेन तात्पर्याविषये शब्दस्याप्रामाण्यात् । अन्यथा श्वेतवर्णरजककर्तृकवस्त्रशोधनतात्पर्येण प्रयुक्तस्य श्वेतो धावतीत्यस्य श्चनकसमीपगमनप्रतीत्युत्पादकत्वसंभवमाञ्चेण तत्रापि प्रामाण्यप्रस-ङ्गात् । ननु रेवत्याधारवारवन्तीयसामसाध्याभिष्टोमस्तोत्रविशिष्टक-तुविधायके रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसामं कृत्वा पशुकामो ह्येतेन पजेतेति वाक्ये रेवतीषु वारवन्तीयमित्यंशस्य 'रेवतीर्नः सधमादः ' इत्युक्त्रवाधारवारवन्तीयसामक्षपाग्निष्टोमस्तोत्रविशेषणे तात्पर्याभावेऽपि प्रामाण्यं दूष्टम् । न हि तद्विशेषणं सोभेन पजेतेत्यादिविशिष्टिषिषु सोमलतादिविशेषणवलोकासिद्धम् । नापि विधिसिद्धं रेवतीपु रथंतरं गायेदितिबदेवतीपु वारवन्तीयं गायेदिति विध्यद्र्वनात् । न चास्यैव विशिष्टगोचरस्य विधेर्विशेषणविधाविष तात्पर्यं वक्तं शक्यं विध्यावृत्ति-प्रसङ्गात् । न चाऽऽक्षेपाहिशेषणप्रसिद्धिरन्योन्याश्रयात् । विशेषणप्र-सिद्धी सत्यां विशिष्टविधि:, विशिष्टविधिनैव विशेषणस्याऽऽक्षेप इति परस्पराश्रयापत्तेः । तस्माद्विशिष्टविधेर्विशेषणस्व ऋषे तात्पर्यामायेऽपि रेवतीषु वारवन्तीयमिति पद्द्वयसमभिव्याहारस्यैव प्राप्ताण्यमभ्युपगन्त-व्यमिति चेन्मैवम् । रेवतीषु वारवन्तीयमिति पद्द्वयसमभिव्याहा-रलभ्यां रेवत्याधारवारवन्सीयप्रतीतिसुपजीव्य प्रवृत्तेन विशिष्टविधि-नाऽऽक्षित्तस्य रेवतीषु वास्वन्तीयं कुर्यादिति षिशेषणविधेरेव तश्र प्रमाणत्वेन रेवतीषु वारवन्तीयमिति पदृद्वयसमभिव्याहारस्याप्रमाण-त्वात् । इयांस्तु विशेषः — सोमलतादिधिशेषणं मानान्तरसिद्धं सोम-पदात्प्रतीयते । इह तु मानान्तरासिद्धमेव पद्समिव्याहारात्प्रतीः यत इति । प्रतीयमानेऽपि विशेषणे विशिष्टविधेः प्रामाण्यामाव उभयवाष्यविशिष्टः । ततश्च यथा स्रोधपत्यायकं सोमपदं न सोमस्व-क्रपे प्रमाणभेवं रेवतीपु वारवन्तीयमिति पव्दूयसमभिव्याहारो रेवती-वारवन्तीयक्रवविशेषणक्रपार्थप्रत्यायकोऽपि न तत्र प्रमाणम् । अयं चापरो विशेष:-सोमलताइय्यस्य लोकासिद्धत्वात्तत्र यागसंबन्धित्वे-नैव विधिः करूपः । इह तु विशेषणस्य रूपस्यापि मानान्तरासिद्धस्वा-त्प्रतीयमानेऽपि तस्मिन्विषये विशिष्टविधेः प्रामाण्यामावाच तत्सि-दृध्यर्थं स्वक्रपेण स्तोत्रविशेषसंबन्धित्वेन च विधिद्वयं कर्ण्यमिति । तस्मानमन्त्रार्थवादानां स्वार्थे तारपर्याभावाञ्च तेभ्यो देवताविग्रहसिद्धिः। ननु मन्त्रार्थवादामां विध्येकवास्यतापञ्चानां स्वस्वार्थेऽप्यवान्तरतात्पर्यं

संभवत्येव वृर्शपूर्णमासाविषधानविध्येकवाक्यतापस्नप्रयाजादिविधिव-बिति चेरतस्यम् । मानान्तराविरोधे प्रतीयमानार्थे तात्पर्थं संभवति न तु तिद्विरुद्धे । अन्पथा यजमानः प्रस्तर इत्यत्रापि प्रतीयमानाभेदे तारपर्यप्रसङ्गात् । अस्ति च मन्त्रार्थवाद्वशेन देवताविग्रहाभ्युपगमे मानान्तरविरोधः । देवताविग्रहाभ्युपगमे हि न्यायतौल्पेन नानापागदेशे युगपदाहूतानामागमनस्याभिप्रक्षित्रभस्मीभूतहविःस्वीकारादेरप्यभ्युपग-मारमस्यक्षीपपत्तिविरोधः । अतो न देवताविग्रहे तात्पर्धं संभवति । अतो विग्रहाभावादुवासनास्वनधिकार इति पूर्वपक्षे पाप्त उच्पते। 'तदुपर्यपि बाद्रायणः संभवात्।'[ ब० सू० १।३। २६। ] तद्भ-झोपासनमुपरि मनुष्याणामुपरि देवादि व्यपि संभवतीति भगवान्बाद-रायणो मन्यते तेषामप्यधित्वसामध्यंयोः संभवात् । अधित्वं ताव-दाभ्यात्मिकादिदुर्विपहदुःखाभितापात्परस्मिन्बद्धाणि च निरस्तनिसि-लदोषगन्धेऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणे निरतिशयमोग्यत्वा-विज्ञानाच संभवति । सामर्थंमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया संभवति । देहेन्द्रियादिमस्वं च सर्वेषु सृष्टिवाक्येषु देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना चतुर्विधसृष्टचाम्नानास्सिद्धम् । देवादिभेदश्च तत्तस्कर्मानुगुणबद्धालोकप्र-भृतिचतुर्देशलोकस्थभोगयोग्यदेहेन्द्रियादियोगायतः । तथा 'देवत्वं गंच्छन्ति प एता उपयन्ति 'इति देवस्वप्राप्त्यर्थक्रमुविध्यन्यथाऽनुपप-त्त्वाऽपि देवताविग्रहतस्वसिद्धिः । ज्योतिष्टोमादिविध्यन्यथाऽनुपपस्पा देशान्तरदेहान्तरभोग्पेहिकसुखलक्षणस्वर्गशब्दोक्तसुखरूपतत्फलभोक्तृ-कमंदेवसिद्धेरभ्युपगतत्वाहेवतासायुज्यसालोक्यादिफलकमंविध्यन्यथा-देवताविग्रहाणां तद्भोग्यभोगोपकरणानामभ्युपगनतव्य-खाद्य। धिरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्द्शनात्। '[ म० सू०१ । ३। २७। ] नन्वेषं मन्त्रार्थवादादि अिर्देवताया विग्रहाम्युपगमें कर्माण विरोधः प्रसञ्यते । षहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवतः ' आग्नि-मग्न आवह ' ' इन्द्र आगच्छ ' 'हरि व आगच्छ ' इत्यादिनाऽऽहू-तस्य संनिधानानुपपत्तेविरोधः प्रसज्यत इति चेन्न । अनेकप्रतिपत्तेर्द्रा-नात् । हश्यते हि सौभरित्रभृतीनां शक्तिमतां युगपद्नेकशरीरप्रतिपत्तिः। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । '[ ब० सू० १ । ३ । २८। ] मा भूत्कर्मणि विरोधो वैदिके तु शब्दे विरोध: प्रसज्यते । देव-ताविग्रहाभ्युपगमे हि विग्रहस्य सावयवत्वेनानित्यत्वादिन्द्रादेरर्थस्य

विनाशाद्रध्वं प्रागुत्पत्तेश्च तद्र्थवाचिवेदिकशब्दानां सत्त्वे शब्दस्यार्थे-नौत्पत्तिकः संबन्धा न स्यात् । शब्दस्वरूपस्यापि नाशेऽनित्यत्वं स्यात् । ततश्च ' औत्पतिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः ' जि०१।१। ५] इति सूत्रप्रतिपादितं शब्दार्थसंबन्धानां नित्यत्वं विरुध्येतेति चेन्न ।

> 'वेदेन नामऋपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः । ' नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ देवादीनां चकार सः॥

इति प्रत्यक्षानुमानशब्दिताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामिन्द्राद्यर्थानां घेद्प-भवत्वावेदनात् । यथा शिल्पिना शिल्पशास्त्रोदितनामरूपाद्यनुसंधान-पूर्वकं निर्मितं देवताप्रतिमादिकं पूर्वपूर्वसमानक्रपमेवमिन्द्राद्यर्थोऽपि वेदोक्तनामक्रपानुसंधानशालिना प्रजापतिनाऽऽदौ निर्मीयमाणः पूर्व-पूर्वसमानरूपः संभवति । ततश्च समानरूपाभिय्यङ्गचाकृतिवाचित्वादि-न्द्रादिशब्दानां व्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि जातिवाचिगवादिशब्दवदिन्द्रा-दिशब्दानामपि जातिवाचितया नानित्यार्थसंयोगकृतो विरोध इत्यर्थः। ननु 'मन्त्रकृतो वृणीते ' संहिताकारपदकारसूत्रकारबाह्मणकाराणां 'विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति ' इति मन्त्रादीनां कार्यत्वश्रवणान्न वेद-निरयत्वमित्यत्राऽऽह—' अत एव च नित्यत्वम् । ' [ ब० सू० १ । ३ । २९ ]

> अनादिनिधना होषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः ॥

इति मन्त्रकृत्वेन प्रसिद्धानामपि वसिष्ठविश्वामित्रादीनां वेदजन्य-त्वाम्नानान्मन्त्रकृत्वं मन्त्रद्रष्टुत्वमेव न तु मन्त्रकरत्वमित्यवसीयते । अतो वेद्नित्यत्वस्य नानुपर्यात्तः । नन्वेवमपि प्राकृतप्रलये शब्दस्य तदुपादानभूताहंकारादेश्च नष्टत्वात्कथं वेदनित्यत्वं कथं वा सर्वेषां वेद्शब्द्प्रभवस्यं तत्राऽऽह—'समाननामकपत्वाञ्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो दुर्शनात्स्मृतेश्च ' [ ब० सू० १ । ३ । ३० ] कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्प-त्त्यावृत्ताविष पूर्वोक्तसमाननामरूपत्वस्य तद्वस्थत्वादेव न शब्दानि-त्यस्वम् । ' सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । ' [ ऋ० सं० १०। १९०। ३। ] यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।

हरयन्ते तानि तान्येव तथा मावा युगादिषु।[महा भा०१२।८५५०]

इति श्रुतिस्मृतिभ्यां तथैव प्रतिपाद्नादेतस्य नित्यस्वमपौरुषेयत्वं च। इद्भेव हि वेद्स्यापौरुषेयत्वं यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमानुसंधानसापेक्षोचारण-क्रमवर्चं तस्विदानींतनवेदे सर्गाद्यवेदेऽपि समानम् । इयांस्तु विशेष:-सर्वेऽपि पूर्वपूर्ववेदानुपूर्ध्वनुभवजनितसंस्कारवज्ञन भगवद्यतिरिक्ताः पूर्वामुपूर्वी समृत्त्वा तयैवाऽऽनुपूर्व्या वेद्मुचारयन्ति, भगवांस्तु संस्कारनिर-पेक्षमेव पूर्वानुपूर्वीमनुसंधाय तयैवाऽऽनुपूर्व्या वेद्मुचारयतीति। इद्मेव हि पौरुपेयप्रवन्धापेक्षया वेद्र्य वैलक्षण्यं नित्यत्वं च । ननु चतुर्मुखकर्तु-कावान्तरकलपसृष्टिविपयतयाऽपि धाता यथापूर्वमकलपयदित्यादिप्रमा-णानामुपपत्तौ स्वतन्त्रपरमात्मकर्तृकबह्मकल्पाद्यसमयप्रवृत्तवेद्चतुर्भुखा-दिसृष्टे: समानानुपूर्वीकत्वसमाननामक्षपक्वत्यत्वादी किं प्रमाणमिति चेदु-च्यते—चतुर्मुखादेनांमरूपकृत्यादीनीतिहासपुराणादिभ्योऽवगत्यैतादृश-नामऋपकृत्यविशिष्टश्चतुर्भुंसो भवानीत्येवं संकल्पपूर्वकं भगवन्तमाराध्य तत्तत्पदं प्राप्नुवन्तीति हि शास्त्रप्रसिद्धिः। यदि कल्पान्तर उत्पद्यमानश्चतु-मुंखो विलक्षणनामक्षपक्रत्यः स्यात्तदा तस्य भगवदाराधकस्य वाञ्छिता-र्थसिद्ध्यभावात्तदिष्टसाधनत्यावेद्कशास्त्रस्याप्रामाण्यमेव स्यात् । तत्तत्प-दाभिलापिणः प्रवृत्तिश्च कस्यापि न स्यात् । अतः प्राक्ततसृष्टचावृत्तावपि यथापूर्वमेव सृष्टिरिति देवताधिकरणे स्थितमिति । नन्वभिलोकादूर्ध्वलो-कवर्तिनामचिराद्यनतिवाह्यानामचिराद्यातिवाहिकचिन्तनरूपाङ्गासंभ-वात्तदङ्गत्वस्य ' तच्छेपगत्यनुस्यृतियोगाच ' [त्र० सू० ४।२।१७] इति ' योगिन: प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ' [ ब० सू० ४।२।२१ ] इत्यादि-ष्वाविष्कृतत्वात्तदङ्गहीनानां देवतानां कथमङ्गीभूतत्रह्मविद्यायामधिकार इति चेन्न । आतिवाहिकचिन्तनस्य दृष्टार्थतया तत्तल्लोकवर्तिनां तद्रध्व-लोकवर्त्यातिवाहिकचिन्तनेनैव साद्धण्योपपत्तेः । मृतयजमानकेष्टिकर्माण सूक्तवाके यजमानस्याऽऽयुराशासनाद्यभावादनपेक्षितमायुराशास्त इत्या-दिकमंशं विहायापेक्षितांशपाठस्याङ्गीकृतत्वात् । तद्वदिहाप्यनपेक्षिताः तिवाहिकांशत्यागेनापेक्षितस्वस्वलोकोध्र्ववत्यातिवाहिकानामेव चिन्त-नीयस्वोपपत्ते:। नमु 'तदुपर्यपि बाद्रायणः संभवात् ' [ त्र० सू० १।३।२६]। मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनि: [ब० सू० १। ३। ३१] इत्यधिकरणद्वयेन किं प्रयोजनम् । देवतानां देवता-विशेषाणां चार्थित्वसामर्थ्यनिर्णयस्य मनुष्याणां प्रवृत्तिविशेषानौषयि-कत्वात् । न च देवानामनेनाधिकरणद्वयेन किंचिद्स्ति प्रयोजनम्।

तेषां स्वकीयपद्वतरदेंहादिमत्त्वेऽर्थित्वसद्भावनिर्णये चाधिकरणम्यायान-पेक्षणादिति चेद्रच्यते-परं ब्रह्म देवानां वस्वादिदेवताविशेपाणां चोपास्यं फलपदं चेतीहशमहिमविशिष्टतयोपासनकालेऽनुसंधेयत्वसि-द्धिलक्षणप्रयोजनसद्भावाद्देवताविग्रहसिद्धौ मधुविद्याया देवतापद्पाप्तिः फलमित्यपि न भवेत्। गत्यनुस्युतावचेतनानामर्चिरादीनामेव मार्गपर-रवेन चिन्तनीयता स्यात्। नाऽऽतिवाहिकदेवतानां तथा । भाक्तं बाडनात्मवित्त्वात् ' [ ब० सू० ३।१।७] इति सूत्रोक्तन्यायेन ज्योतिष्टोमादिकर्मफलं भुञ्जानानां तं देवा भक्षयन्तीति निरन्तराजान-देवकर्मकरभावावगत्या न वैराग्यं सिध्येत् । प्राप्तिविरोधयोरसतोर्म-न्त्रार्थवादानां प्रतीयमानार्थे प्रामाण्यमस्तीति न्यायध्युत्पाद्नेन ' प्रवा ह्येते अट्टढा यज्ञरूपाः ' [ मु० १ । २ । ७ ] एतत्तृतीयं स्थानमित्यादि-मन्त्रार्थवादैवैराग्यसंसिद्धिरित्यादीनि प्रयोजनानि दृष्टध्यानि । प्रकृत-मनुसरामः ॥ ६ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्यै-काद्शः खण्डः ॥ ११ ॥

चतुष्पात्त्वषाङ्गिध्याभ्यां बह्मणो गायत्रीसाहश्यानुसंधानरूपा विद्या प्रस्तूयते गायत्री वेत्यादिना । इन्द्रः शचीपतिः, बलेन पीडितः, दुश्र्य-वनो वृषा, समुत्सुसासहि, इति गायत्री चतुष्पदा । एकैकस्य पादस्य षडक्षरात्मतया पडक्षरपादवन्त्वेन पड्विधा च । एवं ब्रह्मणोऽपि सर्व-भूतशब्दितात्मवर्ग एक: पादः । कर्माजितभोगस्थानरूप: पृथिवीलोक एकः पादः । भोगोपकरणं शरीरमेकः पादः । आत्मस्थित्यनुगुणप्रदेश-विशेषरूपं हृद्यमेकः पाद् इति भूतपृथिवीशरीरहृद्यानि चत्वारः पादाः । तत्र सर्वभूतलक्षणपादस्य ब्रह्मात्मकवाकर्तृकगानकर्मत्वत्राण-कर्मत्वलक्षणं विधाद्वयं प्रथिवीलक्षणस्य पादस्य सर्वभूतप्रतिष्ठात्व-सर्वभूतानतिवर्त्यत्वलक्षणं विधाद्वयं, शरीरहृदयलक्षणयोः पादयोः पाणप्रतिष्ठात्वतद्नतिवर्त्यत्वलक्षणं विधाद्वयमेव द्वयोरपि विधाद्वययोरपि भेदामावात्। ततश्च परब्रह्मरूपा गायत्री भूतपृथिवीशरीरहृद्यरूपपाद्च-तुष्टयवत्तया चतुष्पदा । गानकर्मत्वत्राणकर्मत्वसर्वभूतप्रतिष्ठात्वसर्वभूतान-तिवर्यंत्वसर्वप्राणिप्राणप्रतिष्ठात्वसर्वप्राणानतिवर्यत्वलक्षणविधाषद्कयु-

क्ततया षड्विधा च। अतश्चतुष्पात्त्वषाड्विध्याभ्यां ब्रह्मणि गायत्री-साहश्यानुसंधानं कर्तव्यमिति प्रतिपाद्यति—

## गायत्री वा इदश सर्वं भूतं यदिदं किंच।

अत्र गायत्रीशब्द्रेन न प्रसिद्धा गायत्रयभिधीयते । तस्या भूतादि-पाद्चतुष्टयसंबन्धाभावात् । एतावानस्य महिमेति पुंस्क्तमन्त्रप्रतिपाद्य-त्वाभावाद्य । अपि तु परमात्मा । यथा कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यग्निहोत्रशब्दः प्रयुज्यमानस्तत्साहश्यविशिष्टानुष्ठानार्थस्तथा गायत्रीशब्दो बह्मणि प्रयुज्यमानस्तत्साहश्यानुसंधानार्थः । ततश्च गायत्रीशब्देन बह्मवाभिधीयते । वैशब्दोऽवधारणार्थः । बह्मव परिहश्य-मानसर्वभूतात्मकमित्यर्थः । ततश्च बह्मणि मूतलक्षणपादवस्वमुक्तम् ।

अथ गायत्रीशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमपि ब्रह्मण्युपपाद्यन्विधाद्वयमाह—

## वाग्वै गायत्री।

गायत्रीशब्दितं गायत्रीसदृशं बह्मैव वाग्रूपविशिष्टं भवतीत्यर्थः। शब्दमूर्तिधरस्यैतद्वपं विष्णोर्महात्मनः।

इति पराशरस्मृत्याद्यनुरोधेन ब्रह्मण एव शब्द्रूपत्वमिति भावः। ततश्च किमित्यत्राऽऽह—

वाग्वा इदः सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ १॥

वाग्रूपमेव बह्म सर्वाणि भूतान्यभिधत्ते । हिताहितविधिनिषेधमुखेन बायते च । अतश्च ब्रह्मणो वाग्रूपस्य सर्वभूतगानत्राणकर्तृत्वाभ्यां गायत्रीशब्दवाच्यत्वं भूतात्मकपाद्वतो ब्रह्मणो वाक्कर्तृकगानत्राणकर्म-खाभ्यां हैविध्यं चोक्तं भवति ॥ १ ॥

उक्तार्थानुवाद्पूर्वकं द्वितीयं पादं सामानाधिकरण्येनाऽऽह— या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी।

उक्तरूपविशिष्टप्रकृतधर्मिपरो यच्छन्दः। या सा सर्वभूतरूपैकपाद्युक्ता गायत्री गायत्र्याख्यं ब्रह्म तदेव प्रसिद्धा पृथिवीत्यर्थः। कथं पृथिन्या ब्रह्मात्मकत्वमित्यत्राऽऽह—

अस्या इदि सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम् ।

बह्मात्मकत्वादेव हि सर्वभूतप्रतिष्ठात्वम्। न हि केवलपृथिव्याः सर्व-भूतधारणशक्तिरस्तीत्यर्थः। प्रतिष्ठात्वं च नियतमित्याह—

एतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

पृथिवीं भूतजातं नातिवर्तते । कर्मवश्यात्मनां हि प्रतिष्ठात्वादेव प्रथिवी नियमेनाशक्यातिक्रमणेत्यर्थः । प्रथिवीमयब्रह्माण्डोदरे हि मोक्तवर्गः परिवर्तते न ततोऽन्यत्रेति भावः । एवं द्वितीयः पादो भूतप्र-तिष्ठात्वतदनतिवर्त्यत्वरूपं विधाद्वयं चोक्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं पादमाह—

या वे सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरम् ।

अत्र पुरुषशब्दः शरीरविशिष्टजीवपरः । पृथिवी पृथिवीरूपपादवि-शिष्टा या गायत्री गायत्र्याख्यं बह्म सा शरीरं शरीराख्यपादविशिष्टे-स्यर्थः। मृतपृथिव्यो गायत्रीसामानाधिकरण्येन निर्दिष्टतया भूतपृथिवी-शब्दयोर्बद्वापर्यन्तत्वेन तदुपस्थापनक्षमत्वाद्यप्रायन्यायेनात्र शरीरलक्ष-णपाद्यान्तरनिर्देशकस्य शरीरशब्दस्य निष्कर्षकशब्दत्वेऽपि सामानाधि-करण्येन निर्देशो युक्तः।

शरीरस्य बह्यात्मकत्वं प्राणप्रतिष्ठात्वतद्नतिवत्यंत्वाभ्यामुपपाद्यति-

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

नातिवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

चतुर्थं पादमाह—

यद्दे तत्पुरुषे शरीरिमदं वाव तद्य-दिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम् ।

पुरुषे शरीरम् । पुरुषशन्दितशरीरविशिष्टजीवनिष्ठशरीराख्यपाद-विशिष्टं यद्गायत्रयाख्यं ब्रह्म तदेव हृद्यं हृदयश्रीरकं हृदयलक्षणपाद-कमित्यर्थः ।

हृद्यस्य ब्रह्मात्मकत्वमुपपाद्यति-

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

पाणशब्देन प्राणापानादय इन्द्रियाणि वा कथ्यन्ते । तेषां हृदयसंब-

न्धिनाडीद्वारा हद्यप्रतिष्ठितस्वम् । एवं तृतीयचतुर्थपादौ प्राणप्रतिष्ठा-स्वतद्नतिवर्त्यत्वरूपं विधाद्वयं चोक्तम् ॥ ४ ॥

षाइविध्यं च निगमयति—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री।

नन्वेवं चतुष्पात्त्वे ब्रह्मणः परिच्छिन्नस्वं स्यादिति शङ्कायामुक्तस्य महिन्नोऽवधिप्रतिपेधिकामृचमुदाहरति—

तदेतद्याऽभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

तदेतद्गापञ्याख्यं ब्रह्माभिमुखीक्वत्यचांऽभ्युक्तमित्यर्थः ॥ ५ ॥ तामेवचं पठति—

तावानस्य महिमा।

पूर्वोक्तः सर्वोऽध्येतस्य महिमा नियाम्यवर्गः ।

ततो ज्याया १ श्व पूरुषः ।

पूर्वीक्तमिष्टिमापेक्षया पुरुषो ज्यायान्परमात्मा ज्यायांस्ततोऽधिकम-हिमशालीत्पर्थः ।

## पादोऽस्य सर्वा भूतानि ।

अन्न सर्वा मूतानीति कार्यजगदन्तर्गता अचिःसंसृष्टाश्चेतना उच्यन्ते ते सर्वे पादः । अंशमान्नमित्यर्थः । सर्वशब्दात्परस्य शेः सुपां सुलुगिति लुकि नलोपे रूपम् ।

## त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ६ ॥

अत्र द्युशन्दः समिटिडयप्टितत्त्वबिर्भूताप्राकृतस्थानविशेषपरः। अपा-कृते स्थानविशेषेऽस्य परमात्मनोऽमृतं पाद्वयमित्यर्थः । त्रिपात्त्वं चाप्राकृतेर्भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणविशेषेवां भूषणान्नादिरूपेण जग-दन्तर्गतवस्त्वभिमानिभिर्नित्यैर्भगवद्नुभवमात्रपरैर्नित्यसिद्धेश्व मुक्तै-श्चाऽऽत्मभिवां संभवति ॥ ६ ॥

अथ चतुर्थपाद्रवेनोक्तस्योपास्यतया वक्ष्यमाणस्य हृद्यस्य स्तुत्यर्थं हृद्याकाशस्य बाह्याकाशाभेदेन महत्त्वं वक्तुं बाह्याकाशस्य ब्रह्मतुल्यत्वं सामानाभिकरण्येनाऽऽह—

यद्वैतद्वस्नेतीदं वाव तयोऽयं बहिर्धा पुरुषादा-काशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥७॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः।

स्वकार्यव्याप्तत्वामूर्तत्वाचलत्वादिभिर्बह्मतुल्यो बाह्याकाशो यो वर्तत इत्यर्थः । तादृशबाह्याकाशाभिन्नः पुरुषशब्दितशरीरान्तर्वर्तमान आकाश इत्यर्थः । बाह्यान्तराकाशयोर्भेदसत्त्वेऽपि धर्म्येक्याभिप्रायेणा-भेदनिर्देशः ।

> यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः॥ ८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः।

एवं बह्ममुल्यबाह्याकाशाभिन्नः शरीरान्तराकाशो य इत्यर्थः । तादु-शशरीरान्तस्थाकाशाभिन्नो हृद्याविष्ठिन्नाकाश इत्यर्थः । पूर्ववद्ध-म्यॅक्यादिति भावः । एवं बह्ममुल्यबाह्याकाशाभिन्नपुरुषान्तर्गताकाशा-भेदं हृद्याकाशस्योक्त्वेताहशमहिमशाली हृद्याकाश इति स्तौति—

यो वै सोउन्तर्हृदय आकाशः।

अन्तर्हृद्ये वर्तमानो य आकाशोऽयं ताहुशमहिमशालीत्यर्थः । अनपा च हृद्याकाशस्तुत्या चतुर्थपाद्वेनोक्तं हृद्यं स्तुतं भवति । एवं चतुष्पद्षिद्विधस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चान्तर्भावेन परिच्छिन्नत्वास्थिरत्वशङ्काः यावृस्यर्थं पूर्णत्वाप्रवर्तित्वगुणकतयोपासनं मोक्षफलं विद्धाति—

तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति ।

पूर्णस्वमपरिच्छिन्नत्वमप्रवर्तित्वमचलत्वं स्थिरत्वम् ।
पूर्णामप्रवर्तिनी १ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अनन्तस्थिरा श्रीर्मुक्तैश्वर्यमेव तदुपासीनो मुक्तिं भजतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥ अश्रोक्तबद्धाणोपासनाङ्गत्वेन द्वारपोपासनं विधीयते—

तस्य ह वा एतस्य इदयस्य पञ्च देवसुषयः।

तस्येतस्य चतुर्थपाद्त्वेन निर्दिष्टस्य प्रकृतस्य हृद्यस्य देवताधिष्ठान-मूतानि पश्च द्वारच्छिदाणीत्यर्थः ।

> स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तचक्षः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नायमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

प्राणवृत्तिविशेषाप्यायितचक्षुरनुग्राहकादित्यस्य हृद्यपावसुषिरद्वार-पालस्य तेजोऽन्नाद्यतयोपासन उपासकः स्वयमपि तेजस्व्यन्नादो मवतीत्यर्थः । तदेतदित्यादित्यस्य तेजोन्नाद्यपेक्षया नपुंसकलिङ्गानि-देंशः । एवमुत्तरत्रापि ॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रश् स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्व यशश्चेत्युपासीत
श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥
अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा
वावसोऽग्निस्तदेतद्वस्तवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत
वस्तवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥
अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मनः
स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्व व्युष्टिश्वेत्युपासीत
कीर्तिमान्व्युष्टिमानभवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

व्युष्टिर्देहकान्तिः॥ २॥ ३॥ ४॥

अथ योऽस्योध्वीः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौ-जस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ ओओ बरुं महर्स्वं मह आकाशश्च देवताविशेषः ॥ ५ ॥ ते वा एते पश्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः ।

एत उक्तगुणविशिष्टा आदित्यचन्द्रमोग्निपर्जन्याकाशाख्या ब्रह्मपु-रुषा ब्रह्मसंबन्धिनः पुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य भगवलोकस्य हृदयाका-शास्यस्य द्वारपालकाः । यद्वा भगवलोकस्य द्वारपा आतिवाहिकाः ।

सय एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते । बीरः पुत्रो जायते विद्यावीर्यसंपन्नो जायत इत्यर्थः । आनुपङ्गिकं फलमुक्त्वा प्रधानं फलमाह— प्रतिपयते स्वर्ग लोकं य एतानेवं पश्च ब्रह्मपु-

रुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

भगवल्लोकद्वारपालकोपासनयाऽनिवारितः सन्भगवल्लोकं प्रतिपद्यत इरपर्थः ॥ ६ ॥

एवं गायत्रीविद्याप्रकृतस्य द्यसंबन्धिनः सकलफलपदस्य परस्य ब्रह्मण आभिरूप्यकीर्तिमत्त्वरूपफलविशेषार्थं कौक्षेयज्योतीरूपत्वेनो-पासनाविधानायाऽऽह--

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु ।

'तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् '[ मु० १।१।७ ]इत्यत्र जगदन्तर्वर्ति-व्यष्टिजाते विश्वशब्दप्रयोगाद्धिश्वशब्दो व्यष्टिपरः । सर्वशब्दः परिशे-षात्समष्टितत्त्वपरः । ततश्चातः परो दिवोऽप्राक्ततस्थानविशेषस्योपरि-ष्टात्समष्टिव्यष्टिबहिर्भूतेष्वनुत्तमेषु स्वावधिकोत्तमरहितेषूत्तमस्थानविशे-षेषु 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [ मु० २।२।१०] इत्यवभासकतया ज्योति:शब्दितः परमात्मा यो दीव्यत इत्यर्थः । अत्र यच्छब्द्स्य सर्वनाम-रवेन प्रकृतपरामशितया प्रकृतं त्रिपाद्वह्म परामृश्यते।

इदं वाव तयदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।

तदिवः परस्ताद्वीप्यमानं त्रिपाद्वह्म यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे शरीर-स्यान्तज्योतिः । इदं वाव कौक्षेयज्योतिरेव कौक्षेयज्योतिः शरीरक-मेवेत्यर्थः ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥[गी०१५।१४]

इति स्मरणात् । ततश्च तदात्मकत्वानुसंधानं कर्तव्यमित्यर्थः । तस्येषा दृष्टिर्यत्रेतदस्मिञ्छरीरे सथस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति।

यदौष्णयोपलम्भनमित्यर्थः । उपलभ्यमानोष्णस्पर्शस्य जाष्ठराग्निसंब-न्भित्वात्तत्स्पर्शसाक्षात्कार एव तत्साक्षात्कार इत्यर्थः ।

तस्यैषा श्रुतिर्यत्रेतत्कर्णाविषगृह्य निनदिमिष नद्युरिवामेरिव ज्वलत उपश्रुणोति ।

यत्र यद् कर्णावङ्कालिभ्यामपिधाय निनद्मिव रथघोषमिव ऋषम-कूजितमिव बहिर्ज्वलतोऽग्नेः शब्द्मिव शृणोतीति यत्तदेतज्ञाठराग्नि-श्रवणम्। आन्तरस्य शब्द्स्य जाठराग्निसंबन्धित्वात्तच्छब्द्श्रवणमेव तच्छ्-वणमित्यर्थः।

तदेतद्दष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत।

तदेतत्परमात्मशरीरभूतं कौक्षेयज्योतिरुक्तरीत्या दृष्टत्वश्रुतत्वाभ्यामुपासीतेत्यर्थ:।

तस्य फलमाइ—

चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ७ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चक्षुष्यत्वमाभिरूष्यम् । चक्षुपे हितमित्यर्थे शरीरावयवाद्यदिति यत् । श्रुतत्वं कीर्तिमत्त्वम् । द्विरुक्तिविद्यासमाप्त्यर्था । उक्तः श्रुत्यर्थः सर्वोऽपि ज्योतिरिधिकरणे श्रुतप्रकाशिकायां स्पष्टः । एतत्त्वण्डान्तर्गतवाक्यवि-पयकमधिकरणमुपन्यस्यते । अथ यद्तः परो दिवो ज्योतिरिति ज्योतिः-शब्दितं प्रसिद्धमग्न्यादिज्योतिरेव कौक्षेयज्योतिरैक्याध्यासस्य भौतिक-ज्योतिष्येवोपपत्तेः । दीप्ते रूपवद्विषयत्वेन नीरूपे परमात्मिनि दीप्तेरसं-मवात् । चक्षुष्यत्वश्रुतत्वरूपाल्पफलोपासनोपास्यत्वरूपवाक्यशेषश्रुत-

लिङ्गानुगृहीतज्योतिःश्रुत्या प्रसिद्धमग्न्यादिज्योतिरेवेहोपदिश्यत इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते । 'ज्योतिश्वरणाभिधानात् । ' [ब० सू० १।१।२४] द्युसंबन्धितया निर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिः परमपुरुष एव । 'पादों ऽस्य सर्वा भूतानि ' इति मन्त्रे द्युसंबन्धिनः सर्वभूतचरणत्वाभि-धानात्तथैव द्युसंबन्धिन इहापि द्युसंबन्धित्वेन प्रत्यभिज्ञानात् । यच्छ-ब्द्स्य सर्वनामत्वेन प्रकृतपरामिशात्वस्यैव युक्ततया द्युसंबन्धित्वेन प्रकृर तित्रपाद्धह्मपरामर्शस्यैव युक्तत्वात् । फलार्थतया परमात्मन्येव कौक्षेयक-ज्योतिः शरीरकत्वानुसंधानस्योपपत्तेः । रूपवद्विषयदीप्तिद्युमर्यादत्वली-काधारत्वादीनामन्तरादित्यविद्यान्यायेन विग्रहविशिष्ट एवोपपत्तेः। भास-कत्वप्रवृत्तिनिमित्तकज्योतिःशब्द्स्यापि तत्र वृत्तिसंभवाज्ज्योतिःशब्द्तः परमपुरुप एव 'छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चतोर्पणनिगदात्तथा हि द्र्शनम् '[ ब० स्व० १।१।२५ ]। पूर्वत्र गायत्री वा इदं सर्वमिति गायज्याख्यच्छन्द्स एव प्रकृतत्वात्तस्यैव 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति सर्वमूतचरणत्वाभिधानाम्न परब्रह्मणः प्रकृतत्वं थेन यच्छव्द्श्रुत्या तत्प-रामर्शः स्यादिति चेन्न । तत्र गायत्रीशब्देन न च्छन्दः परामृश्यते । अपि तु बह्मण एव गायत्रीचेतोर्पणमिह निगम्यते। बह्मणि गायत्रीसाहश्या-नुसंधानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः । चतुष्पद्श्र बह्मणश्चतुष्पद्या गायच्या साह्यसंभवात् । तथाऽन्यज्ञापि सादृश्याच्छन्दाभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो हश्यते । यथा संवर्गविद्यायामग्रिसूर्यजल-चन्द्रवायुवाक्चश्चःश्रोत्रमनःप्राणरूपेषु द्शसु द्शत्वसंख्यासाम्यात् । सैपा विराइन्नादिति च्छन्दोवाचिनो विरादृशब्द्स्य प्रयोगो हृदः। 'भूताद्पाद्व्यपदेशोपपत्तेश्चेवम् ' [ब०स्०१।१।२६]। भूतप्रथिवीशरीर-हृद्यलक्षणपाद्चतुष्टयवत्त्वस्य सैपा चतुष्पदेति प्रतिपादितस्य च्छन्दे। रू-पायां गायज्यामसंभवाद्वायजीशब्देन बह्मवाभिधीयते । अतो गायजी-शब्दाभिहितं त्रिपाद्वद्धीव ज्योतिर्वाक्येऽपि यच्छब्दश्चत्या पूर्वप्रत्यि-ज्ञापकद्युसंबधित्वलिङ्गानुगृहीतया प्रतिपाद्यते । ' उपदेशभेदान्नीति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ' [ ब० सू०१ । १।२७ ] । पूर्ववाक्ये विषादस्यामृतं दिवीति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशाज्ज्योतिर्वाक्ये दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशान्न प्रत्यभिज्ञासंभव इति चेन्न । वृक्षाग्रे वर्तभाने

इयेने वृक्षाग्राच्छचेनो वृक्षाग्रे इयेन इति पश्चमीसप्तम्योः प्रयोगदृर्शनवः दिहाप्यपपत्तेरिति भाव इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ७ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

शाण्डिल्यविद्या प्रस्त्यतें-

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

जायते इति जं लीयत इति लं जलशब्दौ डप्रत्ययान्तौ । अनिति जीवतीत्यन् । क्षियन्तो विजन्तो वाऽयं शब्दः । तस्य जलान्, तज्जलान् । इतिहिं त्वर्थः । सर्वशब्दः सर्वशरीरकपरः । इदिमत्येतद्वह्मणः सर्वस्य वा विशेषणम् । अतथा तज्जत्वात्तल्लत्वात्तद्नत्वात्सर्वात्मकं बह्मति शान्तः सम्नुपासीतेत्यर्थः । अञ तज्जत्वतल्लत्वे स्थूलचिद्चिच्छरीरकबह्मगते उपा-दानोपादेयभावस्याभिस्ननिष्ठत्वात्तव्नुरूपे । तिस्नियाम्यत्वं तु न ब्रह्मगतं बह्मणस्तद्संभवत् । अपि तु चिद्चिन्नाव्यगतिमिति द्रष्टयम् । भगवता च भाष्यकृता सर्वं खिलवदं बह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति सर्वोत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्याऽऽत्मतयाऽनुप्रवेशक्वतजीवियतृ-खेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेः युपासनं विधायेति भाषितम् । व्यासा-र्थेश्च ब्रह्मात्मकरवं सर्वस्य शास्त्राद्वगम्य ।

> सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये। परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः॥

इत्युक्तरीत्या रागद्वेषादिरहितः सन्वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थ इत्युक्तम् । वक्ष्यमाणगुणकं बह्मोति वद्तां व्यासार्याणामयमाश्रयः— सर्वं खिलवित वाक्योक्तं सार्वात्म्यं तु नोपास्यगुणः । उत्पत्तिशिष्टसार्वा-तम्यगुणावरुद्धे मनोमयत्वादिवक्ष्यमाणगुणविधानानुपपत्तिप्रसङ्गात् । न चोपासनोत्पत्तिवाक्यश्रुतस्य सार्वात्म्यस्याविवक्षा कथमभ्युपगम्यत इति वाच्यम् । सर्वं खितवदं बह्म तज्जलानित्यन्तस्य वाक्यस्य खलुशब्दकृतेन प्रसिद्धवित्रेर्देशेनैकवाक्यत्वस्य निवास्तित्वात् । न ह्युपासीत खल्विति वचनव्यक्तिर्घटते । अतः सार्वात्म्यस्योपासनोत्पत्तिवाक्यश्रुतत्वाभावेन उपासीतेति वाक्य उपास्याकाङ्क्षायां पूर्ववाक्यप्रतिपन्नस्य

बह्मरूपर्धाममात्रस्यैवोपास्यतयाऽन्वयो न तु सार्वात्म्यविशिष्टस्य । तत्रश्चोत्पत्तिशिष्टसार्वात्म्यानवरोधाञ्च बक्ष्यमाणयनोमयत्त्वादिगुणानन्त्र-यशङ्का । सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेति तदर्थनिर्देशकभाष्येऽपि सर्वात्मकत्वं नोपास्यगुणतया निर्दिष्टम् । अपि तूपास्यबह्मणः स्वरूपकथनमात्रपर-मिति। तच सर्वमिप तैः कण्ठत एव वर्णितं च्। ननु ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य शास्त्राद्वगम्य रागद्वेषादिरहितः सन्वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीते-त्यर्थ इति व्यासार्थेरेवोक्तत्वात्तदेकवाक्यत्वसंभवे तज्जलानितीत्यन्तस्य पृथग्वाक्यंकल्पनायोगात् । सार्वात्म्यस्योत्पत्तिवाक्यविहितत्वेऽपि मनो-मयत्वादीनामुत्पत्तिशिष्टगुणाविरोधिनायन्वये दोषाभावाच वाक्यभेदक-ल्पनं वा शाण्डिल्यविद्यायां सार्वातम्यस्यानुपास्यत्वज्ञल्पनं वा व्यर्थमिति चेन्न । उपासीतेत्यन्तेन वाक्यैकवाक्यत्वाभ्युपगमेऽपि प्रकारान्तरेण वाक्यैकवाक्यत्विनराकरणे दोषाभावात्। शान्तिहेतुतयाऽन्वितस्य सार्वा-तम्यस्योपास्यगुणत्वे मानाभावादिति व्यासार्याभित्रायात् । ननु ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वाद्यत्र कचित्कियमाणस्यापि द्वेषादेशत्मद्वेषपर्यवसन्नत्वेनायु-क्तत्वाच्छान्तः सन्नुपासीतेत्युक्ते बह्मोपासीतेति कथमवगम्यते । सर्वं खाल्वदं ब्रह्मेत्यस्य शमविध्यर्थवाद्भूतस्योपास्यसमर्पकत्वाभावादिति चेत्सत्यम् । शमविध्यर्थतया निर्दिष्टस्यापि बह्मण उपास्याकाङ्क्षापूरक-त्वस्यापि संभवाद्न्यार्थतयाऽपि स्ववाक्यनिर्दिष्टं बह्म विहायोपास्यान्त-रकल्पनस्यानुचितत्वात, मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोतीत्यत्र मूलत इत्यस्य शाखापरिवासनेऽपादानतयाऽन्वितस्याप्याकाङ्क्कावशेनो-पवेषं करोतीत्यनेनाप्यन्वयाभ्यूपगमादिति द्रष्टव्यम् ।

विहितमुपासनं स्तौति-

अथ खलु कतुमयः पुरुषो यथाकतुरस्मि-ह्योंके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।

'तं यथा यथोपासते तथैव भवति ' इति श्रुत्यन्तरादिह लोके पुरुषो यथाक्रतुर्यथोपासनस्तथैवेतः प्रत्यामुष्मिह्नोके भवति । ततो हेतोः पुरुषः कतुमयः क्रतुप्रधान उपासनप्रधान इत्यर्थः । ततश्चोपासनस्यैव हितत-मत्वात्सर्वथाऽनुष्ठेयमित्यर्थः ।

एवं विहितं ब्रह्मोपासनं मनोमयत्वादिगुणान्तरविधानायानुवद्ति-

# स कतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

उपासकः कतुं ब्रह्मण उपासनं कुर्वीतेत्यर्थः ॥ १ ॥ गुणानेवाऽऽह-

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा ।

मनोमयः परिशुद्धमनोमात्रवाह्यो विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीत-परमात्मोपासननिर्मलीकतमनोमात्रयाह्य इत्यर्थः । प्राणशरीरः । जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः प्राणो यस्य शरीरमाधेयं विधेयं शेषभूतं च स प्राणशरीर: । आधेयत्वविधेयत्वशेयत्वानामेव श्रीरशब्दप्रवृत्तिनिमि-तत्वात् । भारूपो भास्वरुद्धपः । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् 'िश्वे॰ ३।८ ] 'पर्यते रुक्मवर्णम्' [ मु०३।१।३ ] इत्यादिवाक्यप्रतिपन्नाप्राकृ-तस्यासाधारणनिरतिशयकल्याणगुणगणनिरतिशयदीप्तियुक्तविग्रहशा-लीत्यर्थः । सत्यसंकल्पोऽप्रतिहतसंकल्पः । आकाशात्माऽऽकाशवत्सूक्ष्म-स्वच्छस्वरूपः सकलेतरकारणभूताव्याकृताकाशस्याऽऽत्मभूत इत्याका-शात्मा । स्वयं च प्रकाशतेऽन्यांश्च प्रकाशयतीति वाऽऽकाशात्मा ।

### सर्वकर्मा ।

क्रियत इति कर्म सर्वं जगद्यस्य कर्मासौ सर्वकर्मा सर्वा वा क्रिया यस्याऽऽराधनमसौ सर्वकर्मा।

#### सर्वकामः ।

काम्यन्त इति कामाः । भोग्यभोगोपकरणादयस्ते परिशुद्धास्तस्य सन्तीत्यर्थः ।

#### सर्वगन्धः सर्वरसः ।

अशब्दमस्पर्शमित्यादिना प्राक्वतगन्धरसादिनिपेधात्प्राक्वतस्वासाधा-रणा निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूताः सर्वविधा गन्ध-रसास्तस्य सन्तीत्यर्थः।

## सर्वमिदमभ्यातः ।

उक्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातमभ्यात्तः स्वीकृतवान् । भुक्ता बाह्मणा इतिवत्कर्तारे क्तप्रत्ययोऽर्श्वाद्यजन्तो वा ।

अवाकी।

वाक उक्तिः साऽस्य नास्तीत्यवाकी । कुत इत्यत्राऽऽह—

अनादर: ॥ २ ॥

अवाप्तसमस्तकामत्वेनाऽऽदर्तव्याभावादाद्ररहित: । अत एदावाकी परिपूर्णेश्वयंत्वाद्वह्मादिस्तम्बपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोपमासीन इत्यर्थ: ॥ २ ॥

> एष म आत्माऽन्तर्हदयेऽणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्या सर्षपादा श्यामाकादा श्यामाकतण्डुलादा।

मदीये हृद्ये बीह्याद्यपेक्षयाऽणुत्वेनाल्पत्वेनैष परमात्मोपासनार्थमव-स्थित इत्यर्थः । तथाऽनुसंधानं कर्तव्यमिति भावः ।

अन्तर्हृद्येऽवस्थितस्योपास्यमानस्य प्राप्याकारममुसंधेयं निर्दिशाति-एष म आत्माऽन्तर्हदये ज्यायानपृथिव्या ज्यायान-न्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥३॥

अन्तर्हृद्ये विद्यमानोऽपि स्वरूपतो निरतिशयपरिमाण इत्यर्थः॥ ३॥ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्व-रसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।

उक्तोऽर्थः।

एवं भूतं परं बह्म परमकारुण्येनास्मदु जिजीव यिषपा ऽस्मद् भृद्ये संनिहितमित्यनुसंधातव्यमित्याह-

एष म आत्माउन्तह्दय एतद्वह्म।

यथोपासनमीदृशं परमात्मानमस्माच्छरीरात्समुत्थाय 'परं ज्योति-रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्युक्तरीत्या देशविशेषविशिष्टं प्राप्तास्मीति निश्चयरूपमनुसंधानं कर्तव्यमित्याह—

एतिनः प्रत्याभिसंभवितास्मीति।

अत्रेतीत्यस्य स क्रतुं कुर्वीतेत्यनेनान्वयः। मनोमयः प्राणशरीर इत्यार-भ्यैतमितः भेत्याभिसंभवितास्मीत्येतत्पर्यन्तोऽनुसंधानप्रकारः । अत्र चेति- शब्द्निर्दिशे मनोमयत्वादिगुणगतः क्रमविशेष एक एव विधीयते।मनोमयत्वाद्युपास्यगुणानां त्वाक्षेपतो विधानं पृष्ठगतसर्वताविधानादिव पृष्ठानाम् । ततश्च प्राप्तानुवादेन मनोमयत्वाद्यनेकगुणविधाने वाक्यभेद् इति
शङ्का प्रत्युक्ता । यद्वा विधेयानां बहुत्वेऽपि क्रमरूपविधेयतावच्छेद्कैक्यान्न वाक्यभेदः । यद्व्यये च प्रजापतये चेति वाक्ये देवतात्वरूपविधेयतावच्छेद्कैक्येन वाक्यभेद्स्य तान्त्रिकैः परिहृतत्वात् । केचित्तु
प्राप्तोपासनानुवादेनाभ्युद्येष्टिवाक्यवत्प्रयोगविधित्वसंभवान्न वाक्यभेद्
इति वदन्ति ।

एवंविधप्राप्यप्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्ती-त्युपसंहरति—

### यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति ।

अत्रेतिशब्दोऽध्याहर्तव्यः । अभिसंभवितास्मीतीतिशब्दस्य क्रमवाच-कस्यैव काकाक्षिन्यायेन वाऽन्वयः । उक्तप्रकारेण यस्योपासकस्याद्धाः निश्चयोऽस्ति तस्य प्राप्तौ संशयो नास्ति ।

उक्तार्थस्य श्रद्धेयत्वसिद्धौ वक्तुराप्तिं दर्शयति— इति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यथां। अयमर्थः सर्वोऽपि भाष्यश्चतप्रकाशिकयोः स्पष्टः। एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यते। इयं च विद्या समन्वयाध्याये द्वितीयपादे चिन्तिता। तत्र हि सर्वं खिल्वदं बह्मेत्यत्र बह्म-शब्देन प्रत्यगात्मेव निर्दिश्यते। तत्र्येव सर्वपद्सामानाधिकरण्यनिर्देशो-पपत्तेः। सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि बह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्सं जगत्। बह्मादि-स्तम्बपर्यन्तभावश्च प्रत्यगात्मन एवानाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिक उपपद्यते। परमात्मनो निरस्तसमस्तावद्यस्य समस्तहेयाकारसर्वभावो नोपपद्यते। परत्यगात्मन्यपि बह्मशब्दः क्वचित्कचित्पयुज्यत इदं बह्माऽऽ-यातीत्यादौ। अत एव परमात्मा परं बह्मोति परमेश्वरस्य क्वचित्स-विशेषणो निर्देशः। प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधर्बद्मात्वं च विद्यते 'स

चाऽऽनंन्त्याय कल्पते ' [श्वे०५।९] इति श्वते: । अविद्वपस्तस्यैव कर्मनि-मितत्वाज्जगज्जनमस्थितिरुयानां तज्जरुगनिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते । अतो जीव एवात्र संदर्भे प्रतिपाद्यत इति पूर्वपक्ष उच्यते ' सर्वत्र प्रसि-द्धोपदेशात् ' [ ब० सू० १ । २ । १ ] । सर्वस्मिञ्जगति सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मैव । कुतः । प्रसिद्धोपदेशात् । तज्जत्वतह्यत्वादिना सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रसिद्धवदुपदेशात् । यस्माज्ज-गज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धास्तदेवात्र बह्येति प्रतीयते। वेदान्त-प्रसिद्धत्वं च परब्रह्मण एव । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते 'ितै० ३।१ ] इत्यादिवेदान्तेषु परब्रह्मण एव प्रसिद्धेः । तस्य ब्रह्मादिस्तम्ब-भावेऽपि प्रकारभूतशरीरगतानां दोपाणां प्रकारिण्यात्मन्यसंस्पर्शान्ति-रस्तसमस्तावद्यत्वस्य नानुपपत्तिः । जीवानां च प्रतिशरीरं भिन्नाना-मन्योन्यतादारम्यासंभवेन सर्वात्मकत्वस्यासंभावितत्वात्सर्वात्मकत्वमसं-भावितमेव । अतः सर्वजगत्कारणत्वप्रयुक्तसर्वात्मकत्वस्य परब्रह्मण्येव संभवात्परमेव बह्रोह वाक्ये प्रतिपाद्यते । 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ' [ब० स्० १।२।३] । विवक्षितानां मनोमयत्वसत्यसंकलपत्वादिगुणानां परमा-त्मन्येवोपपत्तेश्च विवक्षितत्वं तात्पर्यविषयत्वं मनोमयत्वादीनां च । यथाकतुरस्मिहाँके पुरुषो भवतीति वाक्येन मनोमयत्वादिगुणको-पासनेन तद्वणकबह्मप्राप्तः फलत्वावेदनेन फलरूपतात्पर्यलिङ्गस-द्भावान्मनोमयत्वादीनां तात्पर्यविषयत्यलक्षणं विवक्षितत्वमवसी-यते । 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' [ ब० सू० १।२।३] विव-क्षितानां गुणानां शारीरेऽनुपपन्नत्वान्न शारीरपरियहशङ्का कार्ये-त्यर्थः । 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' [ ब० स्०१।२।४ ] एवमितः पेत्या-भिसंभवितास्मीति प्राप्यतया परं ब्रह्म व्यपदिश्यते प्राप्ततया च जीवः। अतः प्राप्ता जीवोपासकः । प्राप्यं परं ब्रह्मोपास्यमिति । ' शब्दविशे-षात्। ' [ ब० सू० १ । २।५ । ] एष म आत्माऽन्तर्हृद्य इति शारीरः पष्टचा निर्दिट उपास्यस्तु प्रथमया । अतो नोपासकस्य जीवस्यैवोपा-स्यत्वम् । 'स्पृतेश्च' [ ब० सू०१।२।६]

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविद्यो मत्तः स्युतिर्ज्ञानमपोहनं च। [ गी० १५१५]

इत्युपास्यं हृद्यगतमुपासकाद्भिन्नं परमात्मानं दर्शयति । ' अर्भ-कौकस्त्वात्तद्यपदेशाच नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च [ ब० सू०

१।२।७] अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वं तद्यपदेशोऽल्पत्वव्यपदेशः। एप य आत्माऽन्तर्हृदय इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वादणीयान्त्री-हेर्वा यवाद्वेत्यादिना स्वरूपेणाणीयस्त्वव्यपदेशाच नायं परमात्माऽपि तु जीव एव परमात्मनोऽल्पायतनत्वाल्पत्वयोरसंभवादिति चेन्न । एवं निचाय्यत्वाद्रल्पायतनत्वाल्पत्वाभ्यां तस्यैवोपास्यत्वसंभवात् । व्योमव-चेदं ब्रह्म व्यपदिश्यते ज्यायान्ष्रथिव्या इत्यादिना । अतश्च ज्यायस्त्व उपाध्यश्रवणाञ्ज्यायस्त्वं स्वाभाविकम् । अणीयस्त्व उपाधिश्रवणाद-णीयस्त्वमौपाधिकमित्यवसीयते । 'संभोगपाप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । ' [ब०सू०१।२।८] परब्रह्मणः शरीरान्तर्वितित्वे तन्निमित्तसुखदुः-खोपभोगप्रसक्तिर्जीववत्स्यादिति चेन्न । तयोरपहतपाष्मत्वानपहतपाप्म-त्वकृतविशेषसञ्ज्ञावान्न जीववञ्जोगप्रसक्तिरिति स्थितम् । प्रकृतमनुस-रामः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पुत्रदीर्घायुष्यफलकं त्रैलोक्यात्मककोशविज्ञानमारभ्यते— अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।

अन्तरिक्षमुद्रं यस्य स तथोक्तः । मध्यवर्तित्वाद्नतरिक्षस्योद्रत्वम् । कोश इव कोशः कोशसाद्दरयात् । भूमिर्बुद्धो मूलं यस्य स भूमिनुधः । न जीर्यति न विनश्यति चिरकालावस्थायित्वादिति भावः।

दिशो ह्यस्य स्नक्यः।

स्रक्तयः कोणा इत्यर्थः ।

यौरस्योत्तरं विलम्।

स्पष्टोऽर्थः ।

स एष कोशो वसुधानः।

कर्मफलारुपं वसु धीयतेऽस्मिन्निति वसुधानः। तस्मिन्विश्वमिद्ध श्रितम् ॥ १ ॥

कर्मकर्तृफलात्मकं परिदृश्यमानं कृत्स्नमस्मिन्कोशे श्रितम् ॥ १॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची। स्पष्टोऽर्थः ।

तासां वायुर्वत्सः ।

वायोदिकप्रसृतत्वाद्वरसत्वस् ।

स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदः रोदिति ।

दिग्वत्सत्वेन वायूपासकः पुत्रनाशनिमित्तं रोदनं न करोति । पाकं पचतीतिवद्यं निर्देशः । रोद्मिति णमुलन्तो वा ।

> सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदश रुदम् ॥ २ ॥

एतदुपदेष्टाऽहमेवैतदुपासनमनुष्ठाय पुत्ररोदनाभावं फलं प्राप्तवान-स्मीत्यर्थः ।

अथ कोशविज्ञानाङ्गभूतान्त्रपद्नमन्त्रानाह— अरिष्टं कोशं प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽमुना ।

अरिष्टमविनाशं कोशं प्रपद्ये । अमुनाऽमुनाऽमुनेति ज्ञिः पुत्रस्य नाम गृह्णाति । अमुना पुत्रेण हेतुनाऽरिष्टं कोशं प्रपद्यं इत्यर्थः । एवमुत्तर-त्रापि।

> प्राणं प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपयेऽ-मुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽ-मुना स्वः प्रपयेऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

स्वोक्तमन्त्रान्स्वयमेव व्याचधे-

स यदवोचं प्राणं प्रपय इति प्राणो वा इदध सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्रापत्सि ॥ ४ ॥

सोंऽहं पाणं प्रपद्य इति यद्वचनमवोचं तेन वचनेन प्राणात्मकं सर्व जगत्त्रापत्सि प्रपन्नोऽभवमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ यदवोचं भूः प्रपच इति पृथिवीं प्रपचेऽन्त-रिक्षं प्रपचे दिवं प्रपच इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

मू: प्रपद्य इत्यस्य त्रीहाँकान्प्रपद्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ यदवोचं भुवः प्रषय इत्यमि प्रषये वायुं प्रषय आदित्यं प्रषय इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥ अथ यदवोच स्वः प्रषय इत्युक्तग्वेदं प्रषये यजुः वैदं प्रषये सामवेदं प्रषय इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था ॥ ७ ॥

इति च्छादोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य पश्चद्शः खण्डः ॥ १५ ॥

द्रीघांयुष्ट्रफलकपुरुषविद्या प्रस्तूयते—
पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विथ्शतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम् ।

पोडशोत्तरवर्पशतमिते पुरुषायुष आद्यानि चतुर्विशतिवर्षाणि पातःसवनम् ।

तत्र हेतुमाह—

चतुर्वि श्रात्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनम् ।

पातः सवनस्य गायत्रीछन्द्स्कत्वाद्गायत्रीछन्द्सश्चतुर्विशत्यक्षरात्मक-त्वाचतुर्विशतिवर्षे प्रातः सवनत्वाध्यासो युज्यत इति भावः ।

तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः ।

अस्योपासकस्य तत्प्रातः सवनं वसवः स्वामित्वेनानुगताः । प्रसिद्ध-यज्ञे पातः सवनस्य वसुस्वामिकत्वादिति भावः । प्रसिद्धान्वसुन्व्यावर्तयति-

प्राणा वाव वसवः।

बावशब्दोऽवधारणे। प्राणानां वसुत्वे युक्तिमाह—

एते हीद् सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

शरीराणामशैथिल्यलक्षणवासस्य प्राणाधीनत्वादिति मावः ॥ १ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्।

तं पुरुषविद्यानिष्ठमेतस्मिन्वयसि चतुर्विशतिवर्षात्मके वयसि किंचि-द्रोगादिकं बाधेत चेदित्यर्थः।

> स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यं-दिन सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति ।

तदेमं मन्त्रं स उपासको बूपात् । हे प्राणा वसवो यज्ञ रूपस्य ममा-धुना प्रातः सवनं प्रवर्तते । इदं प्रवर्तमानं प्रातः सवनं माध्यंदिनसवने-नाविच्छिन्नं कुरुत । प्रातःसवनेशानां प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञोऽहं मा विलोप्सीय लुप्तो मा भूवम् । छाम्द्सो माङि लुङमावः । माशब्दो वा।

उद्धेव तत ह एत्यगदो भवति ॥ २ ॥

तत उपतापादुदेत्युद्धच्छति । अगदो भवत्यरोगो भवति । एवमु-त्तरत्रापि ॥ २ ॥

> अथ यानि चतुश्रत्वारिश्शदर्षाणि तम्माध्यंदिनश सवनं चतुश्रत्वारिश्शदक्षरा त्रिष्टुप्त्रेष्ट्रभं माध्यं-दिनः सवनं तदस्य रुदा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुदा एते हीदश सर्वश रोदयन्ति ॥ ३॥ तं चेदेतस्मिन्वयासि किंचिदुपतपेत्स ब्रुया-त्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यंदिन सवनं

तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणा-ना रुदाणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीये-त्यु द्वेव तत एत्यगदो भवति ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारि शहर्षाणि तत्तृतीयसवन-मष्टाचत्वारि शदक्षरा जगती जागतं तृतीय-सवनं तदस्याऽऽदित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीद सर्वमाददते ॥ ५ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स द्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति ।

तृतीयसवनात्मकमायुरासमाप्त्यविच्छिन्नं कुरुतेत्यर्थः ।

माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीये-त्युखैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

एतद्ध स्म वे तिद्दानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपिस योऽहमनेन न प्रेष्यामीति।

हे रोग स त्वं मे मां किं कस्मादुपतपिस थोऽहं त्वत्कृतेनोपतापेत न पैष्यामि न मरिष्याम्यतस्तव श्रमो वृथैवेति । एतत्पुरुपविज्ञानस्वरूपं विद्वानितरपुत्र ऐतरेयो महिदासो नामाऽऽह स्मेत्यर्थः । शुभ्रादिखादित-रशब्दाद्पत्यार्थे ठक् ।

## स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्।

स महिदासः पोडशं पोडशाधिकं वर्षशतमजीवदित्यर्थः। 'तद्सिन्नः धिकमिति दशान्ताडुः' इति पोडशशब्दाडुप्रत्ययः । अतो विद्यायां फलप्रापकत्वनिश्चयवतोऽवश्यं फलप्राप्तिर्भवतीति भावः।

अन्योऽप्येवंवित्योडशं वर्षशतं जीवतीत्याह—

प्र ह षे। डशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।। ७ ।। इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः ॥ १६॥

तथा पुरुषस्य यज्ञसाष्ट्रश्यमेव निरूपयति-स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

अज्ञानायापिपासारत्यभावानां दुःखात्मकत्वेन दीक्षात्वं कल्प्यमि-त्यर्थः ।

अथ यदश्राति यत्पिवति यदमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥ अज्ञनपानरतीनां पयोवतादियुक्तोपसद्वत्सुखरूपस्वादुपसद्वपत्वम् । उपसद्धिः साम्यमेतीत्यर्थः ॥ २ ॥

> अथ यद्धसति यज्ञक्षति यन्मैथुनं चराति स्तुतशक्षिरेव तदेति॥ ३॥

हासादीनां शब्दवस्वसाम्यात्स्तुतशस्त्रैः साम्यमेतीत्यर्थः॥ ३॥ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिश्सा सत्य-वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

धर्मपुष्टिकरत्वसाम्यादिति भावः ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य ।

यतः पुरुषस्यैव यज्ञरूपत्वमत एव यथा यज्ञं करिष्यमाणे पुरुषे देवदत्तः सोमं सोव्यतीति प्रयुक्तते तथा पुरुषस्योत्पादनानन्तरमसोष्ट सोमं यज्ञद्त्त इतिवद्सोष्ट माता पुरुषमित्युत्पत्तेः पश्चात्रयुञ्जते । ततः

पुरुषस्य चोत्पाद्नमेव सोष्यत्यसोष्टेतिशस्यसंबन्धित्वसामान्याचजानुष्ठा-नलक्षणमुत्पाद्नमित्यर्थः ।

तन्मरणमेवावभृथः ॥ ५ ॥

समाप्तित्वसाम्यादिति मावः ॥ ५ ॥

तद्दैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच ।

घोरनामाऽङ्गिरोगोत्रस्तदेतत्पुरुषयज्ञदर्शन देवकीपुत्राय कृष्णाय । इतिशब्दोऽध्याहर्तव्यः । तच्छेषभूतं तत्त्रीत्यर्थमित्युक्त्वेत्यनुसंधायो-वाचानुष्ठितवानित्यर्थः । वचेर्लक्षणयाऽनुष्ठानार्थत्वम् ।

### अपिपास एव स वभूव।

स घोरनामा मगवच्छेपत्यानुसंधानपूर्वकपुरुषयज्ञोपासनानुष्ठानेन बह्मविद्यां प्राप्यापिपासो मुक्तो बभूवेत्यर्थः । ततश्च षोडशाधिकवर्ष-शतजीवनफलकस्यापि पुरुषयज्ञदर्शनस्य मगवच्छेपत्वानुसंधानपूर्वकम-नुष्ठितस्य बह्मविद्योपयोगित्वमप्यस्तीति भावः ।

स धमूवेश्यस्य स भवतीत्यर्थः । सोऽन्तवेलायामित्यत्र स इत्यस्य य इत्यर्थः । ततश्च योऽन्तवेलायामेतञ्चयं प्रतिपद्येत सोऽपिपासो भवतीत्यु-वाचेत्युत्तरत्रान्ययः ।

### सोऽन्तवेलायामेतञ्जयं प्रतिपयेत ।

स मगवच्छेषत्वानुसंधानपूर्वकपुरुषविद्यासाधितचिरायुद्दानुगृहीत-ब्रह्मविद्यानिष्ठः पुरुषः ।

अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसःशितमसीति ।

मरणकाल एतन्मन्त्रत्रयं जपेदिस्यर्थः । अक्षितमसि क्षयशून्यमसि । अच्युतमसि स्वरूपस्वभावप्रच्युतिशून्यमसि । प्राणसंशितमसि जगत्प्रा-णियृत्वे सित सूक्ष्मतस्वमसीति ब्रह्मसंबोधनम् । शो तनूकरण इति हि धातुः ।

तत्रैते द्वे ऋची भवतः ॥ ६ ॥

तत्र परब्रह्मविषय एतावृद्धान्त्रौ भवतः॥ ६॥

आदित्पत्नस्य रेतसः।

तयोर्ऋचोरयमाद्यो मन्त्रः प्रतीकेन गृहीतः । 'आदित्प्रानस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासर्रम् । परो यादिध्यते दिवा ।' इति । प्रत्नस्य पुरात-

नस्य रेतसो जगद्वीजभूतस्याव्यक्तस्याऽऽदिभूतं संसारसंतमसनिवारक-तया ज्योति:शब्दितं परं ब्रह्म 'सदा पश्यन्ति सूरयः ' इत्युक्तरीत्या नित्यसूरयो वासरं नित्यप्रकाशरूपं सर्वकालं पश्यन्तीत्यर्थः । यज्ज्योतिः ' अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीव्यति ' इत्युक्तरीत्या भगवलोके परखेन दीध्यते निरतिशयदी प्रियक्त विग्रहयुक्त मिरपर्थः ।

> उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरः स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥ ७॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य सप्तदशः

> > खण्डः ॥ १७॥

तमसः प्रकृतेः परस्तादुत्तरं ज्योतिः परिपद्यन्तः । उत्तरं स्वो मगव-ह्योकं परिपश्यन्तः । अत्र परिपश्यन्त इत्युभयत्र हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः । मगवलोकस्य तद्वतपरमात्मनश्च दर्शनायेति यावत् । देवना देवेषु देवमनुष्येश्यादिना सप्तम्यन्तात्त्राप्रत्ययः । देवं द्योतमानमुत्तममर्चि-रादिपर्वभूतं सूर्यरूपं ज्योतिर्वयसुद्गन्म प्राप्ताः स्मेत्यर्थः । द्विरभ्यासो यज्ञकल्पनासमाष्त्यर्थः। एतत्खडान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यते गुणोपसंहारपादे तैत्तिरीयके 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽस्मा यजमानः। श्रद्धा पत्नी शरीरम् । ' [ तै० आर० १० । ६४ । ] इति भ्रुतायाः पुरुषविद्यायाः ' पुरुषो वाव यज्ञः ' इति च्छान्दोग्यास्नाता पुरुपविद्या न भिन्ना पुरुषविद्येति समास्यैक्यात्पुरुषसंबन्धिपु यज्ञावयवत्वकल्पना-साम्यान्मरणावभृथत्वसाम्याचेति पूर्वपक्ष उच्यते—' पुरुषाविद्यायामिव चेतरेपामनाम्नानात् । ' बि० सु० ३ । ३ । २४ ] उभयत्राऽऽम्नातयोः पुरुषविद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्रयेव । कुतः । इतरेषामनाम्नानात् । 'यत्सायं प्रातर्मध्यंदिनं च तानि सवनानि' ति अार०१०।६४ ] इत्या-दिना तैत्तिरीयकाम्नातानां छान्दोग्येऽनाम्नानात् । त्रेधाविभक्तपुरुषायुष-स्यैव च्छान्दोग्ये सवनत्वेनाऽऽम्नानात्, छान्दोग्यश्रुताशिशिषादिदीक्षा-दिखपरिकल्पनस्य तैत्तिरीयकेऽदर्शनात्, यजमानपत्न्यादिपरिकल्पनानां च भिन्नत्वात् , 'छान्दोग्ये पुरुषो वाव यज्ञः ' इति श्रुतस्य पुरुषे यज्ञ- 
> इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य सप्तद्शः खण्डः ॥ १७ ॥

अध्यातमं मनस्यधिदैवतमाकाशे च बह्मदृष्टिरुपदिश्यते—

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मे-त्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

आदिष्टमुपदिष्टमित्यर्थः ॥ १ ॥

तदेतचतुष्पाद्वस्र ।

तदेतन्मनआरुयं ब्रह्म चतुष्पात् । कथं मनोरूपस्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमित्यत्राऽऽह—

वाक्पादः प्राणः पादश्रक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् ।

वागादीनां चतुर्णां मनोनियाम्यत्वान्मनःपाद्श्वाध्यासो युज्यत इति भावः।

अथाधिदैवतमािशः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इति ।

अग्न्याद्यश्चत्वारो ब्रह्मरूपाकाशस्योद्रलग्नाः पादा इव मान्तीत्यर्थः। उभयमेवाऽऽदिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदेवतं च ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

वागेव बह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽभिना ज्योतिषा भाति च तपति च।

बह्मरूपस्य मनसो वागेव चतुर्थः पादः सोऽधिदैवताकाशसंबन्धि-नाऽग्निना ज्योतिषा प्रकाशकेन भाति प्रकाशते तपति स्वकार्योत्साही भवतीत्पर्थः । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ' [ ऐ० २ । ४ ] इत्यः ग्निदेवताया एव वागधिष्ठातृत्वेन तद्धीनप्रकाशप्रवृत्तिकत्वादिति भावः । एवमुत्तरत्रापि दृष्टव्यम् ।

> भाति च तपित च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वितरणविक्रमरूपहेतुभेदात्कीर्तियशसोर्भेदः। ब्रह्मवर्चसं वृत्ताष्ययन-समृद्धिः॥ ३॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

वायुप्राणयोरैक्यादिति भावः ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदि-त्येन ज्योतिषा भाति च तपित च भाति च तपित च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

आदित्यस्पैव चश्चरधिष्ठातृत्वादिति भावः॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्या-ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

'विशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' [ऐ० २।४] इति विग्देवतानां श्रोत्राधिष्ठातृत्वादिति भावः । अवशिष्टस्योक्तोऽर्थः । द्विरुक्तिर्विद्या-समाप्त्यर्था ।

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां नृतीयप्रपाठकस्या-ष्टाद्शः खण्डः ॥ १८ ॥

पूर्वजाऽऽदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्तः । तस्मिःसकलब्रह्मदृष्ट्यर्थमिद्-मारभ्यते—

आदित्यो बह्नेत्यादेशः।

आदित्यो ब्रह्मेत्युपदेशः क्रियत इत्यर्थः।

तस्योपव्याख्यानम् ।

क्रियत इति शेष:।

असदेवेदमग्र आसीत्।

इदं जगद्येऽसद्व्याकृतनामक्तपमासीत्।

तत्सदासीत्।

तद्याकृतनामरूपं जगत्सदासीत्।ईपन्नामरूपकार्याभिमुखमासीत्। तत्समभवत्।

अल्पतरनामरूपव्याकरणेनाङ्करीभूतिमव बीजं क्रमेण स्थूलमभव-दित्यर्थः।

#### तदाण्डं निरवर्तत ।

अण्डं संवृत्तमित्यर्थः । आण्डमिति च्छान्द्सो दीर्घः । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत ।

संवत्सरस्य मात्रां परिमाणमेकरूपतयाऽशयत स्थितं बभूवेत्यर्थः। तन्त्रिरभियत ।

संवत्सरकालादृध्वं तद्ण्डं निर्भिन्नमभवत् । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्॥ १॥

आण्डकपाले । आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चैकेकमभवता-मित्यर्थः ॥ १ ॥

तद्यइजतः सेयं पृथिवी ।

यद्गजतमयं कपालं तत्ष्ट्राथिव्याद्युपलक्षितमधोण्डकपालमित्यर्थः । यत्सुवर्णं सा द्योः ।

सुवर्णमयकपालं सुलोकोपलक्षितमूर्ध्वकपालम् । यज्जरायु ते पर्वताः ।

जरायु गर्भपरिवेष्टनम् । अण्डस्य शकलीभावद्शायां याः स्थूलगर्भ-परिवेष्टनशिरास्ते पर्वता बभूवुरित्यर्थः ।

यदुल्व स मेघो नीहारः।

यदुल्बं यत्स्क्ष्मं गर्भपिरवेष्टनं तन्मेघसहितं हिमस् । या धमनयस्ता नयः।

धमनयः शिरा इत्यर्थः।

यहास्तेयमुदक स समुद्रः ॥ २ ॥

वस्तौ भवं वास्तेयम् ॥ २ ॥ अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः ।

तस्मिन्नण्डे गर्भरूपं यद्जायत स आदित्यः।

तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदितष्ठन्तस-

तमादित्यं जायमानमनूलूलव उक्तरव उक्तरवा विस्तीर्णरवा महाध्व-नियुक्ता उलूलव इति च्छान्दरां रूपम् । घोषाः शब्दाः स्थावरजङ्गमानि भूतानि च तेषां कामाः काम्यमानाः स्त्रीवस्त्राद्यश्चोद्तिष्ठस्नुत्थितवन्त इत्यर्थः । सर्वस्याऽऽदित्योद्यानन्तरभावित्वादिति भावः ।

तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायतनं प्रति घोषा उलूलवोऽ-

नूतिष्ठान्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥ ३ ॥
तस्माद्यत्वेऽप्यादित्यस्योद्यं प्रति प्रत्यायनमस्तमयं च प्रति उरुरवाः
शब्दा भूतानि च कामाश्चोत्पद्यन्त इत्यर्थः । उद्यास्तमयवेलायां हि
पक्षिघोषादीनां च द्र्शनादिति भावः ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनः साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्नेडेरन्निम्नेडेरन् । इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्यैकोन-विंशः खण्डः ॥ १९ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ३ ॥

हशब्दः प्रसिद्धौ। एतमादित्यब्रह्मोपासकमभ्याशः क्षिप्रं यद्य इत्यर्थः। ये साधवः शोभना घोषास्ते सर्व उप समीप आ च गच्छेयुरागच्छेयुश्च। निम्रेडेरन्सुखं च कुर्युरित्यर्थः । मृड सुखे चेति धातुरन्तर्भावितण्यर्थः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था॥ ४॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्यै-कोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ३ ॥ संवर्गविद्या प्रस्तूयते विद्यास्तुत्यर्थाऽऽख्यायिका— जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धा-देयो बहुदायी बहुपाक्य आस ।

जनश्रुतस्यापत्यं जानश्रुतिः । हशब्दः प्रसिद्धौ पुत्रस्य पुत्रः पौत्रस्त-स्यापत्यं पौत्रायणः । श्रद्धापुरःसरं देयं यस्य स श्रद्धादेयः । अधिभ्यो बहु दातुं शिलमस्य स बहुदायी । बह्वस्य गेहेऽन्नं पक्तव्यं यस्य स बहु-पाक्यः । एवंगुणसंपन्नो जानश्रुतिः कस्मिश्चिद्देश आस ।

स ह सर्वत आवसथान्मापयांचके सर्वत एव मेऽल्लमतस्यन्ति ॥ १ ॥

स ह जानश्रुतिः सर्वत एत्यातिथयो ममान्नं भोक्ष्यन्त इत्यभिपा-येण सर्वासु दिक्षु ग्रामनगरमार्गारण्यादिषु पान्थानामनाथानां शीत-वातवर्षातपनिवारकान्नोदकशयनाच्छादनादिषूर्णाः शालाः कारितवा-नित्यर्थः॥ १॥

अथ ह हश्सा निशायामतिपेतुः।

एवं सति कस्यांचिद्रात्रौ केचन महात्मानोऽन्नदानादिगुणैस्तोषिता भूत्वा हंसरूपाः सन्तो राज्ञो दर्शनगोचर आगताः।

तत्त्रस्मिन्काले तेषां हंसानां मध्य एकः पृष्ठतो गच्छन्हंसोऽग्रेगामिणं कंचन हंसमुवाच ।

> भो भोऽिय भहाक्ष भहाक्ष जानश्रुतेः पौत्रा-यणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसा-ङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ॥ २ ॥

मो मोऽयीति संबोध्य महाक्ष महाक्षेत्यनेन विपरीतलक्षणया मन्द्-लोचनेति संभ्रमेण द्विवारं संबोधनम् । समं दिवा । स्वर्गेण समं दिवा दिवसेन समं वाऽस्य राज्ञस्तेजः प्रसृतं तत्तस्मिस्तेजसि मा प्रसाङ्क्षीमां प्रसक्तो भूः । प्रसक्ती को दोष इत्यबाऽऽह—तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति । तत्तेजस्त्वां मा दहेदित्यर्थः ॥ २ ॥

#### तमु ह परः प्रत्युवाच ।

एवं जानश्रुतिप्रशंसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य तद्सहमान इवापरो हंसः प्रत्युवाच ।

कं वर एनमेतत्सन्त सयुग्वानिमव रैकमात्थेति ।

उ इत्यनर्थको निपात:। अरे कं सन्तं केन माहातम्येन युक्तमेनं जान-श्रुतिं प्रति सयुग्वानं सशकटं रैकमिव रैकं प्रतीवैतत्प्रशंसापरं वचनं बवीपि । रैक एव बहाजो महाप्रभावः । अबहाजस्यास्य किं तेजः किं वा मां दहेदिति भावः।

एवमुक्तः पश्चाद्वितीयहंसः प्रच्छति-यो नु कथ सयुग्वा रैक इति ॥ ३ ॥

य उक्तः स किंपकारः ॥ ३॥

इतर आह—

यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयन्त्येवमेन सर्वं तदिभसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति ।

यथा लोके कृतनामाऽयो चूतसमयप्रसिद्धश्चतुरङ्कायस्तत्र विजितं जयो यस्य स क्रतायविजितः पुरुषः । अथवा विजितं विजयस्तस्मा इत्यर्थः। तद्रथिमितरे त्रिद्येकाङ्का अधरे न्यूना अयाः संयन्ति संगच्छन्तेऽ-न्तर्भवन्ति । चतुरङ्के कृताय एकाङ्कद्यङ्करणां शतं सहस्रेषु संभव-तीति न्यायेन विद्यमानत्वात्तत्रैवान्तर्भवन्तीत्यतः कृताङ्कविजयेनैकाङ्का-दिविजयोऽप्यस्तीति भावः । एवसेव लोके प्रजा यच्छोभनं कर्मानुति-ष्ठन्ति तत्सर्वमेवं क्रतायस्थानीयं रैक्कमभिसमेति संगच्छते । तत्कर्मणि सकलं शोभनं कर्मान्तर्गतिमिति यावत्।

# यस्तद्देद यत्स वेद स मयेतदुक्त इति ॥ ४ ॥

स रैकों यहेद तदेवान्योऽपि यः कश्चिहेद तज्ज्ञातमेवान्ये जानन्ति । तज्ज्ञाने सर्वं ज्ञानमन्तर्गतमित्यर्थः । स ताहको रैको मयैतदिदानीं संयु-ग्वानमिव रैक्कमात्थेत्युक्त इत्यर्थः। वेदान्ताचार्येस्तस्वटीकायामस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । उक्तं च भगवता भाष्यकृता — लोके यत्किं चित्साध्व-नुष्ठितं कर्म यच सर्वचेतनगतं विज्ञानं तदुभयं यदीयज्ञानकर्मान्तर्गतं

स रैंक इत्याहेति। यद्पि व्यासार्थैर्लघुसिद्धान्ते 'आवृत्तिरसकृदुपदे-शात्। '[ ब० सू० ४। १। १। ] इत्यत्र यस्तद्वेद यो वेदिता यत्स वेद यद्देयं स संयेतदुक्तं स वेदिता रैक एतत्तद्देयं ब्रह्मत्येतदुभयं मयोक्तं तव मयोपदिष्टमित्यर्थ इत्युक्तं तद्प्येतत्परं द्रष्टव्यं न तु प्रतीयमानार्थपरम् । यस्तद्वेद यत्स वेदेति वाक्यात् प्राचीने यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयत्येवमेनं सर्वं तद्भिसमेति । यत्किंच प्रजा: साधु कुर्वन्तीति वाक्ये ब्रह्मप्रसक्तेरेवाभावेन वेदिता वेद्यं च तवोपदिष्टमित्यस्यार्थस्यासंभवेन यस्तद्वेद् यत्स वेदेति वाः क्येन प्रतिपाद्नासंभवाद्भाष्यविरोधाचेत्यपि दृष्टव्यम् । केचित्तु भगवता भाष्यकृता लघुसिद्धान्तभाष्ये यस्तद्वेद यत्सवेद स मयै-तदुक्तमित्यत्रेत्येतद्वाक्यप्रतीकस्य धृतत्वात्तद्नुरोधेन व्यासार्यैः स मयै-तदुक्तमिति नपुंसकान्तपाठस्य गृहीततया तज्ञ नपुंसकस्योक्तशब्दस्य स इति पुंलिङ्गतच्छच्दविशेषणत्वायोगाद्यस्तहेद यत्स वेदेति पुनपुंसका-न्तयच्छव्दद्वयनिर्दिष्टयोर्वेनुवेद्ययोः स मयैतदुक्तमित्यत्र क्रमेण प्रतिनि-देशकयोः स एतदिति पुनिपुंसकसर्वनामशब्दयोः श्रवणेन स वेदितैत-द्वेद्यं परं ब्रह्मेत्येतदुभयं मयोक्तमित्यर्थस्यैव वाक्यस्वारस्यलभ्यत्वाच स एवार्थी युक्त इति व्यासार्याभिप्रायः। न चात्रोदाहृतभाष्यविरोधः। 'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ' [ब॰ सू॰ ३।२।२५] इति सूत्रे

> वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् । श्रारीरजै: कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥

इति मनुस्मृतौ च मनोव्यापारात्मके वेद्ने कर्मशब्दप्रयोगद्र्शनेन यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्तीत्यनेनैव सर्वप्रजानुष्ठितसाधुकर्मण इव सर्व-चेतनगतज्ञानस्यापि ग्रहणं संभवतीत्यभित्रायेंणैव तज्ञ भाष्ये यितंचि-त्साध्वन् ष्ठितं कर्म यञ्च सर्वचेतनगतं विज्ञानमिति कर्मापेक्षया ज्ञानस्य पृथङ् निर्देशात् । अत एव पूर्ववाक्ये बह्मप्रसक्तिरेव नास्तीत्यपि प्रत्यु क्तम् । सर्वप्रजानुष्ठितसाधुकर्मणः सर्वचेतनगतज्ञानस्य च रैकज्ञानक-र्मणोः स्वऋषेणान्तर्भावस्य दुरुपपाद्तया कृतायाधरायदृष्टान्तस्वारस्येन च रैक्कवेदनविषये तत्कर्भोहेश्यभूते च सविभूतिकब्रह्मणि सर्वप्रजानु-ष्ठितकर्मोहेश्यसर्वचेतनगतज्ञानविषययोरन्तर्भावस्यैव वक्तव्यत्वेन पूर्व-वाक्ये ब्रह्मप्रसक्तेरावश्यकत्वात् । तत्त्वटीकायन्थरतु स मयैतदुक्त इति पुंलिङ्गान्तपाठे च सति तन्निर्वाहमात्राभिपायः । अतो व्यासार्य-

प्रतिपादितार्थ एव भगवद्भाष्यकृद्भिमत इति न काऽप्यनुपपत्तिरि-त्याहुः॥ ४॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव ।

तद्वह्मज्ञानविधुरतयाऽऽत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तया च रैकप्रशंसारूपं वाक्यं स राजा शुश्राव ।

स ह संजिहान एव क्षतारमुवाच ।

स कथमपि निशामितवाह्य संजिहान एव तल्पं त्यजन्नेव क्षत्तार-

वैश्याद्वाह्मणकन्यायां क्षत्ता नाम प्रजायते । जीविकावृत्तिरेतस्य राजान्तःपुररक्षणम् ॥

इत्युक्तरीत्या राज्ञोऽन्तःपुररक्षकः प्रतिलोमजातिविशेषः क्षत्ता ।

अङ्गारे ह सयुग्वानिमव रैकमात्थेति यो नुकथ सयुग्वा रैक इति ॥ ५ ॥

यथा छतायविजितायाधरेऽयाः संयन्त्येवमेन सर्व

तदिभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति

यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

अरेऽङ्ग वत्सेति तं क्षत्तारं राजा संबोध्य रात्रावेवं हंसयोः संलापः समजनीति सयुग्वानिमव रैक्कमात्थेत्यादि हंसोक्तिप्रत्युक्तिवाक्यानुवाद-पूर्वकं रैक्कस्य चिह्नमुक्तवानित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

स इ क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय।

स च क्षत्ता शकटलक्षणरैकचिह्नमनुस्मरन्यामनगरादिकमन्विष्य नाज्ञासिषमिति प्रत्यागतवान् ।

तथ होवाच यत्रारे बाह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्छेति ॥ ७ ॥

अरे बाह्मणस्य ब्रह्मविदो यत्र विविक्तेषु नदीपुलिनारण्यादिषु मार्गणं युक्तं तत्र गत्वैनमर्छ रैक्षं प्राप्नुहि मार्गणं कुर्वित्युवाचेत्यर्थः॥ ७॥ सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश ।
अथ पुनः स क्षत्ता गत्वा विजने किस्मिश्चिद्देशे शकटस्याधस्तात्वामानं कण्डूयमानं रैक्कमेत्य दृष्ट्वा समीपे गत्वा विनयेनोपविष्टवान् ।
त शाभ्यवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इत्यहश्रह्मरा
३इति ह प्रतिज्ञेश स ह क्षत्ताऽविदिमिति प्रत्येयाय॥ ८॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

इति च्छान्दोग्योपानेपादे चतुथेप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः॥ १ ॥

हे मगवंस्त्वं वा रैक इति पृथे रैकोऽहमेवेति प्रत्युवाच तच्छ्रुत्वाऽज्ञा-सिपमिति प्रत्यागत: ॥ ८ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे ।

उ हेत्यनर्थको निपातः । तत्तत्र जानश्रुतिर्गवां पट्शतानि निष्कं कण्ठाभरणमश्वतरीयुक्तरथं तदा गृहीत्वा रैकं प्रति गतवान् ।

तथ हाभ्युवाद ॥ १ ॥

गत्वा च राजा तं रैक्कमित्युवाचेत्यर्थः ॥ १ ॥

रैकेमानि पट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवता शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

हे रैंकैतत्सर्वमानीतं तहृहाण त्वं यां देवतामुपास्से तां देवतां मेऽनु-शाधि विविच्य ज्ञापयेति प्रार्थयामास ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा श्रद्ध तवैव सह गोभिरस्तु।

अहेत्याश्चर्ये। योगमहिमविदितलोकत्रयो जानश्वतिर्वह्मज्ञानविधुरताः निमित्तानाद्रगर्भहंसवाक्यश्रवणेन शोकाविष्टतां तद्नन्तरमेव ब्रह्मजिः ज्ञासयोद्योगं च विदित्वाऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामिभज्ञाय सत्यामिष्
योग्यतायां चिरकालसेवां विनाऽर्थप्रदानेन शुश्रूषमाणस्य यावच्छक्तिप्रदानेन विना ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता न भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन्नस्य
शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यायिकां ब्रह्मजिज्ञासादार्ह्यसिध्द्यर्थं स्वयोग्यमिसाक्षात्कृतसकलवृत्तान्तत्वलक्षणस्वमिहमानं च शोचितृत्वप्रवृत्तिविमित्तकशूद्रशब्दामन्त्रणेन ख्यापयन्हारेत्वा हारसिहत इत्वा रथोऽश्वतरीरथस्तेनैव गोभिः सहास्तु कल्ज्ञहीनस्य ग्रामगृहादिशून्यस्य मम
गोरथादिरक्षणे का शक्तिः । मत्प्रयोजनापर्यवसाय्यल्पधनदानेन च कथं
तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवेदित्युवाचेत्यर्थः । स्फायितं चेत्यादिना
रक्पकरणे पठितेन शुचेर्दश्चेति सूत्रेण रक्पत्यये शुचेश्वकारस्य दकारे,
अमितम्योदीर्घश्चेति पूर्वसूत्रानुवृत्तेन धातोककारस्य दीर्घादेशेन च शूद्रशब्दो निष्पन्नो भवति ।

तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पेतियणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहि-तरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥ तथ हाभ्युवाद रैकेदथ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ज्ञामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति॥४॥

तद्भिप्रायं जानन्नधिकं गवां सहस्रं रैक्कस्य परिणयार्थं स्वकन्यामा-वासार्थं तत्रत्यं ग्रामं चोपाजहारेत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वोपहृतं सर्वं समर्प्य मामनुशाध्येव न प्रत्याख्याहीति पार्थयामा-सेत्यर्थ: । यस्मिन्यामे त्वमास्से निवसिष्यसि सोऽयं तव वासार्थो ग्राम इत्यन्वय: ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्वस्रुवाच।

तस्या मुखमुपायनरूपापोंयमङ्गीकुर्वन्नुक्तवानित्यर्थः।

आजहारेमाः शूद्रानेनेव मुखेनाऽऽलापिष्यथा इति ।

इमा दक्षिणा आजहर्थ, आजहारेति व्यत्ययश्छान्द्सः । अनेनैव मुखेनोपायेन मां ब्रह्मोपदेशरूपं वाक्यमालापयिष्यसे ब्रह्मविद्योपदेशारं करिष्यसीत्यर्थः। 'थासः से' इत्येतद्भावश्छान्द्सः। पुनरपि शूद्रेतिसंबोध-नस्य पूर्ववदेव प्रयोजनम्। अत्र शूद्रशब्दस्य न रुख्या वर्णविशेषोऽर्थः। चतुर्थवर्णस्य ब्रह्मविद्यायामनिधकारादिति द्रष्टव्यम्।

ते हैते रैकपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास।
यत्र ग्रामेषु रैक उवास ते महावृषाख्यदेशेषु रैकपर्णा इति प्रसिद्धास्तान्ग्रामांश्चास्मै ददावित्यर्थः।

तस्मै होवाच ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तत्सर्वं दत्तवते जानश्चतये रैकः स्वोषास्यां देवतामुपदिदेशेत्यर्थः॥५॥
इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

## वायुर्वाव संवर्गः।

संवर्जननामगुणयोगाद्वायुरेव संवर्गः । संवर्जनं संग्रहणमेकीकृत्य ग्रहणमित्यर्थः । संवर्गत्वगुणको वायुर्ध्यय इति यावत् । संवर्गत्वमेवोपपाद्यति—

> यदा वा अभिरुद्दायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

उद्वायत्युद्वासनं प्राप्नोति विनश्यतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापि-यन्ति वायुर्धेवैतान्सर्वान्संबृङ्के ।

अग्निसूर्यचन्द्राणां तेजिक्षिपाणां जलस्य च लये वायावेकीभावाद्वायुः संवर्ग इत्यर्थः । प्रक्रमे हि ' एनः सर्वं तद्भिसमेति ' इत्यादिब्रह्मवि-द्याप्रशंसावगमाद्वक्ष्यमाणलिङ्गानुपपत्तेश्च वायुशब्देन वायुशरीरकः पर-मात्मोच्यते । संवृङ्क एकीकृत्य गृह्णातीत्यर्थः ।

## इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

एवं देवेषु संवर्गेऽयमित्यर्थः ॥ २ ॥ अध्यात्मं प्राणः संवर्ग इत्याह—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्विपिति । स पुरुषो यस्मिन्काले स्विपतीत्यर्थः ।

प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राण् श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो होवैतान्सर्वान्संवृङ्क इति ॥ ३ ॥

प्राणे वाक्चक्षःश्रोत्रमनसामेकीभावात्प्राणं संवर्गमुपासीतेत्वर्थः। अत्रापि प्राणशब्द्स्तच्छरीरकपरमात्मपरो द्रष्टव्यः॥ ३॥

उक्तमर्थमुपसंहरति-

तौ वा एतौ द्वौ संदर्गी वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥ स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

संवर्गविद्यास्तुत्यर्थमाख्यायिकेयमारभ्यते—

अथ ह शोनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणी ब्रह्मचारी बिभिक्षे ।

किपगोत्रं शुनकपुत्रं कक्षसेनसुतमभिप्रतारिनामानं च तौ हो सूप-कारे: परिविष्यमाणौ भोजनायोपविधो किश्चित्संवर्गोपासको ब्रह्मचारी भिक्षितवान्।

#### तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

अयं ब्रह्मचारी संवर्गविद्यानिष्ठो दुरिममानी यद्वक्ष्यति तच्छोष्याव इति बुद्ध्या भिक्षां न द्त्तवन्तौ ॥ ५ ॥

### स होवाच ।

स ब्रह्मचार्युवाच।

महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तम् ।

अधिदैवतं महात्मनोऽग्न्यादित्यचन्द्रजलक्षपान् । अध्यात्मं वाक्च-क्षःश्रोत्रमनोरूपांश्रतुरश्रतुःसंख्याकान्देवान्सर्वलोकस्य गोप्ता स एक एव देवो वायुप्राणरूपी कः प्रजापतिर्जगार संहतवान् । हे कापेया-भिप्रतारिणावेवंभूतं प्रजापतिं बहुक्षपतया वसन्तं मर्त्या मरणधर्मा-णोऽविद्यामोहिताः सन्तो न जानन्तीत्यर्थः । गोपा गुपू रक्षणेऽसुप्र-त्ययान्तः ।

## यस्मे वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

जगत्सर्वं यस्मे यस्य संवर्गस्य प्रजापतेरत्नं तस्मै भिक्षमाणाय मह्यमत्नं न द्त्तम् । अतः केऽपि न जानन्तीत्युपासनादार्ह्यायत्तोपास्यैक्यबुद्ध्या भिक्षमाणाय स्वस्मा अपदानमेव स्वोपास्यदेवताया अपदानं मत्वा तस्मा एतन्न दत्तमिति तौ निन्दितवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयाय ।

कापेयः शौनकस्तद्वह्मचारिणोक्तं प्रतिमन्वानो मनसाऽऽलोचयं-स्तत्समीपं प्रत्यागत्योवाच ।

> आत्मा देवानां जनिता प्रजानाः हिरण्यदः-ष्ट्रो वभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरन-यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्ने-दमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

देवानां नियन्ता प्रजानामुत्पाद्कः कमनीयदृष्ट्रायुक्तो हिरण्यविदार-कद्ष्रायुक्त इति वा। बभसो भक्षणशीलोऽसुरसंहारक इति यावत्। असूरिरविपश्चिन्न भवतीत्यनसूरिर्विपश्चिदिति यावत्। अस्य च नृसिंहस्य परमात्मनो महिमानं महान्तमाहुः । यत्स्वयमन्यैरनद्यमानोऽनाश्यमा-नोऽनक्षं वागादिकं नाशयत्येवंभूतः परमात्मैव संवर्गो न त्वदुक्तः प्रजा-पतिरित्यर्थः । अतो वयं न त्वदुक्तं प्रजापतिरूपं संवर्गमुपास्महे । अपि तु परमात्मानमेव । अतस्त्वं संवर्गं यथावन्न जानासीत्युक्त्वाऽस्मै भिक्षां प्रयच्छतेति परिचारकानाहतुरित्यर्थः । अनेन संवर्गविद्याया वायुप्राण-शरीरकपरत्वमाविष्क्रतं भवति॥ ७॥

#### तस्मा उ ह ददुः।

तस्मै बह्मचारिणे परिचारका भिक्षां दृदुरित्यर्थः ।
संवर्गविद्यास्तुतये तत्संबन्धिपदार्थान्कृतायत्वेन विराट्देनान्नत्वेन
न्नादित्वेन च स्तौति—

ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्।

अधिदैवतमग्न्यादित्यचन्द्रजलक्ष्याः पदार्था अपियन्तश्चत्वारोऽपीयमानं वायुरेक इति पश्च । अध्यातमं वागाद्या अपियन्तश्चत्वारोऽपीयमान प्राण एक इति पश्च । आहत्य दशत्वसंख्यामाप्ताः कृतायतां भजन्ते कृतसंज्ञके तस्मिन्नये चतुरङ्कायज्ञयङ्कायद्यङ्कायैकाङ्कायानामनुप्रविष्टतयाः दशाङ्कत्वम् । एकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां च समावेशे दशत्वसंख्याः संभवादिति भावः ।

तस्मात्सर्वासु दिक्ष्यन्नमेव दशकृतम्।

तस्माद्धेतोः संवर्गविद्योपास्यं दशत्वसंख्यायुक्ततया कृतायरूपं सद्दी शसु दिश्च विद्यमानमन्नमेव भवति । 'दशाक्षरा विराट्र' 'अन्नं विराट्टः इति श्रुतेः ।

### सेषा विराडन्नादी।

द्शत्वसंख्याश्रयत्वाद्दशाक्षरा विराडिति विराट्छन्दो मवति । अन्न-मत्तीत्यन्नादी । कृतसंज्ञकेऽये दशसंख्याया मक्ष्यवद्न्तर्भूतत्वाद्दशत्वसंक् ख्यायाश्च विराट्त्वाद्विराजश्चान्नत्वाच दशसंख्यागर्भकृतायस्थानीयसंक् वर्गविद्योपास्यस्यान्नादित्वमप्यस्तीत्यर्थः ।

## तयेद श्सर्वं दष्टम्।

तया विराजोपासितया द्शदिग्वर्तिपदार्थजातं द्शत्वसंख्यासाम्याः द्ह्हं भवत्युपासितं भवतीत्यर्थः ।

तदुपासनस्य फलमाह—

सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

तदुपासकस्य सार्वज्यं बह्मलक्षणाञ्चानुभवश्च भवतीत्यर्थः । विद्यास-्पितद्योतकं द्विर्वचनम् । व्यासार्थेस्तु 'छन्दोभिधानात् ' [ब०सू० १।१। ः] इति स्त्रेऽन्नादिति पाठमाश्रित्यान्नं च तद्त्तीत्यन्नादिति भोक्तृत्व-ुग्यत्वाश्रयपरमात्मपरतया व्याख्यातम्। अस्याः संवर्गविद्यायाः परमा-परत्वमेव न प्रसिद्धवायुप्राणविषयत्वम् । ' यथा कृतायविजिताया-रिऽयाः संयन्ति इत्यादिना संवर्गविद्यानिष्ठरैक्षप्रमावे सर्वेषामन्तर्भाव-र्णनात्। 'आत्मा देवानां जनिता प्रजानाः हिरण्यदः ह्रो बभसोऽनसूरि-हान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यद्नन्नमत्तीति' इतराविनाश्यत्वे ति सकलविनाशकत्वसर्वसंप्रतिपन्नमहामहिमशालित्वसर्वदेवनियन्तृत्व-ह्मादिसकलपजोत्पादकत्वहिरण्यदंष्ट्रत्वाद्युपलक्षितनृसिंहविग्रहत्वादिप-तेपादनात्। 'वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे 'इति कशब्दितप्रजाप-गात्मकसंवर्गप्रत्याख्यानाच परमात्मविषयैवेयं विद्येति द्रटब्यम् । एत-लण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये। जान-र्तिं शूद्रेत्यामन्त्रय रैक्को बह्मविद्यामुपदिदेशेति संवर्गविद्यायाः श्रवणा-द्वेदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठानामपि दर्शनाद्मिविद्यासाध्ययज्ञादिष्वमिविद्या-<u>रून्यानां जूदाणां कर्मकाण्डापज्ञूदाधिकरणन्यायेनाधिकाराभावेऽपि</u> ह्मोपासनेऽधिकारः संभवत्येव। न च शूद्रस्य ब्रह्मोपासनोपयुक्तज्ञाना-भिवः शङ्कनीयः। इतिहासपुराणादिना तज्ज्ञानसंभवात्। न चैवं रज्ञादिष्वपि तथा प्रसङ्गः । अग्न्यभावात् । " तस्माच्छूदो यज्ञेऽनव-ल्क्षः " [तै० सं०७।१।१।६] इति यज्ञानुष्ठानस्य निधिद्धतया च तस्य दसंभवेऽपि संवर्गविद्यागतशूद्धशब्दामन्त्रणलिङ्गानुयहाद्वस्रोपासनाधि-ारोऽङ्गीकर्तव्य एवेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते -'शूद्धस्य तद्नाद्रश्रवणा-ादाद्रवणात्सूच्यते हि' [ब० सू०१।३।३४] शोचितृत्वप्रवृत्तिनिमित्तकेन ाद्रशब्देन जानश्रुतेः 'कम्बर एनमेतत्सन्तर सयुग्वानिमव रैकमात्थ'इति सोक्तानाद्रगर्भवाक्यश्रवणात्तदाद्रवणहेतुभूतादुत्पन्ना शुक्सूच्यते । न रतुर्थवर्णत्वं यौगिकार्थस्य प्रकृतस्य यानान्तराविरुद्धस्य ग्रहणसंभवे गनान्तरविरुद्धस्य इट्यर्थस्याग्राह्यत्वाच्छुद्धस्य ब्रह्मोपासनौपयिकवै-ुष्यलक्षणसामर्थासंभवाच न बहाविद्यायामधिकारः । वैदिकविधी-ामध्ययनविधिलब्धवेद्जन्यज्ञानवश्चैवांणकाधिकारिणः । अनाद्यनिवृ-गानां शुद्धाधिकारानाक्षेपकत्वादिति न्यायस्य यज्ञोपासनयोरविशे-ात् । ' तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः ' [ तै० सं० ७।१।१।६ ] इत्यस्य

न्यायसिद्धैकदेशत्वानुवादित्वेन तस्य विनिगमकत्वासंभवात्। 'क्षत्रि-यत्वगतेश्च' [ब॰ स॰१।३।३५] । पक्तान्नप्रद्त्वक्षन्त्रेषणरैककन्यापदाना-नेकयामद्रानादिना जानश्रुतेः क्षञ्चियत्वावगतेश्च । एतेषां क्षञ्चियधर्म-त्वस्येव शास्त्रीयत्वात् । 'उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ' [ व० सू० ४ ३। ३५ ]। संवर्गविद्यासंबन्धिनोऽभिप्रतारिनाम्नश्चैत्ररथवंश्यस्य क्षत्रियस्य तादुशेन बाह्मणेन शौनकेन कापेयेन साहचर्यदर्शनादिहापि संवर्गविशा-संबन्धिरैक्केण बाह्मणेन सहचरितजानश्रुतिरपि क्षत्रिय एवेत्यवसीयते । नन्वभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वं कृत इति चेत्, चित्ररथवं इयत्वात् । न्त् तदपि कृतोऽवगतमिति वाच्यम् । कापेययाज्यत्वालिङ्गात् । न च कापे ययाज्यत्वे चित्ररथवंश्यत्वं कृत इति वाच्यम् । ' एतेन वै चैत्ररां कापेया अयाजयन् ' ताण्डचबा० २० । १२ । ५ । ] इति च्छन्दो गबाह्मणे चित्ररथस्य कापेययाज्यत्वश्रवणात् । नन्वभिन्नतारिणः कापे ययाज्यत्वं वा कुतोऽवसीयते । ' शौनकं च कापेयमभिष्रतारिणं र् काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे ' [ छा० ४।३।५। | इत्येकपङ्क्त्युपवेशमात्रस्य श्रवणात् । नानादेशागतानां परस्परसंबन्धश्र न्यानामप्येकपङ्क्त्युपवेशसंभवात् । अस्तु वा कथंचिद्याज्ययाजकमावः तावता छन्दोगबाह्मणे चित्ररथस्य कापेययाज्यत्वश्रवणेन चित्ररथत्वमेर् सिध्येन्न तु तद्वंश्यत्वमिति चेदुच्यते । कापेयाभिप्रतारिणोः क्छप्तसंबन्ध योरेकपङ्क्तग्रुपवेशस्योचितत्वात्कापेयानां चित्ररथवंश्यानां च याज्ययाज कभावसंबन्धस्यान्यत्र प्रसिद्धत्वाद्भिप्रतार्यपि कापेययाज्यचित्रस्थवंश इत्येवावसीयते । न च कापेययाज्यतया चित्ररथत्वमेवास्त्वित शङ्क्यम्: अभिप्रतारिसंज्ञावरुद्धे चित्ररथसंज्ञानिवेशासंभवान्नायं चित्ररथः, अरि तु तद्वंश्यः समानान्वयानां याज्ययाजकभावस्य लोकवेद्प्रसिद्धत्वात्। न च कापेययाज्यस्य चित्रस्थस्य क्षत्रियत्वे किं प्रमाणमिति वाच्यम्। ' एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयंस्तस्माज्ञैत्ररथो े इति चित्ररथोत्पन्नस्य क्षञ्चियत्वावेदनात् क्षञ्चपतिरजायत ततश्चोत्तरत्र बाह्मणक्षञ्चिययोः शौनकाभिष्रतारिणोः संवर्गविद्यासं बन्धश्रवणादिहापि तद्विद्यासंबन्धिनो रैक्कजानश्चत्योर्काह्मणत्वं क्षत्रिय-त्वमवसीयते। ' संस्कारपरामर्शात्तद्भावाभिलापाच ' [ ब० सू० १।३। ३६ ]। ब्रह्मविद्योपदेशपदेशेषु 'उप त्वा नेष्ये न सत्याद्गा इति ' ि छा० ४।४।५ ] 'तं होपनिन्ये' [ शत० ब्रा० ११।५।३।१३ ] ' अधीहि

भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः ' [छा० ७।२।२] ' समित्पा-णयो भगवन्तं पिष्पलाद्मुपपन्नाः ' [ प० १।१।२ ] इति संस्कारः परा-मृश्यते । जूद्गस्य संस्काराभावोऽभिल्प्यते—

शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति: [ म० १०।४ ]।
न शूद्रे पातकं किंचिस च संस्कारमहीति [ म० १०।१२६ ] इति।

तद्भावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः [ब० १।३।३७] । जूद्रत्वाभावनिर्धारणे सत्येव विद्योपदेशाय प्रवृत्तिर्दृश्यते । 'नैतद्बाह्मणो विवक्तमहिति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेप्ये न सत्याद्गाः' [छा० ४।४।५] इति। 'श्रवणा-ध्ययनार्थप्रतिषेधात्' [ब्र०सू०१।३।३८] 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्र-स्तस्माच्छ्रद्रसमीपे नाध्येतव्यम् ' [वा० धर्म०१८। ११] इति। तस्माच्छूद्रस्य वेद्श्रवणप्रतिषेधेन तद्ध्ययनतद्थांनुष्ठानयोः सुतरां प्रतिषेधात् । 'स्पृतेश्च' [ ब० सू०१।३।३८] 'अथ हास्य वेदमुपगृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाछेदो धारणे शरीरच्छेदः ' [गौ० ध० १२। ५। ६ ] इति स्मृत्या च श्रवणादिकं शृद्गस्य प्रतिपिद्धम् । अतो न ब्रह्मविद्यायां शृद्धस्याधिकारः । विदुराद-यस्तु भवान्तराधिगतज्ञानाप्रमोषाञ्ज्ञानवन्तः । प्रारब्धकर्मवज्ञाचेहश-जन्मयोग इति तेपां ब्रह्मनिष्ठत्वम् । ननु जूद्राणां ब्रह्मोपासनानधिकारे श्रीपञ्चरात्राद्यागमोक्ततान्त्रिकमन्त्रानुसंधानपूर्वकब्रह्योपासनेऽप्यधिका-रो न स्यात् । नारदस्य जूदजन्मनि महर्षिवचनादनुष्ठितमच्युतोपासनम-प्यप्रामाणिकं स्यादिति चेत्। न हि बह्मोपासनमात्रे शूद्रस्यानधिकारं बूमः । अपि तु संवर्गविद्यादिषु वैदिकेषूपासनेषु । अतो नात्र तहोष-शङ्कावकाशः । ननु 'संबन्धादेवमन्यत्रापि' [ ब० सू० ३ । ३ । २० ] इत्यधिकरणें व्याहृतिविद्याया अध्यात्माधिदैवतस्थानभेदेन भेदस्य प्रतिपादितत्वात्संवर्गविद्याचा अध्यध्यात्माधिदैवतस्थानभेदेन भेदः स्यात्। न चेष्टापत्तिः । 'अनु म एतां भगवो देवता शाधि यां देवता मुपास्से' [ छा० ४। २। २] इति बह्मविद्यामात्रार्थिने जानश्रुतये विद्याद्वयो-पदेशस्यायुक्तत्वादिति चेन्मैवस् । व्याहृतिविद्यायां 'य एप एतस्मिन्स-ण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् ' [ बृ० ५। ५। २ ] इत्यत्रेव वायौ पाणे इत्येवं वायुपाणयोः स्थानत्वेन निर्देशाभावात्स्थानभेदपयुक्तवि-द्याभेदाप्रसक्तेः ' यां देवताषुपास्से ' इति रैक्कोपास्यदेवताया उपासन-पकारे पृष्टे रैक्कोपास्यसंवर्गस्य देवतात्मलक्षणस्थानभेदेनोपासनाह्यसंब-

न्धमिभेरेयोपासनाद्वयोपदेशे दोषाभावाच । न च 'विकल्पोऽविशिष्ट-फलत्वात ' [ ब० स० ३ । ३ । ५९ ] इति न्यायेन रैक्कस्य विद्याद्व-यानुष्ठानाभावात्स्वानुष्ठीयमानविद्यामात्रोपदेश एव युक्तो नाधिक इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । परोपदेशे स्वावगतेरेव प्रयोजकत्वेन स्वानुष्ठानस्याप्रयोजकत्वादिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ८ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

पोडशकलबहाविद्यां प्रस्तौति—

सत्यकामी ह जाबाली जवालां मातरमामन्त्रयांचके। हेत्यैतिह्यार्थः। जबालास्रतः सत्यकामनावा जबालां मातरमामन्त्रि-तवान्।

बसचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १ ॥

हे भवति स्वाध्यायग्रहणायाऽऽचार्यकुले ब्रह्मचर्यं विवत्स्यामि मे गोत्रं किमिति पृष्टवान् ॥ १॥

सा हैनमुवाच नाहमेतहेद तात यहोत्रस्त्वमिस बहहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यहोत्रस्त्वमिस जबाला तु नामाहमिस सत्यकामो नाम त्वमिस सत्यकाम एव जाबालो बुवीथा इति ॥२॥

अहं भर्तृगृहेऽतिथ्यभ्यागतादिभ्यो बहु परिचर्याजातं चरन्ती गुर्वादि परिचरणशीला च सती तद्यासङ्गेन गोत्रानभिज्ञैव यौवनकाले त्वां लब्धवती, अतो गोत्रं न जाने । अतो जबालायाः पुत्रः सत्यकामना-माऽहमस्मि नाहं गोत्रं वेदेति गुरुसमीपे ब्रूहीत्युक्तवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच।

अथ स सत्यकामो हरिद्वमत्पुत्रं गोत्रतो गौतममेत्योक्तवान्। बहाचर्यं भगवति वत्स्यास्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३॥

पूजावति त्विय ब्रह्मचर्यं वत्स्यामि शिष्यत्वेन भगवःतमुपगच्छानीत्युक्तवान् ॥ ३॥

## त इ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति।

किंगोत्रस्त्वम् । ज्ञातकुलगोत्र उपनेतव्यः । अन्ततः शूद्रत्याभावो हि निश्चेतव्य इत्यभिप्रायः ।

स होवाच नाहमेतदेद भो यहोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातर सा मा प्रत्यववीद्वह चरन्ती परिचारिणी योवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यहोत्रस्त्वमसि जवाला तुनामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽह सत्यकामो जावालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तश्र होवाच नैतदबाह्मणो विवक्तुमर्हति समिधश्र सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति ।

एताहशमार्जवयुक्तं वचो नाबाह्मणो विशेषेण वक्तमहिति । अत्र बाह्मणशब्दस्त्रैविणिकमात्रपरः । अत्रैविणिकः शूद्ध इति यावत् । शूद्धो न विवक्तमहिति शूद्धाणां कुटिलस्वभावत्वादिति थावः । हे सोम्य, उपन-यनसंस्कारार्थं समिधमाहर सत्यं नातिकान्तवानिस सत्यमेवोक्तवा-निस । अतस्त्वामुपनेष्य इत्यर्थः । सूत्रितं च—' तद्भावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ' [ ब० सू० १ । ३ । ३० ] इति शूद्धत्वाभावनिश्चये सत्ये-वोप त्वा नेष्य इत्युपनयनप्रवृत्तेर्द्शनादित्यर्थः । अतोऽबाह्मणशब्दः शूद्धपरः ।

> तमुपनीय क्रशानामबलानां चतुः-शता गा निराक्तयोवाच ।

तमेवमाचार्य उपनीय क्रशानामबलानां गवां मध्येऽतिदुर्बलानि क्रशानि गवां चत्वारि शतानि पृथक्कृत्येदं वक्ष्यमाणमुवाचेत्यर्थः।

इमाः सोम्यानुसंवजेति ।

इमा गा अनुगच्छेति।

#### ता अभिप्रस्थापयञ्जवाच नासहस्रोणाऽऽवर्तयेति ।

स सत्यकामः सहस्रसंख्यापूरणात्पाङ्न प्रतिनिवृत्तो भवानीति गा अरण्यं प्रस्थापयस्नुवाचेत्यर्थः ।

स ह वर्षगणं पोवास।

चिरकालं तृणोदकादिपूर्णे वने गाः प्रवेश्योपितवान् । ता यदा सहस्र संपेदुः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

यस्मिन्काले ताः सहस्रं संपन्ना बभूबुस्तावन्तं वर्षगणं वन उपितवा-नित्यर्थः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ हैंनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति ।

एनं गवां संरक्षणेन प्रीतदेवताविशेषाधिष्ठितर्षमः सत्यकाम३ इत्या-मन्त्रितवान् । सत्यकाम३ इति हूराद्धूते चेति प्लुतः ।

भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सौम्य सह-

स्र स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥ ब्रह्मणश्च ते पादं ववाणीति ।

प्रतिशुश्राव प्रत्युत्तरं द्दे । सत्यकाम इति शेषः । ऋषभ आह सहस्रसंख्यां वयं प्राप्ताः स्मः । तव प्रतिज्ञा च निर्व्यूढा । अस्मानाचार्य-कुलं प्राप्य । प्रीतश्च तेऽहं ब्रह्मणः पादं ब्रवाणीति ।

इतर आह—

त्रवीतु मे भगवानिति तस्ये होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलेप वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥ स य एतमेवं विद्वा श्वानुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रका-शवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँ होके भवति ।

एकैकस्य हि गोः पाद्स्य चत्वारोऽवयवाः पुरतः खुरद्वयं पृष्ठतः पार्ष्णद्वयं चातः पाद्श्वतुष्कले भवति । ततश्च प्रागादिदिक्चतुष्टयं ब्रह्मणः पाद्त्वेन प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवन्नामकत्वेन य उपास्ते स इह प्रकाशवान्भवति ।

नैतावनमात्रं फलिमित्याह—
प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयित य एतमेवं विद्वा श्र्यतुप्रकलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

उक्तोऽर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

#### अभिष्टे पादं वक्तेति।

एवं स्वयं पाद्मुक्त्वा पादान्तरमग्निरुपदेक्ष्यतीत्युक्त्वा तूर्णीं बभू-वेत्यर्थ: ।

> स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राधिमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादमेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

स ह सत्यकामोऽपरेद्युनित्यनैमित्तिकं कर्म कृत्वाऽऽचार्यकुलाभि-मुख्येन गाः प्रस्थाप्य ताः सर्वा गावो यत्र देशे सायंकालेऽभिवभूवुः परितः स्थिता भवन्ति तत्राभिमाहृत्य गाश्चोपरुष्य संध्यामुपास्य समि-धमाधाय ऋपभवचो ध्यायस्रशेः पश्चात्प्राङ्मुख उपविष्टवानित्यर्थः॥१॥ तमिशरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भग-वानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलाऽन्तिरक्षं कला योः कला समुद्रः कलेप वे सोम्य चतु-ष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्रश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्त-वानित्युपास्तेऽनन्तवानिस्मँहोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश्रश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

हश्सस्ते पादं वक्तित स ह श्वीभूते गा अभिप्र-स्थापयांचकार ता यत्राभि सायं वभूवुस्तत्रामिमु-पसमाधाय गा उपरुष्य समिधमाधाय पश्चादमेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

तश्र हश्स उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकामा ३
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥
बह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति व्रवीतु मे
भगवानिति तस्मे होवाचाभिः कला सूर्यः कला
चन्दः कला विद्युत्कलेष वे सोम्य चतुष्कलः
पादो बह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योति-ष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँहोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश-श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते॥४॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

मद्गुष्टे पादं वक्तित स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्था-पयांचकार ता यत्राभि सायं वभूवुस्तत्राग्निमुपसमा-धाय गा उपरुष्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङु-पोपविवेश॥ १॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥
बह्मणः सोम्य ते पादं ववाणीति ववीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः
कला श्रोत्रं कला मनः कलेष वे सौम्य चतुष्कलः पादो बह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥
स य एतमेवं विद्वास्श्र्यतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँहोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वासश्र्यतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८॥

प्राप हाऽऽचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्य-काम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥ ब्रह्मविदिव वै सौम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेति ।

को वा ते ब्रह्मोपदिष्टवानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे ।

मनुष्या मां नानुशिष्टवन्तः । न हि भगवतः शिष्यं मां कश्चिन्मनु-ण्योऽनुशासितुमुत्सहते, अपि तु देवा एवानुशिष्टवन्त इति प्रति-ज्ञातवान् ।

भगवा श्रस्तेव में कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

काम इच्छायां सत्यां से भगवानेव वक्ष्यति । सम किमर्थमितर-प्रार्थनमित्यर्थ: ॥ २ ॥

किंच-

श्रुतः होव में भगवद्दशेभ्य आचार्या-द्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति।

आचार्यादेवाधिगता विद्या साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापदिति प्राप्नोतीति मगवद्दृशेभ्यो मे मया श्रुतम् । अतो नाहं भगवत्तोऽन्यस्माद्नुशासनं वाञ्छामीति भावः ।

तस्भे हैतदेवोवाच ।

एवमुक्त आचार्यस्तस्मे सत्यकामायैतदेव पोडशकलब्रह्मविज्ञानमेवो-वाच । तदेवान्यूनानतिरिक्तमुवाचेत्यर्थः ।

तत्र हेतुयाह—

अत्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ ३॥ इति च्छान्दोग्योपनिपदि चतुर्थप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९॥

अत्र पोडशकलविद्यायां किंचिद्पि न वीयाय वैविध्यं न प्राप्तम्। अतो हेतोर्विद्यापकारे भेदाभावाद्न्यूनानतिरिक्तं तदेवोवाचेत्यर्थः । द्विरु-क्तिविद्यासमाप्त्यर्था ॥ ३ ॥

> इति च्छादोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९॥

उपकोसलविद्यां वक्तमाह—

उपकोशलो ह वे कामलायनः सत्यकामे जावाले बह्मचर्यमुवास ।

कमलसूत उपकोशलनामाऽत्र पूर्वोक्ते जाबाले सत्यकामे विद्यार्थं ब्रह्मचर्यमवात्सीत्।

तस्य ह द्वादश वर्षाण्यमीन्परिचचार।

तद्मिशुश्रूषां द्वाद्शवर्षं कृतवान्।

स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तय -स्त इ समेव न समावर्तयति ॥ १ ॥

स्वाध्यायार्थिन इतरान्ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्त-यन्तं ब्रह्मविद्यार्थिनं ज्ञात्वा चिरसेवामन्तरेण ब्रह्मविद्या नोपदेष्टव्येति मत्वा तमेव न समावर्तयति सम ॥ १ ॥

> तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलम्बीन्पर्य-चारीन्मा त्वाऽमयः परिप्रवोचन्प्रबृह्यस्मा इति ।

तपसा तप्तो बह्मचारी सम्यगिशश्रूषां कृतवान् । एतस्य विद्यानुप-देशे तत्परिचरणप्रीता अग्नय एव गर्हां कुर्युः । अतो यथा त्वां मा परि-भवोचन्नग्रयस्तथाऽस्मा उपकोशलाय विद्यामुपदिशेति तस्य भार्यो-क्तवतीत्यर्थः ।

तस्मै हाप्रोच्येव प्रवासांचके ॥ २ ॥

एवं जाययोक्तोऽप्याचार्यस्तस्य विद्यामनुपदिश्येव देशान्तरं प्रो-पितः ॥ २ ॥

## स ह व्याधिनाऽनशितुं दधे।

स उपकोसलो मानसेन दुःखेन पीडितः सन्ननशनायावतस्थे। धृङवस्थान इति हि धातुः।

तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारि- स्रशान किं नु नाश्वासीति।

स्पष्टोऽर्थः ।

स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिक्षिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३॥

अस्मिङ्जीवे ब्रह्मपाप्तिव्यतिरिक्ताः काम्यमाना विषया नानाविधगर्भ-जन्मजरामरणादिलक्षणफलजनका मनसि विपरिवर्तमानाः सन्ति । अतस्तिद्विषयभयक्षपव्याधिभिः पूर्णोऽस्मि, अतो न भुञ्ज इति प्रत्युवा-चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ हाम्रयः समृदिरे ।

एतहाक्यं श्रुत्वा परिचरणप्रीता गार्हपत्याद्योऽग्नयो द्यमानमानसाः संभूयोक्तवन्तः ।

> तप्तो बहाचारी कुशलं नः पर्यचारीखन्तास्मे प्रवदामेति।

स्पष्टोऽर्थः ।

तस्मै होचुः प्राणो बह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥ सहोवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म

कं च तु खं च न विजानामीति।

अस्यायमभिषायः—न तावत्प्राणादिष्रतीकोपासनमग्निभिरभिधी-यते, जन्मजरामरणादिभवभयभीतस्य मुमुक्षोमीक्षोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् । अतो बह्मैवोपास्यमुपदिष्टम् । तज्ञ प्राणादिभिः समानाधिकरणं बह्म निर्दिष्टम् । तज्ञ सकलजगत्प्राणयितृत्वयोगेन प्राणशब्दितस्य बह्मण उपपन्नत्वाद्यत्प्राणो बह्मेत्युक्तं तज्जानामि कं बह्म खं बह्मेत्युक्तं तु न विजानामि । यद्यपि कंशब्दस्य सुखमर्थः खमित्यस्य चाऽऽकाशोऽर्थः । ततश्च वैषयिकसुखदारीरकमाकाद्याद्यारेरकं च ब्रह्मेत्यभिप्रायः, उत कमित्यनेन सुखमभिधीयते खमित्यनेनाऽऽकाशवाचिनाऽपरिच्छिन्नत्व-मभिधीयते तयोरन्योन्यविशेषणविशेष्यभावेऽपरिच्छिन्नसुखं बह्मेत्यप्यर्थो लम्यते । ततश्चानयोर्मध्ये कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति न जान इति ।

ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति।

तद्भिप्रायज्ञा अग्नयः कं खिमत्यनयोविशेषणविशेष्यभावोऽभिप्रेत इति स्वाभिप्रायमुक्तवन्त इत्यर्थः । ननु यद्वाव कं तदेव समित्यनेनैव विशेषणविशेष्यभावप्रतिपादनेनापरिच्छिन्नसुखं बह्योत्यस्यार्थस्य लाभा-द्यदेव सं तदेव कमिति पुनरुक्तिव्यर्थेति चेन्न । दार्ढ्यार्थं वाऽपरिच्छि-न्नसुखत्वेन सुखरूपापरिच्छिन्नत्वेन चोपासनासिद्ध्यर्थं वा परस्परविशे-पणविशेष्यभावोपदेशसार्थक्यात् ।

> प्राणं च हास्मे तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

अतो जगत्प्राणियृत्वेन प्राणत्वविशिष्टं यद्वह्म तद्वापरिच्छिन्नसुख-ह्मपं चेत्यमय उक्तवन्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाटकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

एवं ब्रह्मोपदिश्यामिभेरतिहृद्याङ्गभूताऽभिविद्याऽप्युपदिष्टत्याह— अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास ।

जगत्राणियनुपरिच्छिन्नसुखरूपं च ब्रह्मेत्युपदिश्यैवसुपदिष्टबह्मायि-द्यमेनमुपकोशलं गार्हपत्योऽग्निः स्वविद्यां वक्ष्यमाणामुपदिदेशेत्यर्थः। अथशब्दश्च प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः । अत्र चाथैनमिति शब्दाभ्यां वक्ष्यमाणाभिविद्यायाः प्रकृतब्रह्मविद्याङ्गत्वमुच्यते ।

अनुशासनप्रकारभेवाऽऽह—

पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति।

मे गाईपत्याग्नेरेताश्चतस्रस्तनव इत्यर्थः।

य एप आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽ-हमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

पृथिव्यग्न्यन्नादित्यलक्षणानां चतुर्णां रूपाणां मध्येऽग्न्यादित्यरू-पयोः पक्तृत्वप्रकाशकत्वरूपधर्मसंबन्धादैक्यम्। अग्नेरादित्येन यादृशमैक्यं न तादृशमैक्यं पृथिव्यन्नाभ्याम् । तस्मादादित्य एवाहमस्मीत्यग्निरुवा-चेत्यर्थः॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापऋत्याम् । ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पापकर्मापहान्ति ।

#### लोकी भवति।

तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्तोतीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपापनिवृत्तिर्बह्मप्राप्तेश्च प्रधानभूतब्रह्मविद्याफलत्वमेव तथाऽप्याङ्गिफलेनाङ्गं स्तूयत इति द्रष्टव्यम् । यद्वा पापशब्दो ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरः । लोकशब्दो ब्रह्मलोकप्राप्तिमार्गभूताग्निलोकपरो
द्रष्टव्यः ।

# सर्वमायुरेति ।

बह्मोपासनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितं तत्सर्वमेति ।

ज्योग्जीवति।

व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्वस्मप्राप्तयुज्ज्वलो जीवति ।

नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते ।

अस्य शिष्यप्रशिष्याद्यः पुत्रपौत्राद्योऽपि न क्षीयन्ते ब्रह्मविद् एव भवन्तीत्यर्थः । संततौ ब्रह्मविद्यानुवृत्तेः, 'नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ' [मु०३।२।९।] इति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रवणात् । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिश्श्य लोकेऽमुप्मिश्श्य य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

य एवमुपास्ते तमस्मिँहोकेऽमुिंश्च वयमग्नय उपभुञ्जामो यावद्भग्न-प्राप्तिविग्नेभ्यः परिपालयामः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्यै-काद्शः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास ।
अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ।
आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति
य एष चन्द्रमिस पुरुषो दृश्यते सोऽहमिस्म स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥
स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवित नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिश्श्य लोकेऽमुष्मिश्श्य य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

चन्द्रमसश्चाग्नेश्च प्रकाशकत्वसाम्यादिति भावः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥ अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो यौर्वियुदिति य एष वियुति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापछ्त्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवित नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिश्श्य लोकेऽ-मुष्मिश्श्य य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य त्रयो-दशः खण्डः ॥ १३॥

विद्युत्पुरुषस्यापि प्रकाशकत्वादाहवनीयैक्यम् ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥

ते हो चुरुपको सलेषा सोम्य तेऽस्म दिया चाऽऽत्मविया च।

प्रत्येकमनुशासनानन्तरं मिलित्वा तेऽग्नयोऽब्रुवन् । अस्मद्विद्याऽग्नि-विद्या, आत्मविद्या परमात्मविद्येत्पर्थः । चशब्दोऽङ्गाङ्गिभूतविद्ययोरुप-देशिक्रयायां समुचयद्योतनार्थो न तु समप्राधान्यद्योतनार्थः । अग्नि-विद्या चाऽऽत्मविद्या चोषदिष्टेत्यर्थः ।

# आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति ।

एवं वदतामग्नीनामयमभिप्रायः—हे उपकोसल बह्मविद्यामनुपः दिश्य प्रोषुपि गुरौ तदलाभादनाश्वासं त्वामुज्जीवियतुं ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतामग्निविद्यां चोपादिक्षाम । आचार्यादेव विदिताया विद्यायाः साधिष्ठत्वादाचार्य एव संयद्गामत्वादिगुणकं ब्रह्माक्षिरूपं च तदुपासन-स्थानमितिदां च गतिमुपदिशत्विति । ततश्च गतिं वक्तेत्यस्याविशिष्टं वक्तेत्यथीं न तु गतिमात्रमिति दृष्ट्यम् ।

आजगाम हास्याऽऽचार्यस्तमाचा-र्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥१॥ भगव इति ह प्रतिशुश्राव बहाविद इव साम्य ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति को नु माऽनु शिष्याद्धो इतीहापेव निहनुते।

हेति खेदें। अपनिह्नुत इवेत्यर्थः। नापनिह्नुते न यथावद्ग्निभि-रुक्तमित्यप्यववीदित्यभिप्रायः । कंचित्कालमपह्नुत्याथाग्नीन्निर्दिश्येम एव नूनमुपदिष्टवन्त इत्याह—

इमे नूनमीदशा अन्यादशा इतीहाभीनभ्यूदे।

इदानीमीट्टशा ज्वलनाकारतया परिदृश्यमाना एत एवाग्रयः पूर्व-मन्याकाराः सन्तो ममोपदिष्टवन्त इत्युक्तवानित्यर्थः ।

आचार्य आह-

किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

इतर आह—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे ।

एतावदुपदिष्टमिति प्रतिज्ञातवान् ।

इतर आह—

लोकान्याय किल सोम्य तेऽवीचन्नहं तु ते तद्द-क्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्ठिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति।

अग्नयः पृथिव्यादीहाँकोकानेव कात्स्न्येन तवोक्तवन्तः, अङ्गभूताम-ग्निविद्यां कात्स्न्येनोक्तवन्त इत्यर्थः। न तु ज्ञातव्यं ब्रह्म कात्स्न्येन। अहं तु ते पद्मपत्रजलाश्लेपतुल्यसर्वपापाश्लेषापादकविद्याविषयभूतं ब्रह्म वक्ष्यामि यदि शुश्रूषस इत्यर्थः । पापाश्लेषो नाम पापहेतुभूतकर्माचर-णेऽपि पापोत्पत्तिप्रतिबन्धकशक्तिमत्त्वम् । इदं च प्रामादिकपापविष-

यम् । पापशब्दश्च सुकृतदुष्कृतसाधारणः । एतच तत्र तत्रोक्तं तत्रैवानु-संधेयम् ।

इतर आह-

विश्वात मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वह्नेति ।

योगिभिर्योऽक्ष्यन्तर्वतीं पुरुषो हश्यते, अयमेवाऽऽत्मा नियन्तेत्यर्थः । अमृतत्वं निरतिशयभोग्यत्वम् । अभयत्वं दुःखासंभिन्नत्वम् । ब्रह्मत्वं निरतिशयबृहत्त्वम् ।

> तययप्यस्मिन्सार्पर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्माने एव गच्छति ॥ १ ॥

तस्मान्निर्लेपस्थानिष्रमावाद्स्मिन्नक्षणि यद्यपि सर्पिर्वोद्कं वा कश्चित्सिञ्चेत् , तत्पार्श्वद्वयमेव गच्छति न तत्र लिप्यते ॥ १ ॥ एत्र संयद्वाम इत्याचक्षत एत्र हि सर्वाणि वामा-न्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

संयन्ति संगतानि वामानि वननीयानि प्रार्थनीयानि यस्मिन्स संय-द्वामः । सर्वकल्याणगुणाश्रयत्वं सत्यसंकल्पत्वं वा संयद्वामत्वम् । तदु-पासकस्यापि तत्क्वतुन्यायात्तद्भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद॥३॥

वामनीत्वं स्वाश्रितेषु शोभनप्रापकत्वम् । तत्क्रतुन्यायेन तद्धणोपास-कस्यापि तद्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

मामनीत्वं सर्वलोकव्याप्तदीतिमद्विग्रहयुक्तत्वम् । उपासकस्यापि तद्भवत्यपेक्षायामित्यर्थः । अत्र संयद्वामत्ववामनीयत्वभामनीत्वेषु फल-कथनं फलक्षपतात्पर्यलिङ्गोपन्यासेन तेषु गुणेषु तात्पर्यप्रदर्शनार्थं न तु सर्पिवीदकं वा सिश्चतीत्यन्नेवार्थवादमान्नतया स्तुतिक्षपत्वमिति प्रदर्श-नार्थम् । सर्पिवीति वाक्यस्य स्तुतित्वं व्यासार्येक्कम् ॥ ४ ॥

> अथ यदु चेवास्मिञ्शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति ।

अथशब्दः प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः । अस्मिन्बह्मविदि, सामान्याभिप्रायत्वाद्स्यैकवचनस्योत्तरद्याभिसंभवन्तीति बहुवचनेन न विरोधः ।
यत्, यदि शब्यं शवद्हनादिकमं पुत्राद्यः कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति
सर्वथाऽपि तेऽचिषमेवाभिसंभवन्ति । अचिरादिशब्दाश्च 'आतिवाहिकास्तिल्लङ्गात् ' [ ब० सू० ४ । ३ । ४ ] इति न्यायेन तद्भिमानिदेवतापरा इत्यन्यत्र स्थितम् । अत्र केचिदुपकोसलविद्याङ्गभूताभिविद्यावैभवेन शवद्हनादिवैगुण्येऽच्युपकोशलविद्यानिष्ठस्य न क्षतिः, विद्यान्तरिनष्ठस्य दहनादिवैगुण्ये किंचिद्वैगुण्यमस्तिति वद्नित तन्न । 'न लिप्यते
कर्मणा' [ बृ०४ । ४ । २३ ] इति श्रुतिसिद्धार्थानुवादित्वाद्स्य वाक्यस्यैतादृशार्थप्रत्यायकत्वाभावात् । अतोऽथ यदु चैवास्मिन्नित्येतत्सर्वबद्धावित्साधारणमेव ।

अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षायान्षडुद-ङ्ङेति मासा स्तान्मासे भ्यः संवत्सर संवत्सरादा-दित्यमादित्या चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपय-माना इमं मानवमावतं नाऽऽवर्तन्ते नाऽऽवर्तन्ते ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

यान्पण्मासानुद्गुत्तरदिशायामादित्य एति तान्मासानित्यर्थः । द्वपथः, द्वैर्नीयमानः पन्था द्वपथः। ब्रह्मप्रापकः पन्था ब्रह्मपथः। एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं घोरं मानवमावतं घटीयन्त्रवज्जननमरण-पापकं मनुष्यादिशरीरोपलक्षितं संसारं पुनर्न प्रतिपद्यन्ते । द्विरुक्तिवि-द्यासमाप्त्यर्था । अत्र च यत्किंचिद्वक्तव्यमुत्तरत्र वक्ष्यते । अत्र पञ्चा-मिविद्यायासुपकोशलविद्यायां चार्चिरादिगतेः पाठाद्यस्यां विद्यायाम-चिरादिगतिः श्रूयते तन्निष्ठानामेवाचिरादिगत्या बह्मप्राप्तिर्नान्येषाम् । न च ' तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ' [ छा० ५। १०।१] 'अद्धां सत्यमुपासते ' [ बृ०६।२।१५] इति सर्वब्रझ-विद्यासाधारण्यं श्रुतमिति वाच्यम् । तथा सत्युपकोशलविद्यायामचिरा-विगतिश्चातिवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' अनियम: सर्वेषा-सविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ' [ ब० स्व० ३।३। ३१ ] सर्वेपां सर्वोपासननिष्ठानामचिरादिमार्गेणैव गन्तव्यत्वादेतद्विद्यानिष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । तथा सति 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ' श्रद्धां सत्यमुपासते '

> अग्निज्योतिरहः जुङ्कः पण्नासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविद्गे जनाः ॥[गी०८।२४]

इति श्रुतिस्वृतिभ्यां विरोधप्रसङ्गः। उपकोसलविद्यायां पुनराम्नानं तु 'ये चेमेऽरण्ये अद्भातप इत्युपासते 'इति पञ्चामिविद्यावाक्यमाप्तसर्वब्रह्मवि-द्यासाधारणाचिरादिगतेरपुनरावृत्तिविधानार्थमनुवाद इति स्थितम्। उप-कोसलविद्यायाः परमात्मविद्यात्वं च 'अन्तर उपपत्तेः' [ ब० सू० १ । २। १३] इत्यत्र स्थितम् । तथा हि—' य एपोऽक्षिणि पुरुपो हश्यते ' [ छा० ४।१५ १ ] इति निर्दिश्यमानः प्रतिविम्बात्मा प्रसिद्धवन्निर्देशा-द्दृश्यत इत्यपरोक्षाभिधानाच जीवो वा स्यात् । चक्षुपि तस्य विशेषण-संनिधानात्मसिद्धिरुपपद्यते । उन्मीलितचक्षुरुद्दीक्षणेन जीवस्य स्थिति-गतिनिश्चयाद्वर्यत इत्युक्तिरुपपद्यते। न तु परमात्मा तस्यानाधारत्वाद-हुश्यत्वाञ्च । नचाऽऽत्मत्वामृतत्वामयत्वज्ञह्मत्वादिविरोधः । एप आत्मेति होवाचेतीतिकरणेन मनो बह्मेत्युपासीतेतिवत्पदार्थाविवक्षया दर्शितत्वा-दित्वेवं प्राप्तेऽभिधीयते—'अन्तर उपपत्तेः' । अक्ष्यन्तरः परमात्मा । तस्यै-वाऽऽत्मत्वामृतत्वसंयद्वामत्ववामनीत्वभामनीत्वादिधर्माणामुपपत्तेः । न चेतिकरणेनैतेषामविवक्षा शङ्कचा। यञ्चोच्यमानस्यार्थस्याऽऽत्मवचनसं-

बन्धः प्रतिपाद्यस्तत्रेतिशब्दो नार्थविवक्षां वारयति यथा इति ह स्मोपाध्यायः कथयतीति । तस्मादिहामृतत्वादीनामाचार्यवचनसंबन्धस्य प्रतिपाद्यत्वादितिशब्दो मनो बह्मेतीत्यादाविव नाविवक्षाकारकः । ततश्च स्वाभाविकामृतत्वादीनां जीवेऽसंभवात् । तथा प्रतिविम्बे 'रश्मि-भिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः ' [ बृ० पापा२ ] इति चक्षुष्प्रतिष्ठितत्वेन श्रुति-प्रसिद्धादित्यक्षपदेवताविशेषे चासंभवात्परमात्मैवाक्ष्यन्तर्वतीं । यदुक्तं निराधारस्य परमात्मनश्रक्षुरुपस्थितिर्न संभवतीति तत्राऽऽह-'स्थाना-दिन्यपदेशाच' [ ब॰ स्० १।२।१४ ]। 'यश्चक्षुपि तिष्ठन् ' [बृ०३।७।३] इत्यादावन्तर्यामिबाह्मणे चश्चिषे स्थितिनियमनादेः परमात्मधर्मतया श्रवणाद्योगिवृह्यतया हृह्यत इत्यस्योपपत्तेश्राक्ष्यन्तर्वार्तनः प्रमा-त्मत्वे नानुपपत्तिः । 'सुखविशिष्टाभिधानादेव च ' [ब० सू० १।२।१५] कं ब्रह्मेत्यपरिच्छिन्नत्वविशिष्टसुखरूपस्याग्निभिरुपदिष्टस्य ब्रह्मण एव 'य एपोऽक्षिणि पुरुषो हृइयते' इति वाक्ये प्रकृतपरामाईगना य एप इति सर्व-नाम्नाडभिधीयमानत्वाच । न च तद्वस्नाभिविद्यया व्यवहितमिति वाच्यम । अग्निविद्याया अपि ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन न हि स्वाङ्गमिति न्यायेनाव्यव-धायकत्वात् । तद्क्कत्वं च तत्प्रकरणमध्यपातात् । 'अथ हैनं गाईपत्योऽ-नुशशास 'इति बह्मविद्याधिकृतस्यैवामिविद्योपदेश इति प्रतिपादना-द्वह्मविद्योपयुक्तफलव्यतिरिक्तफलान्तराश्रवणाच । ननु कं ब्रह्म खं बह्मोति वाक्येनापरिच्छिन्नसुखरूपं बह्मोति नोपदिश्यते, अपि तु पाणो बह्म कं बह्म सं बह्मिति त्रिभिर्वाक्यैर्मुख्यपाणे लौकिकसुसे आकाशे च ब्रह्मदृष्टिविधीयते तत्राऽऽह-अत एव च स ब्रह्म, अत एवापरिच्छिन्नयुखस्य बह्मस्वाभिधानादेवापरिच्छिन्नसुखरूपं बह्मै-वात्र प्रतिपाद्यते नाबह्मणि बह्मदृष्टिः । अबह्मभूतेषु मुख्यप्राण-लौकिकसुखाकाशेषु बह्मदृष्टिविधिक्षपत्वे तत्रानुपपत्तेरेवाभावेन 'विजा-नाम्यहं यत्प्राणों बह्म कंच तु खंच न विजानामि ' इति प्रश्नस्य 'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम् ' इति वचनस्य चासंगतत्वापत्तेः । तद्संगतिप्रकारश्च प्रागेव वर्णितः । इतश्च परं ब्रह्म 'श्रुतोपनिपत्कगत्यभिधानाच ' [ब० सू० १।२।१६] । श्रुतोपनिपत्क-स्याधिगतपरमपुरुपयाथात्म्यस्यानुसंधेयतया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमानाऽचि । रादिका गतिर्या तामपुनरावृत्तिलक्षणपरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोशलाया-क्षिपुरुपं श्रुतवते ' अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति ' इत्यादिनाऽऽचार्य उपदिशति, अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा । 'अनवस्थितरसंभवाच

नेतरः' [ब॰ सू॰ १।२।१७]। प्रतिबिम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्था-नाद्मृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसंभवान्न परमात्मेतरश्छा-यादिरक्षिपुरुषो भवितुमर्हतीति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः॥ १५॥

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गादारण्यकत्वसाम्याच यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याह-तयः प्रायश्चित्तार्थहोममन्त्रतया विधातव्यास्तद्भिज्ञस्यैव ब्रह्मत्वलक्ष-णमार्त्विज्यं तस्य च ब्रह्मणों मौनमावश्यकमित्येवमादिविध्यर्थमिद-मारभ्यते-

एप ह वै यज्ञो योऽयं पवते ।

योऽयं पवते वायुः स एव यज्ञ इत्यर्थः । कथं वायोर्यज्ञत्वमित्यत्राऽऽह—

एष ह यन्निदः सर्वं पुनाति।

वायुर्हि गच्छन्सर्वं पुनाति । वर्षवातातपैर्वस्तुशुद्धिः स्मृतिप्रसिद्धाः यन्युनातीति पद्द्वयगतयोर्यकारनकारयोर्यज्ञशब्दे प्रत्यभिज्ञानाज्जकारस्य नकारविकारत्वाद्यज्ञशब्दस्य यन्पुनातीति निर्वचनमिति भावः।

उक्तमेवोपसंहरति--

यदेप ह यन्निद्र सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः। एवं यज्ञस्य वायोश्चाभेदोपपादनेन यज्ञस्य गन्तृत्वं संपाद्य गन्तु-र्यज्ञस्य मार्गमाह —

तस्य मनश्य वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥ प्रवृत्तिसाधनभूतो वाङ्मनसयोर्मार्ग इति यावत् ॥ १ ॥ तयोरन्यतरां मनसा सथ्स्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराम् ।

यज्ञस्य मनोलक्षणमार्गं मनसा बह्या संस्करोति । होत्राद्यास्त्रयोऽपि वाचैव सम्यक्षप्रक्रमया वाचं संस्कृर्वन्तीत्यर्थः ।

स यत्रोपाळते प्रातरनुवाके पुरा परि-धानीयाया ब्रह्मा व्यवदति ॥ २ ॥

अवद्तीत्यत्र क्षेपार्थों ' नजो नलोपस्तिङि क्षेपे ' इति नलोपः । यत्र यज्ञे पातरनुवाकशस्त्र उपाकृत आरब्धे सति परिधानीयाया ऋचः प्राग् बह्या व्यवद्ति । विशब्दो विविधार्थो नञश्च निन्दितत्व-मर्थः । विविधं निन्दितं च वद्ति मौनं त्यजति चेदित्यर्थः ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनी सस्कुर्वन्ति हीयते ऽन्यतरा।

तदा मनःप्रणिधानस्य नाशेन मनोलक्षणयज्ञवर्तनीसंस्कारकस्य बह्म-मनसोऽमावादेषा वर्तनी नश्यति होत्रादिवाक्संस्कार्या वाग्र्पा यज्ञ-वर्तनी परमास्त इत्यर्थः।

तर्हि को दोष इत्यत्राऽऽह—

स यथैकपाद्वजन्रथो वैकेन चकेण वर्तमानो रिष्य-त्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञश् रिष्यन्तं यजमा-नोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

गच्छन्नेकपात्पुरुषो वैकेन चक्रेण प्रवर्तमानो रथो वा यथा नश्यत्ये-वमस्य यजमानस्य यज्ञो नश्यति विगुणो भवतीति यावत्। तस्मिन्नष्टे यजमानोऽपि नष्टफलः पापी च भवतीत्यर्थः ।

> अथ यत्रोपाछते प्रातरनुवाके न पुरा परि-थानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी स अस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥ स यथोभयपाड्बजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतिति-ष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतिति-ष्ठति स इङ्घा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

वर्तन्याविति वक्तव्ये सुपां सुलुगिति च्छान्द्रसो लुक् ॥ ४ ॥ ५ ॥ इति च्छान्द्रोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य पोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

यज्ञभंशे व्याह्वतिहोमः प्रायश्चित्तमिति वक्तुं प्रस्तौति—
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् ।

लोकसारजिघृक्षया लोकानुद्दिश्यातपत् । तप आलोचने । आलो-चनरूपं ज्ञानं कृतवानित्यर्थः ।

तेषां तप्यमानाना रसान्प्रावृहत्।

उद्धृतवाञ्ज्याहेत्यर्थः।

अग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

लोकानालोच्य त्रिलोक्या अग्निवाय्वादित्याः सारमूता इति निश्चि-कायेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ॥ १ ॥

> स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाः रसान्त्रावृहदमेर्ऋचो वायोर्यजूः शिक्षामान्यादित्यात् ॥ २ ॥ स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्य-मानाया रसान्त्रावृहद्भृतित्यृग्भ्यो भुव-रिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

तययूक्तो रिष्येद्धः स्वाहेति गाईपत्ये जुहुयात्।

तत्तरमाद्धेतोर्ऋचो निमित्ताद्यदि यज्ञो रिष्येत्क्षतं प्राप्नुयादित्यर्थः। तर्हि तत्प्रायश्चित्तार्थं भूः स्वाहेतिमन्त्रेण गार्हपत्येऽग्नौ जुहुयादित्यर्थः।

> ऋचामेव तद्रसेनचाँ वीर्यणचाँ यज्ञस्य विरिष्टः संद्धाति ॥ ४ ॥

यदृचायृक्संबन्धि तद्विरिष्टम् । तद्यज्ञस्य क्षतमृचां वीर्येणौजसा रसेन भूरितिव्याहृत्या समाधत्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥ अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्धवः स्वाहेति दक्षिणामौ जुहुयायजुषामेव तद्दसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टः संद्धाति ॥ ५ ॥ अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहव-नीये जुहुयात्साम्नामेव तद्दसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टः संद्धाति ॥ ६ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तद्यथा लवणेन सुवर्णः संदध्यात् ।

सुवर्णस्य संधानं नाम कठिनस्य मृदुतापाद्नम् । क्षारद्रव्यसंपर्कपूर्व-कतापेन हि सुवर्णस्य परस्परसंधानयोग्यमृदुता भवतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ।

सुवर्णेन रजतः रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसः सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्याश्चय्या विद्याया वीर्येण यजस्य विरिष्टः संद्धाति ।

व्याहृतीनां पृथिव्यादिलोकसारमूताग्न्यादिदेवतासारभूतत्रयीसार-त्वात्तद्वीर्यत्वाचैपामुक्तानां वीर्येणैवं सुवर्णादिसंधानवदेव यज्ञक्षतं समा-हितं भवतीत्यर्थः ।

भेषजळतो ह वा एष यज्ञो यंत्रैवंविद्वला भवति ॥ ८ ॥

यस्मिन्यज्ञ एवंविद्वह्मनामित्वग्मवित स यज्ञः कृतमेपजः कृतौपधः समीचीनेन चिकित्सकेन यथा रोगार्तः पुरुषः कृतभेषजो भवति तथेत्यर्थः॥ ८॥

एष ह वा उदक्यवणो यज्ञो यत्रैवंदिद्वसा भवति । उदक्यवण उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः । एवंविदश्र ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा ।

एवंविधं ब्रह्मनामकमृत्विजमनुगतैषा वक्ष्यमाणा गाथा मवतीत्यर्थः।

यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥ मानवः।

यतो यतो यत्र यत्र यज्ञस्य क्षतमावर्तते, आ समन्ताद्याप्य वर्तते, आ ईपद्वा वर्तते तत्सर्वं मननशीलो बह्मा गच्छति समाधत्त इत्यर्थः । ब्रह्मेवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षति ।

अश्वा वडवाऽऽरूढान्योधान्यथा रक्षत्येवमेक एव ब्रह्मात्विक्करून्कर्तृनृत्विजो रक्षति ॥ ९ ॥

एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानः सर्वाःश्व-र्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १०॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १०॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

अत्र बह्मणो वेंद्नेन यजमानादीनामृत्विजां च रक्षणप्रतिपाद्नेनोद्रातृप्रभृतीनां वेंद्नानियमः सूच्यत इति 'अङ्गेषु यथाश्रयभावः ' [ ब०
सू० ३। ३। ६१ ] इत्यधिकरणे 'दर्शनाच्च [ व० सू० ३। ३। ६६ ]
इति सूत्रितम् ॥ १०॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य सप्तद्शः खण्डः ॥ १७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकः समाप्तः ॥ ४॥

पाणविद्या प्रस्तूयते—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वे श्रेष्ठश्च भवति।

ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणकं प्राणं यो वेद् स तत्क्रतुन्यायेन स्वयमि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवतीत्यर्थः । ज्येष्ठत्वं च वृद्धतमत्वं 'वृद्धस्य च' इति वृद्धश-ब्द्स्य ज्यादेशविधानात् । श्रेष्ठत्वं प्रशस्ततमत्वं 'प्रशस्यस्य श्रः' इति प्रशस्यशब्दस्य धादेशविधानात् ।

एवं फलपदर्शनेन पुरुपमिमुखीकृत्याऽऽह—

प्राणी वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

वावशब्दोऽवधारणार्थः । गर्भस्थपुरुषे प्राणव्यापारप्रवृत्त्यनन्तरभा-वित्वादिन्द्रियप्रवृत्तेः प्राणस्येन्द्रियापेक्षया ज्येष्ठचमिन्द्रियव्यापाराणां सर्व-थैतद्धीनत्वाच्छ्रेष्ठचं च॥१॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति।

स्वानां ज्ञातीनां मध्ये वसिष्ठो भवतीत्यर्थः। को वसिष्ठ इत्यन्नाऽऽह—

वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

अतिशयेन वसुमान्वसिष्ठः । वाग्ग्मी हि लोकेऽतिशयेन वसुमान्भन्वति । अतश्च वसुमत्तासंपादकसद्यवहारजनकत्वं वाचो वसिष्ठत्वमिति भावः ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिःश्य लोकेऽमुष्मिःश्य ।

हशब्दः प्रसिद्धौ । अत्र चामुत्र च प्रतितिष्ठतीत्यर्थः । का तर्हि प्रतिष्ठेत्यत्राऽऽह—

चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

'चक्षुपा हि समे दुर्गे च प्रतितिष्ठति ' [ वृ० ६ । १ । ३ ] इति 
यृहद्रारण्यके समानपकरणे श्रवणात्प्रतिष्ठासंपादकसमविषमभूतलप्रदर्शकत्वमेव चक्षुपः प्रतिष्ठात्वम् ॥ ३ ॥

यो ह वे संपदं वेद सर हास्मे कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च ।

अस्मा उपासकाय कामाः संपद्यन्त इत्यर्थः । का तर्हि संपदित्यत्राऽऽह—

श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

'शोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः '[बृ०६।१।४] इति बृह्दारण्यके समानप्रकरणे श्रवणात्संपद्धेतुभूतवेद्शास्त्रतद्र्थश्रवणादिसं-पाद्कत्वमेव श्रोत्रस्य संपत्त्वम् ॥४॥

> यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतन ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५॥

स्रक्चन्द्रनादिविषयज्ञानरूपभोगायतनत्वमेव मनस आयतनत्वम्॥५॥
मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठ्यसंपादनायाऽऽख्यायिकामाह—

अथ ह प्राणा अहथ्श्रेयिस व्यूदिरेऽहथ श्रेपानस्म्यहथ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

अथशब्द आख्यायिकोपक्रमार्थः । अहंश्रेयसि स्वश्रेयसि निमित्ते विषये वा ब्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति विवादं चक्र-रित्यर्थः॥ ६॥

> ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमे-त्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति।

स्पष्टोऽर्थः ।

तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतर-मिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

युष्माकं मध्ये यस्मिन्नुत्कान्ते शरीरमितशयेन पापिष्ठमितिहेयमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इत्युवाचेत्यर्थः ॥ ७ ॥

सा ह वागुचकाम ।

सा प्रसिद्धा वाक्स्वश्रेष्ठचपरीक्षणाय शरीरादुत्क्रान्तवतीत्यर्थः।

# सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति।

सा वागेकं संवत्सरं प्रवासं कृत्वा पुनरागत्य महते मां विना जीवितुं कथं शक्ता इत्युक्तवती।

> यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्रक्षुपा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ।

यथा कला मूका वागिन्द्रियव्यापाररहिता अपीतरैः प्राणैस्तत्कार्यं कुर्वन्तो जीवन्त्येवं वयमप्यजीविष्मेति प्रत्यूचुः।

प्रविवेश ह वाक् ॥ ८॥

एवमुक्त्वा वाक्स्वश्रेष्ठचं नास्तीति निश्चित्य देहं प्रविष्टवती ॥ ८ ॥ चक्षुहोँ चकाम।

चक्षुरुत्कान्तम् । एवमुत्तरत्रापि । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मजी-वितुमिति यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥ श्रीत्र होचकाम तत्संवत्सरं प्रीष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मजीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्रक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥ मनो हो चकाम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्यावाच कथम-शकतर्ते मर्जावितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्रक्षुषा श्रुण्व-न्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

अमनसोऽपीढमनसः ॥ ११ ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रभिपन्स यथा सुहयः पड्-वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत् ।

स मुख्यः प्राण उचिक्रमिषस्नुत्क्रमितुमिच्छन्यथा शोभनोऽश्वः परी-क्षार्थमश्वास्त्रहेन ताडितः पङ्गीशशङ्कून्पाद्वन्धनकीलकान्संखिदेदु-त्पाटयेद्वमितरान्प्राणान्स्वस्वस्थानेभ्य उत्पाटितवान् ।

तथ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रभीरिति ॥ १२ ॥

हे भगवन्पूजाई त्वमेधि स्वामीति शेषः । अस्तेर्लोटि मध्यमपुरुपै-कवचनं भवेत्यर्थः । अस्माकं मध्ये त्वमेव श्रेष्ठोऽसि त्वमुत्क्रमणं मा कार्षी-रितीतरे प्राणास्तमागत्योचुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथेतरे प्राणा विशः करानिव राज्ञो मुख्यप्राणाय स्वस्वगुणानर्षितवन्त इत्याह—

अथ हैनं वागुवाच यदहं विस-ष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ।

यस्यैवं वाग्गिमनो वसुमत्तासंपादकत्वस्थणेन गुणेनाहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तेन गुणेन वसिष्ठोऽसीत्यर्थः । मदीयगुणस्य त्वद्धीनत्वात्त्वदीय एव स गुण इति भावः । उक्तं च व्यासार्थः—अहं यत्स्वकार्यकरणसम-र्थाऽस्मि तस्य त्वद्धीनत्वात्त्ववेव तत्कार्यसामर्थ्यमित्यर्थ इति । एवगुत्तर- ज्ञापि द्रष्टव्यस् ।

अथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रति-छाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥ १३ ॥ अथ हैन श्रेत्रमुवाच यदहश् संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमाय-तनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥ न वै वाचो न चक्षुश्रि न श्रोत्राणि न मना स्तीत्या चक्षते प्राणा इत्येवाऽऽ चक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः॥ १॥

लौकिका वाऽऽगमज्ञा वा वागादीनीन्द्रियाणि सर्वाणि वागादि-शब्दैर्न व्यवहरन्त्यपि तु प्राणशब्देनैव व्यवहरन्ति तत्कस्य हेतोः प्राणा-धीनसत्ताकत्वादितरेषाम् ।

यद्धीना यस्य सत्ता तत्तवित्येव मण्यते । इत्युक्तेः ।

प्राणाधीनसत्ताकत्वादितरेषामिन्द्रियाणां सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणादेव भवन्तीत्यर्थः । एतत्खण्डान्तर्गतवाग्विषयक्रमधिकरणमुपन्यस्यते । गणी-पसंहारपादे छान्दोग्यवाजसनेयकयोः कौषीतिकनासुपनिषि च दशमेऽ-ध्याये—' यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' इत्यारभ्य प्राणविद्या पठ्यते। तत्र सर्वत्र प्राणस्य ज्यैष्ठचश्रैष्ठचगुणक-त्वम, वाक्चक्षःश्रोत्रमनसां वसुमत्तासंपाद्कत्वसमविषममूतलादिपदर्श-कत्वसंपद्धेतुभूतवेदशास्त्रतदर्थअवणादिसंपादकत्वस्रक्चद्नादिविपयज्ञाः नक्रपभागायतनत्वलक्षणवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्त्वायतनत्वरूपगुणवत्त्वम्. वागादीनां च श्रेष्ठचविषयपरस्परविदादेन ब्रह्मसभोपसर्पणम्, यस्मिन्व उत्कान्ते शरीरानवस्थितिः स वः शेष्ठ इति ब्रह्मवचनम् , तत्परीचि-क्षिपया वागादीनाभेकैकस्य शरीरादुत्कम्य पर्यटनम् , तस्मिङशरीरस्ये-न्द्रियाणां च यथापूर्वभवस्थानम्, प्राणस्योत्क्रमणप्रवृत्तौ तेषां विशर-णम् । ततो भीतानां वागादीनां मोत्क्रमीस्त्वं नः श्रेष्ट इति सुख्यप्राणं प्रति प्रार्थनिनित्येतत्सर्वं क्रमेण वर्णितम् । कौषीतिकशाखायां तु च्छान्दो-ग्यवाजसनेयकवत्, यद्हं वसिष्ठोऽस्मित्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यनेन प्रकारेण प्राणे वागादिगतवसिष्ठत्वादिसमर्पणं नोक्तम् । अतो वागादिगतवसिष्ठ-रवादेः प्राणाधीनत्वाप्रतीत्या वागादीनां स्वातन्त्रयमतीतेश्छान्दोग्यवाज-सनेयकाम्नातप्राणविद्यातः कौषीतक्याम्नातप्राणविद्याया भेदप्रतिभोद्रमः। तथा तस्यामेवोपनिषदि चतुर्थेऽध्याये ' अथातो निःश्रेयसादानं सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवद्माना अस्माच्छरीरादुचक्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनहाक्वविवेश तहाचा वदच्छिश्य एव ' 'अथैनचक्षः प्रविवेश

तद्वाचा वद् चक्षुपा पश्यिच्छिश्य एवाथैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वद् चक्षुपा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्विच्छश्य एवाथैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वद् चक्षुपा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायिच्छिश्य एवाथैनत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ तं देवाः प्राणे निश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञान्सानमभिसंभूय ' [कौ० २।९ ] प्राणराहित्यद्शायामपि वागादीनां स्वकार्यकरत्वप्रदर्शनेन च्छान्दोग्यैक्याप्रतीतेरिति पूर्वपक्षं कृत्वा बहुसारूप्यप्रतीतौ किंचिद्वैरूप्यस्य प्रत्यभिज्ञाविरोधित्वाभावाद्विद्यैक्यमिति 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे ' [ब० सू० ३।३।१०] इति सूत्रेण सिद्धान्तितम् । सर्वाभेदात्प्रतिज्ञातपाणज्यैष्ठचश्रेष्ठचोपपादनप्रकारस्य तिसृष्विप शाखास्वभेदाच्छाखानतरविद्यायां शाखानतरविद्यागतगुणोपसंहारः कर्तव्य इति
सूत्रार्थः । प्रकृतमनुसरामः ॥ १५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य प्रथम: खण्ड: ॥ १ ॥

#### ्स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति।

वागादीन्त्रति किं मेऽन्नं भविष्यतीति मुख्यत्राणः पत्रच्छेत्यर्थः । यत्किचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुः ।

श्वशकुनिपर्यन्तसर्वप्राणिनां यद्न्नजातं तत्तवान्नजातमिति वागा-द्यः प्रत्यूचुः ।

श्रुतिः स्वेन रूपेणाऽऽह—

#### तद्दा एतदनस्यान्नम् ।

यत्किंचिह्नोके प्राणिभिरद्यते तदेतदन्नस्य प्राणस्यान्नं प्राणेनैव तद-द्यत इत्यर्थः।

#### अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् ।

अद्नादिविविधचेष्टायुक्तत्वात्प्राणस्यान इति प्रत्यक्षं नाम । देवानां परोक्षिपियत्वात्प्रत्यक्षमन इति नाम परित्यज्य प्राण इति परोक्षेण नाम्ना व्यवहारः । ततश्चाद्नचेष्टाया अपि तदीयत्वात्सर्वप्राणिजातेनाद्यमान मन्नं सर्वं तेनैवाद्यत इति प्राणस्य सर्वमन्नमित्यर्थः । यद्वा, अन इत्यस्य

नकारान्तरयुक्तस्यात्रत्वेनान्नस्यानसंबन्धित्वाद्न इत्यस्य प्राणनामत्वस्य प्रत्यक्षत्वाद्त्रं तत्संबन्धीत्यर्थः । अत्र प्राणविद्यानिष्ठेन सर्वप्राण्यन्नाद्-नस्य कर्तुमशक्यत्वान्नास्य वाक्यस्य सर्वप्राण्यन्नाद्नकर्तव्यत्वमर्थः, अपि तु सर्वप्राणिजातान्ने प्राणान्नत्वचिन्तनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

सर्वप्राणिजातान्ने प्राणान्नत्वचिन्तनं स्तौति-

न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति॥ १॥

प्राणविद्यानिष्ठस्याभक्ष्यमक्षणदोषो नास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः।

किं मे वस्त्रं भविष्यतीति मुख्यप्राणेन पृष्टा इतरे प्राणा आपस्ते वस्त्रं भविष्यन्तीत्यूचु: । आपो वासत्वेन चिन्तनीया इति होचुरित्यर्थ: ।

> तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताचोपरिष्टाचाद्धिः परि-दथति लम्भुको ह वासो भवत्यनम्रो ह भवति॥२॥

तस्माद्गां वासस्त्वादेवैतिसमग्निष काले भोक्ष्यमाणा भोजनात्प्राक्प-श्चाचाऽऽचमनीयाभिरिद्ध्वांसोभिः परिहितमनग्नं प्राणं कुर्वन्ति आच-मनीयास्वप्सु वासस्त्वचिन्तनेन वासोभूताभिरिद्धः प्राणस्य परिहित-त्वादिति भावः। अप्सु वासस्त्वचिन्तनेन प्राणस्यानग्नत्वचिन्तनेन च स्वयमिष वासो लम्भुको भवति वासो लब्धा मवति। एवमनग्नश्च भवति तत्कतुन्यायेनेति मावः।

तद्धेतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघपयायोक्त्वोवाच।

व्याच्चपत्युत्राय नाम्ना गोश्चतये जवालापुत्रः सत्यकामनामेदं प्राणद्-र्शनमुक्त्वाऽन्यद्प्युवाच ।

किं तदित्यत्राऽऽह—

ययप्येनच्छुष्काय स्थाणवे बूयाज्ञायेरन्नेवा-स्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

एतत्प्राणदर्शनं शुष्काय वृक्षायापि यदि ब्रूयादस्य शासा अभ्युत्पद्ये-रन्पत्राणि च प्ररोहेयुः ॥ ३ ॥

मन्थाख्यं कर्माऽऽरभ्यते—

#### अथ यदि महज्जिगमिषेत्।

महत्त्वं ज्येष्ठचश्रेष्ठचादिलक्षणं यदि पातृमिच्छेदित्यर्थः । अमावास्यायां दीक्षित्वा पीर्णमास्याः राज्ञी सर्वी-षधस्य मन्थं दिधमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यमावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमयनयेत्॥४॥

उक्तकाले सर्वीपधस्य ग्राम्यारण्यीषधीनां मन्थं पिष्टमीदुम्बरे कंसा-कारे चमसाकारे वा पात्रे दृधिमधुनोः प्रक्षिण्योपमध्याग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्येन हुत्वा मन्थे हुतशेषं निनयेदि-त्यर्थः ॥ ४ ॥

> वसिष्ठाय स्वाहेत्यभावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातम-वनयेत्प्रतिष्ठाये स्वाहेत्यभावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यभावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यभावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपित ।

प्रतिसृप्याभिगम्य प्रदक्षिणं क्वत्वेति वाऽर्थः । अञ्जलौ मन्थं निधाय वक्ष्यमाणं मन्त्रं जपेदित्यर्थः ।

मन्त्रमेवाऽऽह—

#### अमोनामाऽसि ।

अम इति नाम यस्य सोऽमोनामाऽसीत्यर्थः । ननु अम इति प्राणस्य नाम । कथमप्राणस्य मन्थस्यामोनामत्विम-त्यत्राऽऽह-

#### अमा हि।

त्वं प्राणोऽसीत्यर्थः ।

मन्थस्य प्राणत्वमुपपाद्यति—

ते सर्वमिदम्।

इदं जगत्सर्वं ते त्वद्धीनं मन्थलक्षणान्नाधीनत्वाज्जगत इति भावः।

स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः स मा ज्येष्ठचः श्रेष्ठचः राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदः सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

स हि मन्थभूतः प्राण इत्यर्थः । शिष्टं राजा दीप्तिमानधिपतिः शेपी-त्यर्थः । मा मां गमयतु । इदं सर्वमहसेवासानि सर्वनियन्तृतया भवानी-त्यर्थः । शिष्टं रुपष्टम् ॥ ६ ॥

#### अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति।

वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पाद्शो मन्थं मक्षयतीत्यर्थः । 'तत्सवितुर्वृ-णीमहे वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठः सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ' अस्याश्चर्योऽयमर्थः—वयं श्रेष्ठं सर्वधातमं सर्वधारकं तद्दिशिष्टं भोजनं सवितुर्देवस्य सवितुर्देवाद्वृणीमहे प्रार्थयामहे । अत्र प्राणस्य सवितुश्चा-भेदेन सवितुरित्युक्तिः । अथ तद्दत्तेन भोजनेन संतुष्टाः सन्तस्तुरं तूर्णं शीद्रं भगस्य सूर्यस्य देवस्य धीमहि ध्यायेमेत्यर्थः । स्वरूपिनत्यध्याहारः । अथ वा संबन्धसामान्ये पष्टी सवितारं ध्यायेमेत्यर्थः ।

> तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामित वयं देवस्य भोजनिमित्याचामित श्रेष्ठः सर्वधातमित्या-चामित तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

निणिज्य कश्सं चमसं वा पश्चादमेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा।

कंसाकारं चमसाकारं वोदुम्बरपात्रं प्रक्षाल्याग्नेः पश्चाद्जिने वा केवलमूम्यां वा प्राक्शिराः शयीत ।

#### वाचंयमे। ऽप्रसाहः।

वाचंयमो वाग्यतः सन्, अत्रसाहो न प्रसद्यत इत्यप्रसाहः। अनिष्ट-स्वप्रदर्शनेन यथा नाभिष्लुतो भवति तथा संयतचित्तः सन्नित्यर्थः।

स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्॥ ७॥

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु श्चियः
स्वमेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वमनिदर्शने तस्मिन्स्वमनिदर्शने॥ ८॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य
दितीयः खण्डः॥ २॥

अत्र सतीति शेषः । समृद्धिं कर्मनिष्णश्चिमित्यर्थः । द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्लण्डान्तर्गतवाक्ष्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते 'सर्वाम्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्, [ब० १ स० ३ । ४ । २८ ] इत्यत्र
'न ह वा एवंविदि किंस्तानस्नं भवति ' [ । २ । १ ] इति
च्छान्दोग्ये 'नह वा अस्यानस्नं जग्धं भवति ' [६ । १ । १४ ]
इति वाजसनेयके च भवणाद्वामदेव्योपासनानिष्ठस्य प्रार्थयमानसर्वयोपिद्परिहारानुमतिवत्सर्वास्नानुमतिः प्राणविद्यानिष्ठस्य सर्वद् कियत
इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'सर्वास्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।
[ब० स० ३ । ४ । २८ ] प्राणात्यय एव प्राणविदः सर्वाद्वानुज्ञानं
न सर्वदा । बह्मविद्रोऽप्युपस्तेः प्राणात्यय एवोच्छिष्टाशनस्य दर्शनेन
प्राणविदः सर्वास्नानुमतेरापद्विषयत्वस्य किं पुनर्वायसिद्धत्वात् ।
'अवाधास्त्र' [ब० सू० ३ । ४ । २९ ] 'आहारसुद्धौ सत्त्वश्चद्धिः'
[छा० ७ । २६ । २ । ] इति शास्त्रासाधार्थमप्येवमेव न्याय्यमितरथा
तस्य वाधः स्यात् । 'अपि च स्मर्यते ' [ब० सू०।३।४।३० ]

प्राणसंशयसापन्नो योऽस्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पञ्चपत्रमिवास्थसा ॥ [मनु०१०।१०४]

इति स्मरणाञ्च सर्वाञ्चीनत्वमापहिषयम् । 'शब्द्श्वातोऽकामकारे '
[ व० स्० ३।४।३१ ] । 'तस्माङ्गाह्मणः सुरां न पिवति पाप्मना नोत्सृजाः ' इति कठसंहितायां कामकारप्रतिपेधकशब्दद्र्शनात्पाप्मना संसृष्टो न भवानीति मत्वा बाह्मणः सुरां न पिवतीति हि तस्याः श्रुते-र्थः । नसु बह्मविद् उपस्तः प्राणात्यये सर्वाञ्चीनत्वद्र्शनात्पाणविदः सर्वाञ्चीनत्वस्याऽऽपिद्विपयत्वं कैष्ठुतिकन्यायेन सिध्यतीत्यनुपपन्नम् । वामदेव्योपासननिष्ठस्य सर्वयोपिद्परिहारवत्माणविद्यानिष्ठस्य वचनव-

लात्सर्वान्नीनत्वमिति वद्नतं प्रत्येतस्यानुत्तरत्वादिति चेन्न । वामदेव्यो-पासनस्य 'न कांचन परिहरेत्तद्वतम् 'ि छा० २।१३।२ ] इति सर्वयोपि-दपरिहारेऽपि स्पष्टविधिश्रवणात, प्रकृते च ' न ह वा एवंविदि किंच-नानसं भवति ' छा॰ ५।२।१ ] इत्यत्र सर्वास्थ्रणविधेः कल्प्यत्वात, प्रत्यक्षनिषेधविरोधे च विधिकल्पनानुद्येनार्थवाद्त्वस्यैव युक्तत्वात्सर्व-प्राण्यक्षे 'यत्किचिद्दिमा श्वभ्य आ शकुनि चः' [छा० ५।२।२] इति विहितस्य प्राणाञ्चत्वचिन्तनस्य स्तुतिमाञ्चं क्रियते 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति ' इति । न चैवं सति निपेधशास्त्रविरोधात् ' एवं-विदि पापं कर्म न श्ठिष्यते' [छा० ४।१४।६] इत्यादेरपि स्तुतिमात्रत्व-प्रसङ्ग इति वाच्यस् । पाष्प्रनामश्लेषाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गेन सकलपापा-श्लेषस्य मोक्षविधिशास्त्रापेक्षितत्वेन फलविधित्वस्य वक्तव्यत्वात्पाण-विद्यायाश्च ज्येष्ठत्वादिक्षलकत्वेन फलाकाङ्काया अभावादिति स्थितम्। तथा गुणोपसंहारपादे 'लम्भूको ह वासो भवति' छि। पारारी इत्यर्थवादोपबंहितात ' किं से वासो सविष्यतीत्याप इति होचुस्त-स्माद्वा एतद्शिष्यन्तः पुरस्ताखोपरिष्टाचाद्धिः परिद्धति' छि।०५।२।२] इति च्छान्दोग्ये अवणाहासस्त्वचिन्तनिमति प्रतीयते । बृहद्वारण्यके काण्वशाखायां 'तिहृहांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाऽऽचामन्त्येतमेव तद्नमनश्चं कुर्वन्तो मन्यन्ते ' [बृह० माध्य० ६।२। १५ ] इति वाक्येऽनयं कुर्वन्त इति अवणाह्यासस्त्वचिन्तनमपि प्रतीयते, आचामन्तीत्याचमनविधिरपि प्रतीयते । साध्यंदिनशाखायां 'तस्मा-देवंचिद्शिष्यन्नाचामेद्शित्वा चाऽऽचामेदेतमेव तद्नमनमं कुरुते' [बृह० माध्य० ६।२।१५] इत्यनश्चत्वचिन्तनाद्वासस्त्वचिन्तनविधिरपि प्रतीयते, आचामेदित्याचमनविधिपत्ययश्रवणादाचमनविधिः स्पष्टं प्रतीयते । तत्र ह्रयोरपि विधेयत्वे गौरवाइकस्पैव विधेयत्वे वक्तव्य आचामेदित्याच-मने स्पष्टविधिपत्ययथवणात्स्यत्याचारपात्राचमनातिरिक्तमाचमनान्तरं प्रतीयते, वासस्त्वादिश्रवणं तु कथंचित्स्तुतिरूपतया नेतव्यिमिति पूर्वपक्षे प्राप्तेऽभिधीयते—' कार्याख्यानाद्यूर्वम् ' [ब० स्० ३।३।१८] । कार्या-ख्यानाद्विधेरपाप्तविधानस्वाधाव्यात् , आचमनस्य च स्युत्याचाराभ्या-मेव प्राप्तत्वाद्यममान्तरविधाने विनिगमकानुपलम्भादपाप्तमाचमनी-यास्वष्सु वासरत्वानुचिन्तनं विधीयते । छान्दोग्य आचमनस्यैवाप्रतीतेः शाखान्तरेऽपि वासरत्वानुसंधानस्यानुगतत्वात्तदेव विधीयत इति स्थितम् । ननु कथं वागादीनामचेतनानामुक्तिप्रत्युक्तिपरम्परेति चेन्न ।

वागादिशब्दानाम् 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'[त्र० सू० २।१।५] इति सूत्रोक्तन्यायेन तद्भिमानिदेवतापरत्वात् । तत्र हि 'न विलक्षणत्वाद्स्य तथात्वं च शब्दात्'[ब० सू०२।१।४] ब्रह्मणो जगद्विलक्षणत्वेनोपादानत्वं न संभवति । घटरुचकादिषु हि सलक्षणानामेव मृत्सुवर्णादीनामुपादानत्वं दृष्टं प्रकृते च बह्य-जगतोर्विलक्षणत्वं । 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' [तै० २।६।१] इति ब्रह्मजगतोर्विज्ञानत्वाविज्ञानत्वप्रतिपाद्कशन्दादेवावगम्यते । ननु जगतोऽचेतनत्वे 'सृद्बवीत् ' [ श० प० बा० ६।१।३।२] इत्यचेतनाया मुदो वक्तृत्वं नोपपद्यते तत्राऽऽह 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषा-नुगतिभ्याम्। '[ ब० सू०२।१।५ ] मृदादिशब्दैस्तत्तद्भिमानिदेवता व्यप-दिश्यन्ते ' हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः ' [छा०६।३।२] इति तेजोबन्नानां देवताशब्देन विशेषणाद्चेतनानां च देवतात्वासंभवात्तद्भिमानिनी देवता तेजोबन्नादिशव्दैव्यंपदिश्यत इत्यध्यवस्यामः । अग्निर्वाग्युत्वा मुखं प्राविश-दित्यभेर्वाच्यनुप्रवेशक्षपानुगतिश्रवणाद्वागादिशब्दैस्तद्नुप्रवेशेन तदात्मभ्र-ताग्न्याद्यन्नाभिधानानुपपत्तिः । अतश्चेतनस्य ब्रह्मणोऽचेतनजगदुपादा-नत्वं न संभवतीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते ' हश्यते तु ' [त्र०सू०२।१।६]। तुज्ञब्द्श्चोद्यव्यावृत्त्यर्थः। विलक्षणेभ्योऽपि गोमयादिभ्यो वृश्चिकादे्रत्य-त्तिद्र्शनाद्विलक्षणाद्वह्मणो विलक्षणजगदुत्पत्तिरुपपद्यते । ' असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् । ' [ ब० सू०२ । १ । ७ ] विलक्षणादुपादाना-द्विलक्षणोत्पत्त्यङ्गीकार उपादेयस्योत्पत्तेः प्राग्विलक्षणोपादानात्मन्यव-स्थानस्य वक्तुमशक्यत्वेनासत्कार्यवाद्यसङ्ग इति चेस्न । उपादानोपा-देययो: सालक्षण्यनियमप्रतिवेधमात्र एवास्माकं संरम्भ: । सूक्ष्मचिद्-चिद्दिशिष्टं बह्म स्वस्माद्विलक्षणजगदाकारेण परिणमत इत्येत्तु न त्यक्तम् । अत्र चोद्यति—'अपीतौ तद्दत्प्रसङ्गाद्समञ्जसम् '[ ब० सू० २।१।८] । ब्रह्मण एव जगद्रूपेण परिणामे तयोरैक्याद्ष्ययोदिषु सर्वद् शास्वचेतनगता दोषा बह्माणि स्युः। ततश्च बह्मणो निरनिष्टत्वनिरव-यत्पप्रतिपाद्कश्चत्यसामञ्जस्यं भवति । तत्र सिद्धान्तमाह—'न तु हष्टान्तभावात् '[त्र० सू० २।१।९ । न त्वेवं संभवति यथा बालस्य युवानं प्रत्युपादानत्वेऽपि बालयुवादिशब्दैरात्मनोऽभिधानेऽपि बालत्व-युवत्वादिभिर्नाऽऽत्या द्रूप्यत एवमेव नाचेतनगतैर्दोषेरात्मा द्रूप्यते । 'स्वपक्षदोषाच ' [ब० सू० २।१।१०] । निर्विकारस्य चिन्माजैकरसस्य

पुरुषस्य प्रक्रातिसंनिधानेन प्रक्रातिधर्माध्यासनिबन्धना जगत्प्रवृत्तिरिति सांख्यपक्षोऽपि दृष्ट एव । 'तर्काप्रतिष्ठानादपि ' वि० सू० २।१। ११] । तर्काणामन्योन्यव्याघातेनाप्रतिष्ठितत्वाद्षि तन्मूलप्रधानकारण-वादस्त्याज्य एव । 'अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः' वि०स्० २।१।११]। यथा प्रतिकूलतर्कपराहतिर्न भवति तथा सत्तर्कैः प्रधान-कारणत्वमनुमीयत इति चेदेवमपि कालान्तरे त्वत्तोऽतिशयितानां तर्क-कुशलानां संभवेन प्रतिकृलतर्कपराहतिदोषानिस्तारात् । तस्माद्वह्मणो जगदुपादानत्वं न दुष्यतीत्युक्तम् । अतो वागादीनां वक्तत्वे नानुपपत्ति-रिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ८ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पश्चमपपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

प्रकृतविविक्तजीवयाथात्म्यविषयां पञ्चाग्निविद्यां संसृतिवैराग्याय प्रस्तौति-

श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्चालानाः समितिमेयाय।

अरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः श्वेतकेतुः पञ्चालानां जन-पदानां सभामाजगाम।

तथ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।

जीवलस्यापत्यं जैवलिनीमतः प्रवाहणस्तं श्वेतकेतुमुक्तवान्। कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेति ।

हे कुमार त्वा त्वां तव पिताऽन्वशिपत्किमनुशिष्टवान्किमित्य-प्रच्छदित्यर्थः।

इतर आह—

अनु हि भगव इति ॥ १ ॥

हे भगवः पूजाहां नुशिष्टोऽस्मीति ॥ १ ॥ एवमुक्तो जैवलिः पप्रच्छ-

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति।

प्रजा इतोऽधीत ऊर्ध्वं यत्प्रयन्ति तहेत्थ जानीपे किं कर्मिणां गन्तव्यो देश: क इत्यर्थः। इतर आह—

### भगव इति।

जान इति शेषः । पुनः प्रच्छति—
वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति ।
कर्मिणां पुनरावृत्तिप्रकारः क इत्यर्थः । इतर आह—
न भगव इति ।

पुनः पृच्छिति—
वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ।
देवयानपितृयाणयोर्व्यावर्तने भेदके रूपे किं वेत्थेत्यर्थः । केन प्रकारेण तयोभेंद इत्यर्थः । इतर आह—

#### न भगव इति ॥ २ ॥

पुनः पृच्छति— वैतथ यथाऽसी लोकी न संपूर्यता ३ इति ।

अस्मालोकाद्नवरतं गच्छद्भिः पुरुषैः कस्माद्धेतोर्छुलोको न संपूर्यत इत्यर्थः । वाजसनेयके समानप्रकरणे ' वेत्थ यथाऽसो लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिनं संपूर्यता ३ इति ' [ वृ० ६।२।२] इति श्रवणाद-मुच्य लोकस्याप्राप्ता क इति प्रश्नस्य फलितार्थः ॥ ३ ॥

इतर आह—

### न भगव इति।

पुनः पृच्छति--

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ।

आप इति भूतान्तराणामच्युपलक्षणम्। भूतस्क्ष्माणि पञ्चम्यामाहुती यथा येन प्रकारेण पुरुपवचसः पुरुप इति वचो यासां ताः पुरुपवचसः पुरुपशब्दाभिलच्या इत्यर्थः। कस्य पञ्चम्यामाहुतावित्यपेक्षायां पुरुपवचसः वचस्त्वभवनकर्तृतया निर्दिष्टा आप एव हूयमानतया संबध्यन्ते। असंनिहितार्थान्तरकल्पने गौरवात्। ततश्चापां पञ्चभ्यामाहुतावापः पुरुपवचसो भवन्तीत्यर्थः। ततश्चापाभेव पञ्चस्वप्याहुतीषु हूयमःनत्विमिति सिध्यतीति दृष्टव्यम्। इतर आह—

## नैव भगवत इति ॥ ३ ॥

रंहत्यधिकरणे [ ब० सू० ३ । १ । १ ] भगवता भाष्यकृता— कर्मिणां गन्तव्यदेशं, पुनरावृत्तिप्रकारं, देवयानपितृयाणपथव्यावर्तने, अमुष्य लोकस्यापाप्तारं च वेत्थेति पृष्टा वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता-वापः पुरुषवचसो भवन्तीति 'पप्रच्छेति भाषितस्॥ ३॥

एवमुक्तवन्तं श्वेतकेतुं राजा प्रत्याह—

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचया यो हीमानि न विद्यात्कथः सोऽनुशिष्टे। बुवीतेति ।

किं कस्माद्नुशिष्टोऽस्मीत्युक्तवानिस । यो हीमान्यर्थजातानि न जानीयात्स कथमनुशिष्टोऽस्मीति वदेत् । यद्वा किमनुशिष्टः किमर्थमनु-शिष्ट इत्यर्थः ।

स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय ।

स श्वेतकेतू राज्ञा जैवलिनाऽऽयासितः सन्पितुः स्थानमाजगाम । तथ होदाचाननुशिष्य दाव किल सा भगवानववीदनु त्वाऽशिषमिति॥४॥

गत्वा च तं पितरमित्थमुवाच मामननुशिष्य समावर्तनकालेऽनुशास-नीयानि सर्वाण्यननुशिष्येव त्वामन्यशिषमिति भगवान्मां प्रत्यव्यवी-दित्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्कथमित्यबाऽऽह—

पञ्च मा राजन्यबन्धः प्रश्नानप्राक्षी-नेषां नैकंचनाशकं विवकुमिति ।

राजन्यबन्धुर्मां पश्च प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां मध्य एकंचनेकमि प्रश्नं विवक्तं विशिष्य बक्तुं नाशकं न शक्तोऽभूविमिति पितरमुवाचेत्यर्थः । राजन्या बन्धवो यस्य स राजन्यबन्धः, राजन्यानां बन्धुरिति वा । स्वयमराजन्य इत्यर्थः । राजन्याभास इति यावत् ।

> स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाऽहमेषां नैकंचन वेद यद्यहिम-मानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति॥५॥

त्वं मां प्रति तदाऽऽगमनकाल एतान्प्रश्नान्यथाऽवद्स्तेषां नैकंच-नाशकं विवक्तुमिति यथोक्तवानसि तथाऽहमपि तेषां मध्य एकंच- नैकमिप यथा यथावत्सत्यमित्यर्थः । न वेद् नाज्ञासिपम् । यद्यज्ञासिपं तार्हि ते प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले कुतो नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥ स ह गौतमो राज्ञोऽर्थमेयाय ।

एवमुक्त्वा गोत्रतो गौतम आरुणी राज्ञः स्थानमाजगाम । तस्मै ह प्राप्तायाहाँ चकार ।

प्राप्ताय तस्मै गौतमाय राजाऽहाँ पूजां चकारेत्यर्थः।
सह प्रातः सभाग उदेयाय।

ततः स प्रातःकाले राज्ञि सभागे सभागते सत्युदेयाय गौतम आज-गाम । यद्वा भाजनं भागः पूजा तेन युक्तोऽर्घ्यादिभिः पूज्यमानः समा-गत इत्यर्थः ।

तः होवाच मानुषस्य भगवनगी-तम वित्तस्य वरं वृणीथा इति।

हे भगवन्गौतम मनुष्यसंबन्धिवित्तसंबन्धिवरं वृणीष्वेत्युवाचेत्यर्थः । स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचयभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ।

हे राजन्मानुपं वित्तं तवैव तिष्ठतु तेन मम न किंचित्प्रयोजनम् । किंतु मत्युत्रस्य समीपे पञ्चप्रश्रत्रक्षणां यां वाचमुक्तवानसि तामेव मे बूहीति ।

स ह छच्छी बभूव ॥ ६ ॥ तथ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार ।

एवमुक्तो राजा गौतमस्याप्रत्याख्येयतां ज्ञात्वा कृच्छ्री दुः। खितो वभूव, तं च गौतमं विद्यार्थं चिरं वसेत्याज्ञप्तवान् ।

तः होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या बाह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति ।

हे गौतम त्वं मां यथाऽवदः । तथा करिष्यामीति शेषः । इयं वक्ष्य-माणा विद्या पुरा विद्यमानाऽपि यथा येन प्रकारेण यस्माद्धितोरिति यावत्, त्वतः प्राग्बाह्मणान्न प्राप्तवती तस्मात्सर्वेषु लोकेषु क्षित्रयजा-तेरेवैतद्विद्योपदेष्ट्रत्वम् । अतो बाह्मणेप्वेतद्विद्याया अभावाद्वाह्मणा-नामेव समीपं गमिष्यामीति बुद्धिर्न कार्या चिरवासाज्ञापनमपि सोढ-व्यमिति भावः ।

तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

तत्र चिरकालमुपितवते तस्मै राजा विद्यामुपिददेशेत्पर्थः ॥ ७ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप इति पञ्चमप्रश्नप्रतिवचनस्येतरप्रतिव-चनानुकूलत्वात्प्रथमतस्तदेवाऽऽह—

असी वाव लोकी गीतमाशिः।

हे गौतमासी लोकः स्वर्गलोक एवाग्निः। तस्याऽऽदित्य एव समित्।

आदित्येन हि ह्यलोको दीप्यते । रश्मयो धूमः ।

धूमस्य समित्यभवत्वादादित्यरश्मीनां धूमत्वम् । अहरर्चिः ।

प्रकाशकत्वात् ।

चन्द्रमा अङ्गाराः।

अर्चिष्प्रशमकालप्रभवत्वाचन्द्रमसोऽङ्गारत्वम् । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ।

'चन्द्रावयववदुपलभ्यमानत्वाद्विस्फुलिङ्गत्वम् ।

तस्मिन्नेतस्मिन्नभौ देवाः श्रद्धां जुह्नति ।

आदित्यादिलक्षणसमिदाग्रुपेते ग्रुलोकलक्षणाग्नौ देवा इन्द्रियाणि श्रद्धां 'श्रद्धा वा आपः' इति श्रुतेः श्रद्धाशिव्दिता अपो जुह्वति। आत्म-धर्मभूतबुद्धिविशेषलक्षणश्रद्धाया होतन्यत्वासंभवाच्छ्रद्धाशन्देनाऽऽप एवोच्यन्त इति द्रष्टव्यम् । न चेन्द्रियाणां द्युलोकाग्नौ भूतसूक्ष्मरूपाहु-तिप्रक्षेपकर्तृत्वं कथमिति वाच्यम् । इन्द्रियाणामभावे भूतसूक्ष्माणां जीवं परिष्वज्य द्युलोकगमनासंभवादिन्द्रियाणां होतृत्वमुपपद्यत इति द्रष्टव्यम् । द्युलोकादिपापककर्मणामिन्द्रियाधीनत्वाद्वा तथोक्तिरिति द्रष्टव्यम् ।

तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

एवं स्वकर्मभिर्द्धलोकं गतो जीवः स्वर्गमोगयोग्यदिव्यदेहयुक्तो भवतीत्वर्थः । न चाष्ट्राब्दितानां भूतसूक्ष्माणां सोमराजभावे कथिते कथं जीवस्य सोमराजभाव उपपद्यत इति वाच्यम् । उत्तरत्र पितृयाणे 'एष सोमो राजा '[छा०५।१०।४] इति चन्द्रमसं प्राप्तस्य जीवस्य सोमराजभावश्रवणाद्त्र निर्दिश्यमानसोमराजभावस्यापि भूत-सूक्ष्मपरिष्वक्तजीवविषयत्वात्।

इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभं धूमो वियुदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नग्री देवाः सोमश राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षः संभवति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य पश्चमः खण्डः॥ ५ ॥

पर्जन्यो वृष्टिप्रवर्तकों देवः । ह्वाद्नयो मेघगर्जितानि । अत्र वाय्वा-दीनां समिदादिकलपनानिमित्तं यथायोग्यमन्वेपणीयम् । द्युलोकभोग-निमित्तकर्मावसाने सोमराजशब्दितः स देहो द्वीभूय सह जीवेन मेघमण्डले पततीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

> इति च्छादोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५॥

पृथिवी वाव गौतमाथिस्तस्याः संवत्सर एव समित् । संवत्सरेण कालेन समिद्धा हि पृथिवी सस्यादिनिष्पत्तवे भवति । आकाशो धूमो रात्रिरर्चिः ।

नीलक्ष्वाश्रयपृथिव्यग्नेरानुक्षपत्वाद्वात्रेरिनेष्ट्वम् ।
दिशोऽङ्गारा अवान्तरिदशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥
तिस्मन्नेतिस्मन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति
तस्या आहुतेरन्नश्र संभवति ॥ २ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

श्रद्धाशब्दवाच्यानि भूतसूक्ष्माणीन्द्रियसंयुक्तानि स्वर्गभोगयोग्यदे-हाकारेण परिणतानि सुकृतक्षये द्रवीभूतानि सन्ति पर्जन्यमवाष्य वर्ष-रूपाणि भूत्वा पृथिवीं प्राप्य वीहियवाद्यज्ञानि भवन्तीत्यर्थः ॥१॥२॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्नकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

> पुरुषो वाव गौतमाभिस्तस्य वागेव समित्पाणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्वक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

वाचा हि समिध्यते पुरुषों नावाममी, अतो वाक्समित्। एवमन्य-इष्टब्यम् ॥ १॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नश्री देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

एवं बीह्याद्यन्नरूपाणि भूतस्र्क्ष्माणि जीवसंश्विष्टानि पुरुपेणाद्यमा-नानि पुरुपरेतोरूपेण परिणमन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

> योषा वाव गौतमाभिस्तस्या उपस्थ एव सिम-यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नभौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्या-ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

उपमन्त्रणं संकेतकरणम् । लोहितत्वाद्योनेरिच्छम् । अन्तःकरणं मिथुनीकरणम् । अभिनन्दास्तज्जन्यसुखलवाः । रेतोरूपाणि तानि योनि-द्वारा स्त्रियं प्रविक्य गर्भत्वेन परिणमन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषठाकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्या-टमः खण्डः ॥ ८॥

इति तु पश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । उक्तपकारेण श्रद्धासोमवृष्ट्यक्ररेतोरूपाहुतीनां सध्ये रेतोरूपायां पञ्चम्यामाहुतायष्छाब्दितानि भूतसूक्ष्माणि पुरुपशब्दाभिलपनीयानि भवन्तीत्यर्थः । इतिशब्दः पञ्चमप्रश्नप्रतिवचनसमाप्तिद्योतनार्थः ।

स उल्बावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावहाऽथ जायते ॥ १ ॥ स जातो यावदायुपं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽयय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

स गर्भ उल्वेन जरायुणा वेष्टितः सन्दश वा मासान्यावद्वा नव वैकादश वा द्वादश वा मातुः कुक्षौ शयित्वाऽथानन्तरं जायते जातश्च यावदायुर्जीवति । आयुःक्षयसमय एव तं प्रेतं पुरुषं दिष्टं परलोकाय निर्दिष्टम् । यद्वा दिष्टं कर्मानुसृत्य यतो द्युलोकपर्जन्याद्यग्नेरिहाऽऽगतो यतश्च योषिद्युपाञ्चेरुत्पञ्चस्तस्माद्ग्रय एव देवा हरन्ति। ततश्च द्युपर्जन्य-पृथिवीपुरुषयोपित्सु पुनरपि संभवतीत्यर्थः । अयं चोपन्यासो वैराग्य-हेतोः । कष्टं हि मातुः कुक्षौ मूत्रपुरीपवातश्लेष्मादिपूर्णे तद्नुलिप्तस्य गर्भस्योल्बाञ्चचिपटावृतस्य शुक्रशोणितबीजस्य मातुरशितपीतरसानुप-वेशेन विवर्धमानस्य निस्द्धवीर्यवलशक्तितेजःप्रज्ञाचेष्टस्य बहुकालं शयनं, ततो योनिद्वारेण पीड्यमानस्य कष्टतरा निःसृतिः, कर्मणोपासं यावदायुस्तावदेव जीवनं, पुनरपि घटीयन्त्रकुण्डिकान्यायेनाऽऽरो-हणावरोहणलक्षणं भ्रमणं हि भ्रयमाणं वैराग्यमापाद्यति । अत एत-द्वपन्यस्तमिति इष्टब्यम् ॥ १॥ २॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९॥

अथ वेत्य पथा देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति वतीयं प्रश्नं प्रतिवक्ति—

# तय इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति।

प्राक्प्रस्तुतस्य संसरतो जीवस्य स्वरूपं तदित्यनेन परामृश्यते । तत्प्र-त्यगात्मस्वरूपं य इत्थमुक्तप्रकारेण द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोपित्सु श्रद्धा-सोमवृष्टचन्नरेतः शरीरकतया देहादिलक्षणप्रकृतिविविक्ततया च ये विदु-रित्यर्थः । तत्र ब्रह्मात्मकतया चेत्यपि योजनीयम् । भाष्यकृता— ' अप्रतीकालम्बनान् ' [ ब० स्० ४।३।१५ ] इति सूत्रे पञ्चाग्निविदोऽ-प्यार्चिरादिना गतिश्रवणाद्धिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रव-णाच । अत एव तत्क्रतुन्यायेन प्रकृतिविनिर्मुक्तबह्यात्मकात्मानुसंधानं सिद्धमिति मापितम् । अरण्ये स्थित्वा श्रद्धां पुरस्कृत्य तपःशब्दितं बह्मोपासत इत्यर्थ: । वाजसनेयके समानप्रकरणे 'श्रद्धां सत्यमुपासते ' [ बृ॰ ६।२।१५ ] इति अवणात्सत्यशब्दस्य ब्रह्मपरत्वात्तपःशब्दोऽपि बह्मपरः । 'अनियमः सर्वेषाम् ' [ ब० सू० ३।३।३१ ] इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकृता 'तद्य इत्थं विदुः ' 'य एवभेतद्विदुः ' [ बृ० ६।२। १५] इति पश्चाग्निविद्यानिष्ठान् 'ये चेमे ' इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं बह्मोपासीनांश्रोद्दिश्याचिरादिका गतिरुपदिश्यते । ' सत्यं ज्ञानमननतं ब्रह्म' [ तै० २।१।१ ] सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् [ छा० ७।१६।१ ] इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः।तपःशब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात्सत्यतपः-शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतम् । सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपक्रम्य 'श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या' [छा०७।१९।१] इति थुतेरिति हि भाषितम् । उक्तं च व्यासार्थैः-परमं यो महत्तप इत्यादिषु तपःशब्दस्य बह्मपरत्वमिति । अत्र वाजसनेयके ' श्रद्धां सत्यम् ' [ वृ० ६।२।१५ ] इति श्रद्धाशब्दस्य द्वितीयान्तत्व-श्रवणादिहापि श्रद्धाशब्दो द्वितीयान्तः । छान्द्सत्वात्सुपां सुलुगिति सुपो लुक् । ततश्च पुरस्कृत्येत्यध्याहारः । श्रद्धां पुरस्कृत्य बह्मोपासत इत्यर्थः । इतिस्त्वविवक्षितः । अथ वैवकारोऽत्राध्याहर्तव्यः । ब्रह्मेत्येव य उपासत इत्यर्थ: । ततश्चाब्रह्मोपासनव्यावृत्तिफलकोऽयमितिशब्दो द्रष्टव्यः । यद्वा श्रद्धातपःशब्दयोः प्रसिद्ध एवार्थः । श्रद्धातपःपरा-यणानां च ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वमर्थासिद्धम् । ततश्च ब्रह्मविद्यानिष्ठ इत्यर्थः फलति । अयमर्थस्तद्प्यविरुद्धमार्थत्वाद्पि शाब्दत्वं संभवतीत्यु-

क्तमिति वदतां व्यासार्याणामनुमत एव । तेऽचिपमभिसंभवन्ति । अचिदैवतामातिवाहिकतया प्राप्तवन्तीत्यर्थः ।

> अर्चिषोऽहरह्र आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणप-क्षायान्षडुदङ्ङेति मासा भस्तान् ॥ १ ॥ मासे भ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्यमादि-त्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो वियुतं तत्पुरुषोऽ-मानवः स एनान्बस गमयति ।

अञ्चार्चिरादिशब्दास्तद्भिमानिदेवतापराः। तित्पुरुपो वैद्युतः पुरुषः। अमानवोऽसंसारी । ब्रह्मलोकादागत्यैनान्पूर्वोक्तद्विविधोपासकान्ब्रह्म-लोकं प्रापयतीत्यर्थः । 'अमानवः स एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ' ब्र हाराश्प ] इति श्रुत्यन्तरे श्रवणात् ।

एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

स्पष्टोंऽर्थः ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तामि-त्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति ।

ये पुरुषा ग्राम एव स्थिता इष्टं यागादि पूर्तं खातादि द्त्तं दानम्। इतिशब्दस्तज्जातीयोपवासादिकर्मान्तरपरः। यागदानहोमादीनि कर्माणि येऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः । उक्तप्रकारेणानुतिष्ठन्तीत्यर्थं इति व्यासार्यवचनस्या-प्ययमेवार्थः । श्रुतौ पूर्वमनुष्ठानप्रकाराननुवृत्तेः । यद्वा श्रद्धापूर्वकत्वरू-पोक्तप्रकारवाचीतिशब्दः । ते धूममभिसंभवन्ति धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त आतिवाहिकत्वेनेत्यर्थः।

> धूमादात्रिः रात्रेरपरपक्षमपरपक्षायान्षड्दक्षिणेति मासा इस्ताञ्चेते संवत्सरमित्रामुवन्ति ॥ ३॥

अत्रापि धूमादिशब्दास्तत्तद्भिमानिदेवतापराः। दक्षिणां दिशमादित्य एति । 'दक्षिणादाच्' इत्याजन्तोऽयं शब्दः । दक्षिणायनमासान्प्राप्या-विद्वांस एव न संवत्सरं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

# तय इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति।

प्राक्यस्तुतस्य संसरतो जीवस्य स्वरूपं तदित्यनेन परामृश्यते । तत्प्र-त्यगात्मस्वरूपं य इत्थमुक्तप्रकारेण द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितसु श्रद्धा-सोमवृष्टचन्नरेतःशरीरकतया देहादिलक्षणप्रकृतिविविक्ततया च ये विदु-रित्वर्थः । तत्र ब्रह्मात्मकतया चेत्यपि योजनीयम् । भाष्यकृता— ' अप्रतीकालम्बनान् ' [ ब० स्० ४।३।१५ ] इति सूत्रे पञ्चाग्निविदोऽ-प्याचिरादिना गतिश्रवणादाचिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रव-णाञ्च । अत एव तत्क्रतुन्यायेन प्रकृतिविनिर्मुक्तब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धमिति भाषितम् । अरण्ये स्थित्वा श्रद्धां पुरस्कृत्य तपःशब्दितं बह्मोपासत इत्यर्थ: । वाजसनेयके समानप्रकरणे 'श्रद्धां सत्यमुपासते ' [ बृ० ६।२।१५ ] इति श्रवणात्सत्यशब्दस्य ब्रह्मपरत्वात्तपःशब्दोऽपि ब्रह्मपरः । 'अनियमः सर्वेषाम् ' [ ब० सू० ३।३।३१ ] इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकृता ' तद्य इत्थं विदुः ' ' य एवभेतद्विदुः ' [ बृ० ६।२। १५] इति पञ्चाग्निविद्यानिष्ठान् 'ये चेमे ' इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं बह्मोपासीनांश्रोद्दिश्याचिरादिका गतिरुपदिश्यते । ' सत्यं ज्ञानमनन्तं बह्म' [तै० २।१।१] सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् [ छा० ७।१६।१] इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः।तपःशब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात्सत्यतपः-शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतम् । सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपक्रम्य 'श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या' [ক্তা০তাংৎ।१] इति श्रुतेरिति हि भाषितम् । उक्तं च व्यासार्थै:—परमं यो महत्तप इत्यादिषु तपःशब्दस्य बह्मपरत्वमिति । अत्र वाजसनेयके 'श्रद्धां सत्यम् ' [ बृ० ६।२।१५ ] इति श्रद्धाशब्दस्य द्वितीयान्तत्व-श्रवणादिहापि श्रद्धाशब्दो द्वितीयान्तः । छान्द्सत्वात्सुपां सुलुगिति सुपो लुक् । ततश्च पुरस्कृत्येत्यध्याहारः । श्रद्धां पुरस्कृत्य ब्रह्मोपासत इत्पर्थः । इतिस्त्वविवक्षितः । अथ वैवकारोऽत्राध्याहर्तव्यः । ब्रह्मेत्येव य उपासत इत्यर्थ: । ततश्राबह्योपासनव्यावृत्तिफलकोऽयमितिशब्दो द्रष्टच्यः । यद्वा श्रद्धातपःशब्दयोः प्रसिद्ध एवार्थः । श्रद्धातपःपरा-यणानां च ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वमर्थसिद्धम् । ततश्च ब्रह्मविद्यानिष्ठ इत्यर्थः फलति । अयमर्थस्तद्प्यविरुद्धमार्थत्वाद्पि शाब्दत्वं संभवतीत्यु-

क्तमिति वद्तां व्यासार्याणामनुमत एव । तेऽर्चिपमभिसंभवन्ति । अर्चिर्देवतामातिवाहिकतया प्राप्तवन्तीत्यर्थः ।

> अर्चिषोऽहरह्र आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणप-क्षायान्षडुदंङ्ङेति मासा भस्तान् ॥ १ ॥ मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्यमादि-त्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो वियुतं तत्पुरुषोऽ-

मानवः स एनान्ब्रह्म गमयति

अञ्चार्चिरादिशब्दास्तद्भिमानिदेवतापराः। तत्पुरुषो वैद्युतः पुरुषः। अमानवोऽसंसारी । ब्रह्मलोकादागत्यैनान्पूर्वोक्तद्विविधोपासकान्ब्रह्म-लोकं प्रापयतीत्यर्थः । 'अमानवः स एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ' ब्र इ।२।१५ ] इति श्रुत्यन्तरे श्रवणात्।

एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

स्पष्टोंऽर्थः ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमि-त्युपासते ते धूममिसंभवन्ति ।

ये पुरुषा ग्राम एव स्थिता इष्टं यागादि पूर्तं खातादि दत्तं दानम् । इतिशब्दस्तज्जातीयोपवासादिकर्मान्तरपरः। यागदानहोमादीनि कर्माणि येऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः । उक्तप्रकारेणानुतिष्ठन्तीत्यर्थ इति व्यासार्यवचनस्या-प्ययमेवार्थः । श्रुतौ पूर्वमनुष्ठानप्रकाराननुवृत्तेः । यद्वा श्रद्धापूर्वकत्वरू-पोक्तप्रकारवाचीतिशब्दः। ते धूममभिसंभवन्ति धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त आतिवाहिकत्वेनेत्यर्थः।

> धूमाद्रात्रिः रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाचान्षड्दक्षिणेति मासा भस्ताञ्चेते संवत्सरमित्रामुवन्ति ॥ ३॥

अत्रापि धूमादिशब्दास्तत्तद्भिमानिदेवतापराः। दक्षिणां दिशमादित्य एति । 'दक्षिणादाच्' इत्याजन्तोऽयं शब्दः । दक्षिणायनमासान्प्राप्या-विद्वांस एव न संवत्सरं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पुनः किं प्राप्नुवन्तीत्यज्ञाऽऽह—

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाचन्द्रमसम्।

स्पष्टोऽर्थ: । ' एतेन वेत्थ यदितोऽधि प्रजा: प्रयन्तीति ' [ छा० ५। ३।२] इति प्रथम: प्रश्न: प्रत्युक्तो भवति ।

### एष सोमा राजा।

अत्रैष इत्यनेन नाभिसंभाव्यश्चन्द्रमाः परामृश्यते चन्द्रमसः सोमरा-जभावोपदेशस्य व्यर्थत्वात्। अपि त्विष्टादिकार्यभिसंभविता परामृश्यते। 'तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ' [ छा० पाप्ता२ ] इति न्यायेन स्वर्मोगयोग्यदिव्यदेहो भवतीत्यर्थः।

## तद्देवानामञ्जम् ।

अज्ञवत्स देवानामुपकरणभूतो भवतीत्यर्थः । तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

तिमष्टादिकारिणं देवभावमुपगतमाजानसिद्धा देवा मक्षयन्ति स्वकैं-कर्येषु पश्चानिव विनियुञ्जत इत्यर्थः । सूत्रितं च 'माक्तं वाऽनात्मवि-स्वात् । [ ब० सू०३।१।७] इति ॥४॥

## तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ।

संपतत्यनेनेति संपातः कर्मशेषः । यावत्कर्मशेषमुषित्वेत्यर्थः । याव-च्छब्दः साकल्यार्थः । साकल्यं च फलप्रदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयं न तु सर्वकर्मविषयं द्रष्टव्यम् ।

'वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ते ' [ छा० ५। ३। २ ] इति द्वितीयं प्रश्नं प्रतिवक्ति—

# अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम् ।

अथानन्तरमेतमेवाध्वानं धूमादिमार्गं यथेतं यथागतं पुनर्निवर्तन्ते । धूमराज्यपरपक्षदक्षिणायनपण्मासपितृलोकाकाकाक्रमेणाऽऽरोहणात्ते । नेव विपरीतक्रमेणावरोहणे प्राप्तेऽत्र विशेषमाह—

### आकाशमाकाशाह्यपुम् ।

यथाऽऽरोहण आकाशाचन्द्रमसमिसंभवन्त्येवमवरोहणे चन्द्रमस आकाशमभिसंभवन्ति । आरोहणावरोहणयोराकाशाभिसंभवस्त्ववि- शिष्ट इति भावः । आकाशाद्वायुम् । अभिसंभवन्तीति शेषः । अत्र वायुभूत्वा धूमो भवतीत्युत्तरत्र अवणाद्त्राप्यवरोहन्त आकाशो भवन्ति ।
वायुर्भवन्तीत्येवार्थः । अवरोहतां चाऽऽकाशादिभवनं न तच्छरीरकत्वम् । सर्गाद्यकालमारभ्याऽऽप्रलयमाकाशाद्यभिमानिदेवतानामन्यासां क्लप्तानां सत्त्वेन प्रतिक्षणमवरोहतामाकाशाद्यभिमानिदेवतात्वानुपपत्तेरतस्तत्सादृश्यमेवार्थः । या आपश्चन्द्रमण्डले दिव्यशरीरमारव्धवत्यस्तासां कर्मक्षये द्रवीभूतानामाकाशगतानां भेदकाकारप्रहाणेनाऽऽकाशसादृश्ये तदुपश्लिष्टा जीवा अप्याकाशसमा उच्यन्ते ताश्चाऽऽप
इतश्चामुतश्च वायुना नीयमाना वायुसमा भवन्ति । ततश्च तत्संश्लिष्टो
जीवोऽपि वायुर्भवतीत्युच्यते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।

वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

अवो विभर्तीत्यभ्रं मूलविभुजादित्वात्कः। ततश्चाभ्रशब्देन जलधारणा-वस्थोच्यते ॥ ५ ॥

# अभं भूत्वा मेघो भवति ।

मिहं सेचन इति धातोः पचाद्यच्पत्यये न्यङ्कादित्वात्कुत्वे मेघ इति भवति मेघशब्देन वर्षोन्मुखावस्थोच्यते। एवमेवाभ्रमेघयोर्भेदो व्यासार्थेरुक्तः।

मेघो भूत्वा प्रवर्षति ।

मेघसंश्ठिष्टो भूत्वा वर्षधारारूपेण भूमौ पततीति भावः।

त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्प-तयस्तिलमाषा इति जायन्ते।

वर्षसंश्लिष्टभूतसूक्ष्मपरिष्वक्तजीवानां बीहियवादिरूपेण जननं नाम न स्थावरभावप्रतिपत्तिः स्थावरत्वप्राप्तिहेतुकर्मणामिहाकीर्तनात् । किं तु नीवान्तराधिष्ठितेषु बीह्यादिषु संश्लेषमात्रम् । सूत्रितं च 'अन्या-धिष्ठितेषु पूर्ववद्भिलापात् ' [ ब० सू० ३ । १ । २२ ] इति ।

# अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् ।

अतः स्थावरादिभावादतिचिरेण निर्गमनं भवति । अत्र खलन्ता-द्दुर्निष्प्रपतशब्दादातिशायनिके तरप्पत्यये छान्दसे तशब्दलोपे दुर्निष्प-

पतरमिति रूपम् । ततश्चातिशयस्य प्रतियोग्याकाङ्क्षायां प्रागनुक्रान्ताः काशादीनां बुद्धौ संनिधानात्तेपामेव प्रतियोगित्वेनान्वयः स्यात् । ततश्च बीह्यादिष्वाकाशाद्यपेक्षया चिरावस्थानोक्त्याऽऽकाशादिष्ववस्थानस्य तदपेक्षयाऽल्पकालत्वं पर्यवस्यति । उक्तं च भगवता माप्यकृता-छान्द-सस्तशब्दलोपः। दुर्निष्पपतरं दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थ इति । न च 'तयो-रेव कृत्यक्त खल्थाः ' इति खलो भावकर्ममात्रविषयत्वात्पतेश्चाकर्मक-त्वेन भावार्थस्यैव परिशिष्टत्वात्तत्र च मावार्थस्य प्रकर्णभावात्तरपो दौर्ल-म्यमिति शङ्क्चम् । शिश्येतरामित्यादिप्रयोगाद्भावार्थेऽपि प्रकर्षसंभवात्क-र्ज्ञर्थपचाद्यजन्तात्तरपः संभवाञ्च माष्यस्य नानुपपत्तिः। यद्वा 'आतो युच् ' 'छन्द्सि गत्यर्थेभ्यः ' इति च्छन्द्सि विशेषविहितखलर्थयुजन्त एवायं शब्दः।रेफरूपवर्णविकाररछान्द्सः।नन्वस्य तरप्त्रत्ययत्वामावे पूर्वनिर्दि-ष्टाकाशादिभ्योऽतिशयस्तेष्वचिरावस्थानं वा कथं सिध्येदिति वाच्यम् । वैशन्दस्यावधारणार्थतयाऽत:शन्दिताद्वीह्यादिमावादेव चिरं निष्क-मणे कथिते ततः पूर्वनिर्दिष्टेभ्य आकाशादिभ्योऽचिरान्निष्क्रमणं सिध्यति तशब्दलोपश्छान्दस इति भाष्यस्यापि वर्णलोपेन वा वर्णविकारेण वा यथाकथंचित्साधृत्वं समर्थनीयमित्यत्र तात्पर्यम् । त्रीह्यादयो हि गिरित-टादुदकस्रोतसो ह्यमाना नदीं प्राप्नुवन्ति ततः समुदं ततो मकरादिभिर्भ-क्ष्यन्ते तेऽप्यन्येस्तज्ञैव च मकरेण सह समुद्दे विलीनाः समुद्राम्मोभिः सह जलधरैराक्ट्राः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातले वा हम्ये वा पतिता-स्तिष्ठन्ति। कदाचिव्यालमृगादिपीतास्ते भक्षिताश्चान्यैस्तेऽप्यन्यैरित्येवं-प्रकाराः परिवर्तेरन् । कदाचिद्भक्ष्येषु स्थावरेषु जातास्तत्रैव शुष्येरन् । मक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव बहुत्वा-रस्थावराणामित्यतो दुर्निष्क्रमणत्वम् ।

यो यो ह्यन्नमित यो रेतः सिञ्चति तद्भुय एव भवति ॥ ६ ॥

अत्र स इत्यध्याहारः । यो बीह्यादिसंश्लिष्टोऽवरोहञ्जीवः स योऽन्न-मत्ति, रेतः सिञ्चति, भूयः पश्चात्तद्भवति रेतःसिग्भावं प्राप्नोति आका-शादिभाववद्भेतःसिग्भावोऽप्योपचारिकः । रेतःसिग्योगी भवतीत्यर्थः । एवमेव व्यासार्थेरुक्तम् ॥ ६ ॥

> तय इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रम-णीयां योनिमापयेरन्त्राह्मणयोनिं वा क्षञ्जिय-

योनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयच-रणा अभ्याशो ह यत्ते कपूर्या योनिमापयेर-ञ्खयोनि वा सूकरयोनि चण्डालयोनि वा॥७॥

तत्तेषु येऽभ्याशोऽभ्यागन्तारः । अभ्याङ्गपूर्वादशेर्धातोः किवन्ता-द्बहुवचनान्तोऽयं शब्दः । परलोकादिह लोकं प्रत्यवतरन्त इत्यर्थः। हेति प्रसिद्धौ । यद्यदा रमणीयचरणाः । चर्यत इति चरणं कर्म रमणी-यकर्माणो भुक्तशिष्टपरिपक्तसुकृतकर्मयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । अत्र यदाश-ब्दानुरोधेन तदेत्यप्यध्याहर्तव्यम् । तदा ते रमणीयां बाह्मणादियोनि-माप्रुवन्तीत्पर्थः । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माण इत्पर्थः । भुक्तशिष्टकर्मानु-सारि जन्म प्राप्नवन्तीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७ ॥

वेत्थ यथाऽसो लोको न संपूर्वत३ इति चतुर्थपश्चं प्रतिवक्ति— अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्रा-ण्यसक्टदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्य म्रिय-स्वेत्येतचुतीय स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते ।

अथशब्दः प्रतिवचनान्तरोपक्रमे यानि भूतान्युक्तयोर्देवयानपितृया-णयोः पथोर्मध्ये कतरेणचन केनापि मार्गेण न गच्छन्ति मार्गद्वयंपाप्ति-हेतुभूतविद्याकर्मरहिता इत्यर्थः।तानीमानि भूतानि श्चद्राणि दंशमशक-कीटादीन्यसकृदावतींनि सन्ति जायस्व म्रियस्वेति भवन्ति पुनः पुनर्जा-यन्ते म्रियन्त इत्यर्थः। सक्कृन्यिव धानाः खादेत्ययमभ्यवहरतीत्यस्य पुनः पुनः पिचति पुनः पुनः खाद्तीति ह्ययमर्थस्तद्वत्। 'क्रियासमभिहारे लोद लोटो हि स्वौ वा च तथ्वमोः 'इति पौनःपुन्यलक्षणक्रियासमभिहारे लोटस्तध्यमोहिस्वादेशविधानाज्जायस्य म्रियस्वेति रूपम् । 'यथाविध्यनुप्र-योगः पूर्वस्मिन् 'समुचये सामान्यवचनस्य' इति भवन्तीति सामान्यशब्द-स्यानुप्रयोगः । उक्तं च व्यासार्थै: - पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनमिति-वदिति । एतत्तृतीयं स्थानम् । अत्रैतच्छब्देन जायस्व भ्रियस्वेति भूतानि भवन्तीति प्रथमान्तशब्देन प्रधानतया निर्दिष्टाः पापकर्माणः परामृश्यन्द्रे सर्वनाम्नां पूर्वनिर्दिष्टप्रधानपरामशित्वात् । स्थानशब्दाभि-प्रायेणैकवचनम् । पूर्वनिर्दिष्टगुलोकबह्मलोकापेक्षया श्रुद्रजन्तुभवना-दिलक्षणस्थानस्य तृतीयत्वात्तरस्थानसंबन्धात्पापकर्माणस्तृतीयं स्थान-

मित्युच्यन्ते। तेनासौ लोको न संपूर्यते। तेन तृतीयस्थानशब्दितैः पापकमिनिरसौ द्युलोको न संपूर्यते न प्राप्यत इत्यर्थः। अत्रैतत्तृतीयं स्थानमित्येतच्छव्देन पूर्वनिर्दिष्टः पौनःपुन्येन जननमरणादिभवनलक्षण-धात्वर्थ एव परामृश्यते तस्यैव तृतीयस्थानत्वम्। ततश्रैतस्य तृतीय-स्थानस्य सद्भावादत्रैव स्थाने जीवानां प्रायेण प्रचाराद्युलोकगन्तृ-णामल्पत्वाद्युलोको न संपूर्यत इत्युक्तावि न भाष्यस्य विरोधः। अत एव द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोकासंपूर्तिवचनादिति भाषि-तमिति दृष्टव्यम्।

## तस्माज्जुगुप्सेत।

यस्मात्संसारिणां गतिरुक्तरीत्या कष्टतरा तस्मात्संसाराज्जुगुप्सेत । मा भूनम एवंविधसंसारमहोक्धौ पात इति निन्देदित्यर्थः ।

मुक्तिफलकपश्चाग्निविद्यास्वरूपज्ञानस्य फलान्तरं वक्तमाह— तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

तच्छन्दः प्रसिद्धपरः । एप वक्ष्यमाणः श्लोक इत्यर्थः ॥ ८ ॥ स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिव श्र्य गुरो-

स्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति च-त्वारः पञ्चमश्राऽऽचर स्तीरिति ॥ ९ ॥

तैराचरन्स्तेनादिभिश्चतुर्भिविद्यायोनिसंबन्धमाचरन्नित्यर्थः । शिष्टं रषष्टम् ॥ ९ ॥

> अथ ह य एतानेवं पञ्चाभीन्वेद न सह तैरप्या-चरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्य-लोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १०॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

स्तेनादिभिरुक्तमहापातिकिभिरपि सह संबन्धमाचरन्पाप्मना न लिप्यते पूर्वोत्तराघशून्यो भवतीत्यर्थः। द्विरुक्तिः प्रश्नप्रतिवचनसमाप्ति-

द्योतिका। एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकाण्यधिकरणान्युपन्यस्यन्तेऽर्चि-रादिपादे । 'कार्यं बाद्रिस्य गत्युपपत्तेः ' [ब० स्०४ । ३ । ७]। कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनानेवाचिरादिर्गणो नयतीति बाद्रिराचार्यो मन्यते । परिच्छिन्नप्राप्त्यर्थं हि गतिरुपपद्यते नापरिच्छिन्नपरब्रह्म-प्राप्तये । नह्याकाशं प्रेप्सता देशविशेषो गन्तव्यो भवति । 'विशे-पितत्वाच '[ ब॰ स्० ४।३।८] ' पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोका-न्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति ' [बृ० ६।२।१५] इति गन्तव्यस्य बहुवचनान्तलोकशब्देन विशेषितत्वात्परब्रह्मण एक-त्वेन बहुत्वासंमवाहोकशब्दस्य देशविशेष एव मुख्यत्वाच न परब्रह्म-णोऽचिरादिपाप्यत्वम् । ननु 'स एतान्बह्म गमयति' [ छा० ५।१०।२] इति नपुंसकलिङ्गबह्मशब्देन चतुर्मुखस्य कथं निर्देश इत्यत्राऽऽह— सामीप्यात्तु तद्यपदेश: ' [ ब० सू० ४।३।९ ]। 'यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वम् ' [ श्वे० ६।१८ ] इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन बह्मसामीप्या-द्वह्मशब्देनामुख्यया वृत्त्या चतुर्मुखस्य निर्देश उपपद्यत इति मावः। ननु हिरण्यगर्भस्य द्विपरार्धावसाने नाशात्तं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेरवर्जनीय-त्वात् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' [ छा० ४। १५।५ ] इत्यनावृत्तिप्रतिपाद्कश्चतिविरोधस्तत्राऽऽह- कार्यात्यये तद्-ध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ' [ब० स्० ४।३।१० ] ' ते बह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ' मु०३।२।६ ] इत्यभि-धानात्कार्यस्य बह्मलोकस्यात्यये तद्ध्यक्षेण बह्मणा सहातो बह्मलो-कात्परं ब्रह्म प्राप्नोति । अतश्चानावृत्तिश्रुतिरुपपद्यत इति भावः । 'स्मृतेश्च' बि० सु० ४।३।११ ]

> बह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशान्ति परं पद्म् ॥

इति स्मृतेश्चायमथाँऽवसीयते । ' परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ' [ ब० सू० ४।३।१२ । नपुंसक छिङ्गबह्मशब्दस्य परस्मिन्बह्मण्येव मुख्य-त्वात्परमेव ब्रह्माचिरादिः प्रापयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तस्य परिपूर्णत्वेऽपि 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ' छा० ८ । ३ । ४ ] इति श्रुत्यनुसारेण निःशेषाविद्यानिवृत्तेर्देशविशेषविशिष्ट-बह्मप्राप्तिसापेक्षत्वाद्देशविशेषविशिष्टबह्मप्राप्तये गतिरुपपद्यते । लोक्यत इति व्युत्पत्त्या लोकशब्दोऽपि बह्मण्युपपन्नः । बहुवचनमप्येकस्मिन्नुप-

चारात्प्रयुज्यते । 'दुर्शनाच्च ' [ ब० सू० ४ । ३ । १३ ] । दुर्शयति च श्रुतिर्बह्मप्राप्तेर्गतिसापेक्षत्वम् । 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ' [ छा० ८। ३। ४ ] इति। ननु 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये '[ छा० ८।१४।१]। इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्यप्रजापतिविषयाभिसंधिर्दृश्यते तत्राऽऽह-' न च कार्ये प्रत्यभिसंधिः ' [ ब० सू० ४। ३। १४ ]। नायं प्रत्यभिसंधिः कार्यहिरण्यगर्भविषयोऽपि तु परब्रह्मविषयः। तस्यैव प्रजापतिशब्दमुख्य-वाच्यत्वात् । उत्तरत्र 'यशोऽहं भवामि बाह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् '[ छा० ८। १४। १ ] इति सर्वाविद्याविमोकपूर्वकसर्वा-त्ममावाभिसंधानात् 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखा-त्प्रमुच्य धृत्वा शरीरमक्कृतं कृतात्मा बह्मलोकमभिसंभवामि ' छा० ८ । १३ । १) इति ब्रह्मलोकस्याकृतत्वेन विशेषितत्वाच परमेव ब्रह्माचिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते । 'अप्रतीकालम्बनान्नय-तीति बाद्रायण उमयथा च दोषात्तत्कतुश्च ' [ ब० सू० ४ । ३ । १५ ] अबह्मभूतं नामादिकं ये ब्रह्मत्वेनोपासते ते प्रतीकालम्बनास्तद्भि-न्नान्, प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकत्वेन ये पञ्चाग्निविद् उपा-सते, ये च केवलं परं ब्रह्मोपासते तानुभयविधानपि नयतीति बाद्रायण आचार्यों मन्यते । केवलं परमेवोपासीनान्नयतीति पक्षे कार्यमुपासी-नान्नयतीति पक्षे च ' तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये '[छा० ५ । १० । १] इति श्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । ननु पञ्चाग्निविद्याया बह्मात्मकप्रत्यगात्मः विद्यात्वे किं प्रमाणं तत्राऽऽह-तत्क्रतुश्चेति । पञ्चाग्निविद्याया बह्मवि-द्यात्वाभावेऽचिरादिगतिर्वा तया गत्या ब्रह्मप्राप्तिर्वा न स्यात्तत्कतुन्या-यविरोधप्रसङ्गात् । ब्रह्मविद्यात्वे तु तत्क्रतुन्यायोऽप्यनुगृहीतो भवति । इयांस्तु विशेष:-पश्चाग्निवद्या ब्रह्मात्मकस्वात्मविद्या। दृहरादिवि-द्यास्तु प्रत्यगात्मशरीरकपरमात्मविद्याः । विशेषणविशेष्यभावे परं व्यत्यासः । अयं तु भगवतो बाद्रायणस्य सिद्धान्त इति स्थितम् । तथा लोके यामादिगन्तूणामिमं वृक्षं गत्वेमां नदीं गत्वाऽयं यामो गन्तव्य इति तत्तद्देशिकोपदेशस्व ऋपत्वाद्स्यापि वाक्यस्याचिराद्यो मार्गचिह्नभूताः । अथ वा 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम् ' [कौ॰ १।३] इति लोकशब्दश्रवणाद्धिराद्या भोगभूमय इत्येवं पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' आतिवाहिकास्ति हिङ्गात् ' [ ब० सू० ४।३।४ ] इति ।

विद्यामतिवाहे परमपुरुपेण नियुक्ता देवताविशेषा आतिवाहिका गन्तृणां गमयितार इति यावत् । तिलङ्कात् । 'तत्पुषोऽमानवः स एनान्बह्म गम-यति' [ छा० ५। १०।२ ] इति वैद्युतपुरुषस्य गमयितृत्वसिद्धवत्कारेण बह्मगमयितृत्वमात्रविशेषप्रतिपाद्नपरेंण वाक्येनेतरेऽपि गमयितार इति प्रतीते: । अर्चिरादिशब्दानां च ' अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगति-भ्याम्, [ ब० सू० २ । १ । ५ ] इति सूत्रेण तद्भिमानिदेवतापरत्वसं-मवात् । ननु वैद्युतपुरुषस्यैव ब्रह्मगमियतृत्वे विद्युत ऊर्ध्वं कौपीत-किवाक्यानुसारेण निवेशितानां वरुणेन्द्रप्रजापतीनां कथं संबधस्त बाऽऽ-ह-'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रूतेः, [ ब० स्र० ४ । ३ । ६ ] ततो विद्युत उपरि वैद्युतेनैव ब्रह्मप्राप्त्यतिवाहनम् । ' स एनान्ब्रह्म गमयति '[ छा० ५ । १०। २] इति श्रुतेर्वरुणाद्योऽपि तद्नुयाहका भवन्तीति द्रष्टव्यमिति स्थितम् । तथा वैराग्यपादे लोकान्तरं गच्छतो जीवस्य देहारम्भकभूत-सूक्ष्माणां तत्रैव सुलभतया न भूतसूक्ष्मपरिष्वक्ततया गमनमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' [ व० सू० ३। १। १। ] पूर्वत्र 'संज्ञामूर्तिक्लिप्तिः ' [ व० सू० २। ४। २०। ] इति सुत्रे मूर्तिशब्देन निर्दिष्टो देहस्तच्छब्देन परा-मृश्यते । तदन्तरप्रतिपत्ती देहान्तरप्रतिपत्त्यर्थं जीवो मृतसूक्ष्मैः परिष्वक्त एव रहित गच्छतीत्यर्थः । पञ्चाशिविद्यायां ' वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषयचसो भवन्ति ' [ छा०। ५ । ३।३। ] इति पञ्चस्वप्याहुतिष्वप्छान्दितानां भूतसूक्ष्माणां हूयमानतया संबन्धं सिद्धवत्कृत्वैवापां पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुपवचसो मवन्तीति कथं वेत्थेति प्रशाद्द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुपयोपिदूपेष्वग्निष्वापः श्रद्धासोमवृष्ट्य-न्नरेतोरूपेण हूयमानाः सत्यः पश्चम्यां रेतआहुतौ पुरुपाकारेण परि-णमन्त इति प्रतिवचनद्रशनाचाष्छाब्दितभूतसूक्ष्मपरिष्वक्त एवाऽऽरोहा-वरोहयोः संभवतीति भावः। नन्वापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यपामेव पुरुष-वचस्त्वं प्रतिपाद्यते न भूतान्तराणामिति तत्राऽऽह--'त्र्यात्मकत्वातु भूयस्त्वात् ' [ ब० सू० ३ । १ । २ । ] तुशब्दश्चोद्यव्यावृत्त्यर्थः । केव-लानामपां देहारम्भकत्वासंभवेन ज्यात्मकत्वाद्ण्छन्द्रो भूतान्तरस्याप्युप-लक्षकः । तर्हि कुतोऽप्छब्देन निर्देश इत्यत्राऽऽह—भूयस्त्वात् । तेजो-बन्नलक्षणभूतत्रयमध्ये देहस्य रोहितपचुरतयाऽपां भूयस्त्वादप्छब्देन निर्देश इति भावः । ' प्राणगतेश्च ' [ त्र० सू० ३ । १ । ३ । ] ' तसु-

दक्कामन्तं प्राणोऽनूत्क्कामित प्राणमनूत्क्कामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्कामिन्तं ' [ बृ० ४ । ४ । २ । ] इतीन्द्रियाणामिष सहगतिश्रवणात्, भूतसूक्ष्म-परिष्वक्कतया जीवगमनाभावे निराश्रयाणामिन्द्रियाणां गमनासंभवा-द्भृतसूक्ष्मपरिष्वक्कस्यैव गमनमभ्युपगन्तव्यम् । स्मर्यते च—

# गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् । इति ।

इन्द्रियाणां च नयनस्य स्मरणात्तेषां चाऽऽश्रयतया भूतसूक्ष्माणां गतिरभ्यूपगन्तव्या । 'अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्, बि० सू० ३ । १ । ४ वत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याभिं वागप्येति वातं प्राणश्रक्षरा-दित्यम्, [ बृ० ३। २। १३ ] इत्यादिना प्राणानां मरणकालेऽग्न्यादि-ष्वप्ययथवणात्र प्राणानां जीवेन सह गतिः संभवतीति चेन्न । अग्न्या-दिष्वप्ययश्रवणस्य भाक्तत्वात् । 'ओषधीर्लीमानि वनस्पतीन्केशाः' ष्ट्रिं ३।२।१३ ] इति लोमकेशानामप्योपधिवनस्पत्यप्ययथवणा॰ त्तस्य च प्रत्यक्षबाधितत्वेन, भोपधिवनस्पतिषु लोमकेशाप्ययस्य भाक्तत्व-स्याभ्युपगन्तव्यत्वात्, तत्सहचरितानामग्न्यादिषु वागाद्यप्ययानामपि भाक्तत्वमेव । ततश्चामिं वागप्येतीत्यस्यायमर्थः—'अमिर्वाग्मृत्वा मुसं प्राविशत्' [ऐ०२।४।] इत्यमेर्वागधिष्ठातृतया मुखप्रवेशप्रतिपाद्ना-न्मरणकालेऽभिभियमाणपुरुपवागधिष्ठातृतां परित्यज्यानधिष्ठातृरूपेण वर्तत इत्यर्थः । ' प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ' [ ब० सू० ३।१।५]। यदुक्तं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां द्युपर्जन्यादिषु भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्यैव जीवस्य गमनमिति तन्नोपपद्यते। प्रणव एव विस्वर इति न्यायेन प्रथमाहुतावेव ' तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति ' [ छा० ५।४। २ ] इति प्रथमपर्याये श्रद्धाया एव होम्यत्वश्रवणेनाष्छन्दितभूतसू-क्ष्माणां होम्यत्वाश्रवणादिति चेन्न । यदि प्रथमे पर्यायेऽष्छिब्द्तव्यति-रिक्तायाः श्रद्धाया होम्यत्वं तर्हि प्रश्नप्रतिवचनयोरणां पश्चम्यामाहुता-विति निर्देशो नोपपद्यते, अपां पश्चमाहुतिसंबन्धो हि तदितराहुतिचतु-ष्टयसंबन्ध एवोषपद्यते । बुद्धिविशेषलक्षणश्रद्धाया आत्मनो निष्कृष्य होम्यत्वानुपपत्तेश्च । श्रद्धाशब्देनाऽऽप एवोच्यन्ते । 'श्रद्धा वा आपः ' ित सं० शहाटाश ] इति श्रुतेः । 'अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीते: ' [त्र० सू० ३।१।६] । द्युपर्जन्यादिषु प्रश्नप्रतिवचनवशाद्भूतसू-क्ष्माणां गमनसंभवेऽपि न तत्परिष्वक्तस्य जीवस्य गमनम् । अश्रुतत्वा-दिति चेंन्न । उत्तरत्र पितृयाणवाक्ये 'मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादा-

काशमाकाशाचन्द्रमसमेप सोमो राजा '[छा०५। १०। ४] इति चुलोकं प्राप्तस्येष्टादिकारिणो जीवस्य सोमराजभावश्रवणाद्त्रापि 'तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ' [ छा०५।४।२ ] इति द्युलोकं प्रविष्टानां भूतसूक्ष्माणां सोमराजभावश्रवणाद्त्रापि ' आपः पुरुपवचसो भवन्ति । छा० ५।३।३] इत्यष्छन्देन न केवलं भूतसूक्ष्ममात्रमुच्यते, अपि तु तत्परिष्वक्तो जीवः । पुरुपशब्दाभि-लपनीयत्वमपि तत्परिष्वक्तस्य जीवस्यैव । ततश्राऽऽपः पुरुषवचसो भवन्तीत्यत्राबादिशब्दानां तत्परिष्वक्तजीवपरत्वाद्धृतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्यैव जीवस्य गमनं सिद्धम् । ननु 'तं देवा मक्षयन्ति ' [ छा० । ५ । १० । थ ] इति सोमराजभावं प्राप्तस्य भक्ष्यमाणत्वश्रवणाज्जीवस्यानद्नी-यत्वात्पितृयाणमार्गे सोमराजशब्दनिर्दिष्टो न जीव इत्यत्राऽऽह—'भाक्तं वाडनात्मवित्त्वात्तथाहि दुर्शयति ' [ ब० स० ३ । १ । ७ ] देवभ-क्ष्यमाणत्ववचनं भाक्तं केवलेष्टादिकारिणामनात्मवित्त्वात् । अनात्म-विदांच 'यथा पशुरेवं स देवानाम्।'[वृ०१। ४। १०] इति श्रुतिद्र्शनेन पशुबद्भोगोपकरणत्वात् ' तं देवा भक्षयन्ति [ छा० ५ । १० । ४ । ] इत्युक्तिरुपपद्यते । अतो भूतसूक्ष्मपरिष्वक्त एव जीवो गच्छतीति स्थितम् । समनन्तराधिकरणे ' यावत्संपातमुपित्वा ' छा० ५। १०। ५ ] इति संपातशब्दितसर्वकर्मफलस्य तत्रैवोपमोक्त-व्यत्वश्रवणात् । 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किचेह करोत्ययम् । तस्मा-होकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ' [बृ०४।४।६] इति बृहदा-रण्यके श्रवणात्सर्वं कर्मफलं भुक्त्वा निरनुशय एवावरोहित जीवः। अनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म । एवं पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' कृतात्ययेऽनुश-यवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ' [ ब० सू० ३ । १ । ८ ] कृतस्य कर्मणोऽत्ययेऽवसानेऽनुशयवानेव प्रत्यवरोहति जीवः । दृष्टस्मृतिभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् । ' [ छा० ५ । १० । ७ । ] इति श्रुते: । 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलक्षपायुःश्चतवृत्त-वित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विषरीता विनश्यन्ति [गौ० त० शा० ११। २९। ] इति स्मरणाच । अतः सानुशया एवावरो-हन्ति । ' यावत्संपातमुपित्वा ' [ छा० ५ । १० । ५ ] इत्यादिकं तु फलदानप्रकृतकर्मविशेषविषयम् । तत्र च ' अथैतमेवाध्वानं पुनर्नि-वर्तन्ते यथेतमाकाशम् । 'िछा० ५ । १०। ५ । ] इति अवणाद्यथाग-

मनं प्रत्यागमनम् । 'आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति ' [ छा० ५। १०। ५] इति अवणाद्नेवं च । येन प्रकारेण गतं तद्नयेन प्रकारेण चावरोहन्तीत्यर्थः । ' चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्णा-जिनिः ' [ ब॰ सू॰ ३ । १ । ९ ] ननु ' रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्। रें [छा०५। १०।७] इत्या-दिना सद्सचरणयोरेव सद्सद्योनिप्राप्तिहेतुत्वं श्रूयते । चरणमाचारः शीलं वृत्तमिति पर्यायाः । ततश्च 'रमणीयचरणाः ' इति श्रुतिवशाद-षरोहतां सदसद्योनिजन्महेतुभूतचरणशब्दिताचारानुवृत्तावपि न कर्म-शेपानुवृत्तौ प्रमाणमिति चेन्न । चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्णा-जिनिराचार्यो मन्यते । केवलाचरणशब्दितादाचारात्सुखदुःखहेतुभूत-योनिप्राप्त्यसंभवात् । 'आनर्थक्यमिति चेन्न तद्पेक्षत्वात् । ' [ ब॰ स्०३।१।१०] ननु संध्यावन्दनाद्याचारस्य सुखदुःखहेतुत्वामाव आनर्थक्यं स्यादिति चेन्न । तद्वेक्षत्वाद्ग्निहोत्रादिपुण्यकर्मणः ।

## संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।

इति श्रवणादाचारवत एव वैदिककर्मण्यधिकारात् । ' सुकृतदुष्कृते एवेति तु बाद्रिः ' [ ब० सू० ३।१।११ ] पुण्यं कर्माऽऽचरित पापं कर्माऽऽचरतीति सुकृतदुष्कृतकर्मसु चरतिशब्दप्रयोगाचर्यत इति चरणमिति व्युत्पत्त्या सुक्कतदुष्क्वते एव चरणशब्दाभिधेये। 'यान्यनव-द्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । यान्यस्माक सुचिरतानि तानि त्वयोपास्यानि ' [तै०१। ११। २] इति कर्माचारयोः पृथङ्निर्देशस्तु गोवलीवर्द्न्यायादुपपद्यते । वैतानिकानि तु कर्माणि कर्माणीत्युच्यन्ते । इतराणि त्वाचारशब्देनामिलप्यन्ते । अतश्चरणशब्देन सुकृतदुष्कृतयोरे-वाभिलाप इति बाद्रिराचार्यो मन्यत इति स्थितम् । तथा यथेतमाका-शमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्यादावाकाशादिभावोऽपि देव-मनुष्यादिभाववत्तच्छरीरकत्वलक्षण एवास्त्वित पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते— 'तत्स्वामाव्यापत्तिरुपपत्तेः।' [ त्र० सू० ३।१ । २२ ] तत्स्वा-भाव्यापत्तिराकाज्ञादिसाहक्यापत्तिरित्यर्थः । स्वभाव एव स्वामाव्यं वर्तमानसामीप्य इत्यादिवत्स्वार्थिक: ष्यञ् । ततस्तत्स्वाभाव्यापत्ति-स्तत्साहर्यापत्तिरित्यर्थः । चन्द्रमण्डले शरीरारम्भकाणां भूतसू-क्ष्माणां कर्मक्षये द्वीभूतानामाकाशगतानां भेदकाकारप्रहाणेनाऽऽका-शादिसाद्दरये तदुपश्लिष्टानुशयिनोऽप्याकाशसमा भवन्तीत्यर्थः । कुतः ।

उपपत्तेः । सुखदुःखोपभोगाय हि तच्छरीरसंसर्गः। न ह्यनुशयिनं प्रत्या-काशादेर्जीवान्तरशरीरभूतस्य तद्भोगाश्रयत्वमस्ति युगपद्भोक्तृद्वयस-मावेशे तयोः परस्परविरुद्धभोगार्थितया शरीरोन्मथनप्रसङ्गात् । न त्वव-रोहन्तो जीवा एव तत्तद्भिमानिदेवता भवन्तिवति चेन्न । सर्गाद्यकाल-मारभ्याऽऽप्रलयमाकाशाद्यभिमानिदेवतानामनुशयिभ्योऽन्यासां क्लप्तानां सत्त्वेनानुक्षणमवरोहतामनुशयिनामाकाशाद्यभिमानिदेवतात्वानुपपत्तिर-ति स्थितम् । तदुत्तराधिकरणे, आकाशपाप्तिप्रमृतियावद्गीह्यादिपाप्तिः किं तत्र तत्र नातिचिरं तिष्ठत्युतानियम इति । विशये नियम-हेत्वभावाद्नियम इति प्राप्त उच्यते—' नातिचिरेण विशेषात् ' [ ब० सू० ३। १। २३। ] आकाशादितो नातिचिरेण निष्क्रमणम् । कुतः । विशेपात् । उत्तरत्र बीह्यादिपाप्ती 'अतो वै खलु दुर्निष्पपतरम् । ' छि। १०।६ इति विशिष्यक्रुच्छ्निष्क्रमणाभिधानादिति स्थितम् । तदुत्तराधिकरणें 'बीहियवा ओएधिवनस्पतयस्तिलमापा इति जायन्ते ' [ छा० ५। १०।६ ] इत्यनेनानुशयिनां बीह्यादिभाव उच्यते । तत्र देवो जायते मनुष्यो जायत इतिवदिह तिलमाया इति जायन्त इति श्रवणा-द्वीह्यादिशरीरका एवानुशयिनो भवन्तीति प्राप्त उच्यते-'अन्याधिष्ठिते पूर्ववद्भिलापात् । '[ब०स्०३।१।२४] अवरोहतां जीवानां जीवान्तरा-धिष्ठिते बीह्यादी संश्लेपमात्रम् । कुतः । पूर्ववद्भिलापात् । 'आकाशा-द्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति' [ छा० ५ । १० । ५ ] इत्यादावाकाशा-दिभावे हेतुभूतकर्मकीर्तनाभावाद्यथाऽऽकाशादिषु संश्लेपमात्रमेवं त्रीह्या-दिस्थावरभावहेतुभूतकर्भकीर्तनाभावादुत्तरत्रैव 'रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ' छि । १०। ७ ] इति बाह्मणादिभाव एव हेतुभूतस्य कर्मणः कीर्तनाद्बीह्यादौ जीवान्तराधिष्ठिते संश्लेपमाबमेव । 'अशुद्ध-मिति चेन्न शब्दात् ' [ ब० सू० ३ । १ । २५ ] इष्टादिकर्मणां पशुहिं-सामिश्रत्वाद्धिंसायाश्च न हिंस्यादिति निषिद्धत्वेनानिष्टसाधनत्वेन पाप-तया तन्मिश्रतया सुकृतकर्मणामशुद्धत्वात्सुकृतांशस्य फलं स्वर्गेऽनुभूय हिंसांशस्य स्थावरादिभावलक्षणं फलमवरोहन्ननुभवतु । ननु न हिंस्या-दिति निषेधो विहितक्रत्वर्थहिंसाव्यतिरिक्तहिंसाविषयोऽस्त्वित चेन्न । पुष्टचादिरूपेष्टसाधनघृतपानादौ मोहादिरूपानिष्टसाधनत्वस्य च दर्शनेनो-त्सर्गापवाद्न्यायस्यात्रानवतारात् । अतो यागाद्यनुप्रविष्टहिंसाफलत्वेन स्थावरभावोऽनुभोक्तव्य इति चेञ्च । प्रवर्तनानिवर्तनारूपविधिनिषेधयो-

रविरोधस्य वक्तमशक्यतया सति च विरोधे सामान्यविशेषन्यायेन निपेधस्य विहितहिंसाव्यतिरिक्तविषयत्वात् । वस्तुतस्तु यागीयपशुहिं-साया हिंसात्वस्यैवाभावात्। 'नवा उ एतन्त्रियसे न रिष्यसि' इति मन्त्र-वर्णाद्धिंसात्वाभावस्यैव प्रतिपादनात् । न रिष्यसि न हिंस्यस इति हि तस्यार्थः । ननु न रिष्यसीति मन्त्रवर्णाद्धिंसात्वामावाम्युपगमेन म्रिय-स इति मन्त्रवर्णात्तनमरणस्य मरणत्वमपि न स्यात्। ततश्च न म्रियस इतिवन्न रिष्यसीत्युक्तिरप्यौपचारिकीत्येवाऽऽश्रयणीयं मरणोद्देश्यकमर-णानुकूलव्यापारत्वस्यैव हिंसात्वरूपत्वाविति चेन्न । मर्णोद्देश्यकम-रणानुकूलच्यापारत्वं हिंसात्वय् । कशाताडनतप्तसंदंशिनीपाटनक्रक-चदारणादीनां मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वामावेन हिंसात्वामा-वप्रसङ्गात् । अतस्तीबदुःखजननौपयिकव्यापारत्वस्यैव हिंसापद्प्रवृत्तिनि-मित्तत्वे वक्तव्ये वणाविचिकित्सके तादात्विकतीववेदनोत्पादके हिंस-कत्वव्यपदेशाभावेन बलवत्ताद्धिताजनकत्वे सति तद्वेदनाजनकव्यापारत्वं तद्धिंसात्वमित्याश्रयणीयम् । ततश्च वणचिकित्सया जायमानस्याऽऽरो-ग्यरूपहितस्य तादात्विकवेदनापेक्षया बलवत्त्वान्न हिंसात्वमिति स्थिते पशुमरणानुकुलन्यापारस्य पशुवेवनाजनकत्वेऽपि स्वर्गप्राप्त्यादिलक्षणस्य पशुहितस्य बलवन्दास्न हिंसात्वम् । अतो न हिंस्यादितिनिपेधाविषय-त्वात्कत्वर्थपशुहिंसाया न पापजनकत्वमिति तद्वशेनावरोहतोऽनुशयिनो न बीह्यादिभावापितिरिति। 'रेतःसिग्योगोऽथ' [ब० सू० ३। १। २६] इतश्रीपचारिकं बीह्यादिजन्मवचनम् । बीह्यादिभाववचनानन्तरं 'यो यो हाजमित यो रेत: सिञ्चिति तद्भूय एव भवति' [छा०५।१०।६] इति रेतःसिग्भावोऽनुश्चिनां श्रूयमाणो यथा न मुख्य एवं बीह्यादिमा-वोऽपीत्यर्थः । ' योनेः शरीरम् ' [ ब० सू० ३ । १ । २७ ] योनिप्राप्तेः पश्चादेवानुशयिनां बाह्मणादिशरीरप्राप्तिश्रवणात्ततः प्राङ्न शरीरपरि-यहः किंतु संश्लेपमात्रम् । पुण्यापुण्यकर्मणी तत्रैव सुखदुःखे । यत्र सुखदुः खे तत्रैव तद्धेतुभूतं शरीरम् । ततश्चाऽऽकाशादिषु कर्मकीर्तना-भावेन तत्कलभूतसुखाद्यनुभवाभावान्न तद्धेतुभूतं शरीरमिति न योनि-प्राप्तः प्राक्छरीरपरिश्रह इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ १० ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य दृशमः खण्डः ॥ १० ॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुपि-रिन्द्युन्नो भाह्रवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाश्सां चकुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

उपमन्युसुतः प्राचीनशालनामा पुलुषसुतः सत्ययज्ञनामा भालविसुत इन्द्रद्युम्ननामा शर्कराक्ष्यसुतो जननामाऽश्वतराश्वसुतो बुडिलनामा त एते पञ्चापि महाशाला महागृहस्थतया विस्तीर्णशालासंपन्नाः प्रसिद्धा इति यावत् । महाश्रोत्रिया अतीव श्रुताध्ययनसंपन्नाश्चैकत्र संभूयाऽऽ-स्माकमन्तर्यामितयाऽऽत्मभूतं ब्रह्म किमिति विचारं क्रुतवन्त इत्यर्थः॥१॥

## ते ह संपादयांचकुः।

त एवं मीमांसित्वा निश्चयमलभमाना आत्मभूतब्रह्मोपदेष्टारं कंचि-त्संपादितवन्तो निश्चितवन्त इत्यर्थः । किमिति तत्राऽऽह-

> उदालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीम-मात्मानं वैश्वानरमध्येति तथ हन्ताभ्याग-च्छामेति तथ हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

हे भगवन्तः। अरुणस्रुत उद्दालकनामेदानीं वैश्वानरमात्मानमध्येति। इक् स्मरण उपास्त इत्यर्थः । यद्वा, इण् गताविति गत्यर्थानां ज्ञानार्थ-त्वादवगच्छतीत्यर्थः । तमुद्वालकमभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजगमुस्तमभ्या-गतवन्त इत्यर्थः॥ २॥

> स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्विभव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥३॥

स होद्दालकस्तानागतान्दृष्ट्वेते महाशाला महाश्रोत्रिया मां वैश्वान रमा-त्मानं प्रक्ष्यन्ति नाहं तत्सर्वं प्रतिपद्ये तेभ्यो वक्तं शक्तोमि। अतोऽन्यं तद्-भिज्ञं कंचिदुपिद्शानीत्येवं संपादितवान्निश्चितवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

## तान्होवाच ।

स उद्दालक औपमन्यवादीन्त्रत्याह । किमिति—
अश्वपतिर्वे भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं
वैश्वानरमध्येति तथ् हन्ताभ्यागच्छामेति ।
केकयस्यापत्यं कैकेयः । शिष्टं स्पष्टम् ।

तथ हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

तमश्वपतिमुद्दालकषष्ठास्तेऽभ्यागतवन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥ तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार । प्राप्तेभ्यस्तेभ्यो महर्षिभ्यः कैकेयः पृथक्षृथक्पूजां भृत्यैः पुरोहितादि-भिश्च कारितवान् ।

स ह पातः संजिहान उवाच।

अन्येद्युः प्रातःकाले स्वभवनं संजिहानस्त्यजन्, स्वभवनान्निर्गत्य तत्समीपमेत्येति यावत् । तान्महर्पीनुवाचेत्यर्थः । किमिति तत्राऽऽह— न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मयपो नानाहितान्नि-र्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽ-हमास्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भ-गवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥

हे भगवन्तः पूजार्हा मद्धिष्ठितं जनपदे चोरो वा दानजून्यो वा मद्यपायी वा सत्यां योग्यतायामनाहिताग्निर्वा वेदाध्ययनादिजून्यस्त्रैव- र्णिको वा परदारगन्ता वा पुंश्र्वली वा, एवमाद्या दुष्टा न सन्ति न हि तैर्द्त्तं धनमुपजीवामि । अतो मम प्रतिग्रहयोग्यताऽस्ति । अचिरेणैव कालेन यागं करिष्यामि । तत्र याग एकैकस्मा ऋत्विजे यावद्धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यः प्रत्येकं दास्यामि तावत्कालमत्रैव वसन्तु यागं च पश्यन्तिवति च प्राधितवानित्यर्थः । मगवता च माष्यकृता—न मे स्तेन इत्यादिना यक्ष्यमाणो ह वे भगवन्तोऽहमस्मीत्यन्तेनाऽऽत्मनो वतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव बह्मविद्धिर्पि प्रतिषिद्धस्य परिहरणीयतां विहितस्य कर्तव्यतां च प्रतिज्ञाप्य यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इत्यवोचिदिति मापितम् ॥ ५॥

ते होचुः

त ऋषयो राजानं प्रत्यूचुः । किमिति तदाह—
येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्त हैव वदेदात्मानमेवेमं
वैश्वानर संप्रत्यध्येषि तमेव नो बूहीति ॥ ६ ॥

येनार्थेन प्रयोजनेन यत्प्रयोजनमुद्दिश्य पुरुष आगच्छति तमेव पुरुषार्थं तस्य कुर्यात् । समीहितं हि कर्तव्यं भवति । अस्माकं वैश्वानर आत्मा जिज्ञासितव्यः । त्वं च तमात्मानमधुनोपास्से । न च ते तज्ज्ञानमपलाः पार्हं तमेव न उपिद्देश न प्रयोजनान्तरिमत्यर्थः । विश्वान्नरान्नयतीति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा विश्वानरः । विश्वानरः एव वैश्वानरः । रक्ष एव राक्षसः , वय एव वायस इतिवत् ॥ ६ ॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति।

तेपामभिमानं परिशोध्य श्वः प्रतिवचनं दास्यामीति मत्वा प्रातः प्रश्नस्य प्रतिवचनं कर्तास्मीत्युवाचेत्यर्थः ।

ते ह समित्पाणयः पूर्वाक्के प्रतिचकमिरे।

ते च राज्ञोऽभिषायज्ञाः समिद्धारहस्ता अपरेद्युः पूर्वाह्वे राजानं शिष्यमावमेत्योपागतवन्तः ।

तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

राजा तु तान्समित्याणीनुपयामेति वद्तस्त्यक्तस्वजात्यभिमानानुद्वीक्ष्य तेषामुपदेशयोग्यतां ज्ञात्वाऽबाह्मणेन न ब्राह्मण उपनेतव्य इति
शास्त्रार्थं ज्ञात्वा ते: समर्पितं समिदाद्युपायनमस्वीकृत्येव मैड्येवैतद्वक्ष्यमाणमुवाचेत्यर्थः। यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो
महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्धारहस्ता जातितो हीनं राजानं
विद्यार्थितयोपजग्मुस्तस्मात्तथाऽन्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवितव्यमित्याख्याः
यिकया सुच्यते॥ ७॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्यै-कादशः खण्डः ॥ ११ ॥ अथ कैकेयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षिर्विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किंचिज्ज्ञातं किंचिव्ज्ञातमिति विज्ञाय ज्ञातांशबुभु-त्सया तानेकैकशः प्रष्टुमुपक्रमते । तत्रौपमन्यवं पृच्छति—

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच ।

हे भगवः, द्युलोकशरीरकं वैश्वानरमहमुपास्स इत्युवाचेत्यर्थः । कैकेय आह—

एष वे सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से ।

यं युलोकावच्छिन्नं वैश्वानरमात्मानं त्वमुपास्से, एष वैश्वानर आत्मा सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य स सुतेजाः। युलोको हि सूर्य-चन्द्रादितेजोयुक्ततया सुतेजा भवति । यतश्च युलोकावच्छिन्नवैश्वानर आत्मा त्वयोपास्यमानः सुतेजस्त्वगुणयोगेन सुतेजोनामा वैश्वानरः ।

तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

अत्र सुतप्रसुतास्रतशब्दा एकाहाहीनसत्रकर्मगताभिषवणपराः सुत-शब्दवत्त्वसाम्यात् । सुतेजस्त्वोपासनायाः सुतादिफलकत्वोपपत्तिः॥ १॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् ।

तदुपासनावैभवेनान्नं लौकिकं मोग्यमनुमवसि प्रियं पुत्रादिकं च पश्यसीत्यर्थः । एवमन्योऽपि यस्त्वमिव त्वदुपास्यवैश्वानरमुपास्ते सोऽपि त्वमिवान्नादनप्रियद्र्शनब्रह्मवर्चसशालिसंतानवांश्च भवतीत्याह—

अत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य बह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते ।

उक्तोऽर्थः। एवं तदुक्तमर्थमङ्गीकुर्वन्निव फलद्र्शनेन तमभिमुखीकृत्य तत्र वक्तव्यमंशमुपद्शिति—

> मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥२॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्वया वैश्वानरबुद्धचोपास्यमान एप द्युलोकः परिच्छिन्न आत्मनों वैश्वानरस्याऽऽत्मनो मूर्धाऽवयवभूतो न तु स एव वैश्वानर आत्मा।एत-दर्थनिर्णयार्थं तव मत्समीपानागमने तत्र वैश्वानरात्ममूर्धरूपावयवभूते द्युलोके कृत्स्रवैश्वानरबुद्धिं कुर्वतस्तव विपरीतविद्यावशादनर्थः स्यात्। अतः साध्वकार्पीर्यतो मामागतोऽसीत्यभिषायः॥ २॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य

द्वाद्शः खण्डः॥ १२॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौळुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति।
प्राचीनयोग्येति सत्ययज्ञस्य नामान्तरम् ।
आदित्यमेव भगवो राजिनिति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुळे दृश्यते ॥ १ ॥
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुळे य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुञ्चेतदात्मन इति
होवाचाऽन्धो भविष्ययन्मां नाऽऽगिमिष्य इति ॥२॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
न्रयोदशः खण्डः ॥ १३॥

रूप्यत इति रूपं विश्वं रूपं प्रकाश्यं यस्य स विश्वरूपः । आदि-त्यस्य विश्वप्रकाशकत्वाद्विश्वरूपत्वम् । एतदुपासनात्तव कुले बहु विश्व-रूपं विश्वप्रकाशकं पुत्ररत्नादिकं दृश्यते । अश्वतरीभिर्युक्तो रथोऽश्वत-रीरथः । प्रवृत्तस्त्वामनुवृत्तः । दासीभिर्युक्तो निष्को हारः । दासीनिष्क-स्त्वामनुष्रवृत्तः । शिष्टं पूर्ववत् ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ होवाचेन्द्रयुन्नं भाल्वयेयं वैयाघ्रपय कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजिति
होवाचेष वै पृथ्यवर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मान्त्वां पृथ्यवलय आययन्ति पृथ्यथ्रथेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥
अत्स्यनं पश्यसि भियमन्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य बल्लवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त
उदक्रमिष्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

अथ होवाच जन शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमु-पास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवा-चैप वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमु-पास्से तस्मान्त्वं बहुले। ऽसि प्रजया च धनेन च॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमन्यन्नं पश्यति प्रियं भव-त्यस्य त्रसर्वासं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर- मुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्ययन्मां नाऽऽग्मिष्य इति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः॥ १५॥

भूतान्तरेभ्य आकाशस्य महत्त्वाद्भृतुलत्वम्। संदेहो मध्यकायः। मध्य-कायो ह्युत्तरापरकाययोः कानुप्रविष्ट इति संदिह्यमानत्वात्संदेह इत्यु-च्यते । व्यशीर्यद्विशीर्णोऽभविष्यत् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य पञ्चद्शः खण्डः॥ १५॥

> अथ होवाच वुडिलमाश्वतराश्वि वैयाघपय कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजित्रिति होवाचेष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमा-त्मानमुपास्से तस्याच्यः रियमान्पृष्टिमानसि ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यासि नियमस्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य बहावर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच विस्तिस्ते व्यभेत्स्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः ॥ १६॥

अपां वेगत्वाद्वयित्वम् । विसर्गश्छान्द्सः। धनप्राप्तिहेतुत्वाद्वा रियत्वं रियमान्धनवानित्यर्थः । बस्तिर्मूबस्थानं शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायां पश्चमपपाठकस्य पोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणि गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति प्रथिवीमेव भगवो राजिनित होवाचैष
वै प्रतिष्ठाऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मान्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्व ॥ १ ॥
अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वेश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ
ते व्यम्लास्येतां यन्मां नाऽऽगिमिष्य इति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७॥

प्राण्याधारत्वातपृथिव्याः प्रतिष्ठात्वम् । व्यम्लास्येतां म्लानौ श्लथा-वभविष्यतां शिष्टं स्पष्टम् ॥ १॥ २॥

> इति च्छादोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य सप्तद्शः खण्डः ॥ १७॥

> > तान्होवाच ।

अथ राजा तानृपीन्पुनरुवाचेत्यर्थः।

एते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वा स्सोऽन्नमत्थ।

एतादृशा यूयिममं वैश्वानरमात्मानं पृथिगिव विद्वांसो भिन्नभिन्नतयो-पासीनास्तदानुरूप्येण लौकिकं भोगमनुभवथ । पूर्वत्रात्स्यन्नं पश्यसीति प्रतिपुरुषमुक्तस्यात्रात्थेति बहुवचनेन निर्देशः । अत्रान्नमत्थेत्येतिष्रयं पश्यथेत्यस्याप्युपलक्षणम् ।

यस्त्वेतमेवं पादेशमात्रमभिविमानमात्मानं

वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

सर्वाभिव्याप्ततया विगतमानं विश्वेषां नराणां नेतारमेतमात्मानं पादेशमात्रं युलोकादिपदेशसंबन्धिनी पादेशी । पादेशी मात्रा यस्य तं युप्रभृतिपदेशपरिच्छिन्नं य उपास्ते स सर्वछोकसर्वभूतसर्वातमवर्तिबह्म-रूपमन्नमत्ति । अनुभवतीत्यर्थः । अनेन वैश्वानरोपासनस्य बह्मप्राप्ति-फलकत्वमुक्तं भवति । भगवता भाष्यकृता—सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु च वर्तमानं यदन्नं भोग्यं तद्ति । सर्वत्र वर्तमानं स्वयमेवानवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्येरा-त्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नं भुज्यते तन्भुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यत इति भाषितम् । अत्र 'प्रादेशमात्रभिव ह वै देवाः सुविदिता आभिसंपन्नास्तथा न व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपाद्-यिष्यामीति । स होवाच । सूर्धानमुपद्शिसुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वा-नर इति । चक्षुपी उपिदशस्त्रवाचैप वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपिद्शस्त्रवाचैप वै पृथग्वतमाऽऽत्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुप-दिशस्त्रवाचैष वै बहुलो वेश्वानर इति । सुख्या अप उपदिशस्त्रवाचैष वै रियर्वेश्वानर इति । चुबुकमुपिद्शस्त्रवाचैप वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति ' [ शत० १०। ६। १। १०। ११] इति वाजसनेयकोक्तमूर्धचुबुकान्त-रालप्रतिष्ठितत्वलभ्यं प्रादेशमाञ्चत्वं नोपजीव्यं सुप्रभृतिप्रदेशसंबन्धित्व-मात्रस्य यौगिकार्थस्य प्रकरणतः प्रतीतेः । उक्तं च व्यासार्यैः सर्ववेदा-न्तप्रत्ययाधिकरणे—यस्त्वेतमिति न वाजसनेयिकोक्तानुवादः, स्वशा-खावाक्य एव पूर्वप्रतिपादितस्यानुवादेन फलसमर्पकत्वोपपत्तेरिति । न चापरिच्छित्रस्य परस्य बह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसंबन्धिन्या मात्रया कथं परिच्छिन्नत्वमिति चोदनीयम् । परिच्छिन्नत्वे बुद्धिसौकर्य-लक्षणाभिव्यक्तेः संभवात् । सूत्रितं च 'अभिव्यक्तेरित्याइमरथ्यः ' [ ब० सू० १। २। २९ ] इति । बुद्धिसौकर्यलक्षणाभिव्यक्तेईतोरभि-विमानस्यापि ब्रह्मणः प्रादेशमात्रत्वमुपदिश्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यत इति सूत्रार्थः । अभिव्यक्त्यर्थं परिच्छिन्नत्वोपदेशेऽपि मूर्धप्रभृत्य-वयवविशेषै: पुरुपविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति न चोद्नीयं तथोपासनार्थत्वात् । सूत्रितं च ' अनुस्सृतेर्वाद्रिः ' [ ब० सू० १ ।

२। ३० ] इति । अनुस्यृतिरुपासनम् । अनुस्यृतेर्हेतोः पुरुपविधत्वनि-रूपणमिति वाद्रिराचार्यो सन्यत इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

अथ प्राणाहुत्याधारत्वत्रिविधाग्नित्वपरिकल्पितजाठराग्निश्रिरक्युमूर्थत्वादिविशिष्टात्मभाविते स्वशरीरे क्रियमाणप्राणाद्याहुतिभिवेश्वानरविद्यानिष्ठेन परमात्मा समाराधनीय इति प्रतिपादयति—

तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्रक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वत्मां संदेहो बहुलो बस्तिरेव रियः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलोमानि बर्हिहदयं गाईपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः॥२॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्या-

ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

एतस्याऽऽत्मन उपासकस्याऽऽत्मनो मूर्भेव तस्यं वैश्वानरस्य ' मूर्भा त्वेष आत्मनः '[ छा॰ ५ । १२ । २ ] इति वैश्वानरात्ममूर्धत्वेन निर्दिष्टः सुतेजा इत्यर्थः । न चात्र तस्य ह वा एतस्येति पद्योः सामा-नाधिकरण्यमेवास्तु न त्वेतस्येति शब्दस्योपासकपरामर्शित्वमिति शङ् क्यम् । उर एव वेदिरित्यादाबुवासकोर:परामर्शस्यावश्यंभावात् । मूर्धै-वेत्यत्राप्युपाकस्य मूर्वेव पराष्ट्रक्यते । तस्यादेतस्येति शब्दस्योपासकपर-त्वमेव सिद्धम् । इह ।हि भगवता भाष्यकृता 'आमनन्ति च' [ ब०सू० १।२।३२ ] इति स्वव्याख्याने—एवं पुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वा-नरमस्मिन्नुपासकशारीरे प्राणाहुत्याधारत्वायाऽऽमनन्ति च 'तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य सूर्धेव सुतेजाः ' [ छा० ५ । १८ । २ ] इत्यादिना । अयमर्थ:—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वेश्वानरमुपास्ते ' [ छा० ५ । १८ । १ ] इति जैलोक्यशरीरकस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय सर्वेषु लोकेष्वित्यादिना ब्रह्मप्रा-प्तिफलमुपदिश्यास्यैदोपासनस्याङ्गभूतं प्राणाभिहोत्रं तस्य ह वा एत-स्येत्यादिनोपदिशति । यः पूर्वमुपास्यतयोपहिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभू-तान्द्य्वादित्यादीन्सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासकशरीरे मूर्घादिपा-दान्तेषु संपाद्यति । सूर्धेव सुतेजा उपासकस्य मूर्धेव परमात्ममूर्धभूता

द्यौरित्यर्थ: । चक्षुर्विश्वरूप: । आदित्य इत्यर्थ: । प्राण: प्रथम्बरमा । वायुरित्यर्थः । संदेहो बहुलः । उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्य-कायभूताकाश इत्यर्थः । बस्तिरेव रियः । अस्य बस्तिरेव तदवय-वमूता आप इत्यर्थः । पृथिव्येव पादौ । अस्य पादावेव तत्पा-द्भूता पृथिवीत्यर्थः । एवमुपासकस्य शरीरे परमात्मानं बैलोक्यशरी-रकं वैश्वानरं संनिहितमनुसंधाय स्वकीयान्युरोलोमहृद्यमनआस्यानि प्राणाहृत्याधारस्य परमातमनो वैश्वानरस्य वेदिवर्हिर्गार्हपत्यान्वाहा-र्यपचनाहवनीयान ब्रिहोत्रोपकरण भूतान्परिकल्प प्राणाहुतेश्वाबिहोत्रत्वं परिकल्प्यैवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति ' उर एव वेदिलोंमानि बर्हिह्दयं गार्हपत्यः ' इत्यादिनोपदिश्यत इति भाषितम् । उरःप्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशश्च प्राणाहृतेरग्निहोत्रत्वसंप-च्यर्थ इति 'संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दुर्शयति' वि सु० १।२।३ ] इति सूत्रितस्। 'स य इद्मविद्वानिभिहोत्रं जुहोति ' [छा० पार्थार्] इति दशिताग्निहोत्रत्वसंपत्तेर्हेतोर्वेद्यादित्वोपदेश इति जैमिनिर्मन्यत इति सूत्रार्थः । हृद्यं गार्हपत्यः । हृद्यकमलावच्छिन्नजाठराग्निर्गार्ह-पत्यः । मनोऽन्वाहार्यपचनः । मनइन्द्रियावच्छिन्नजाठराग्निर्दक्षिणाग्निः । आस्यमाहवनीयः । आस्यावच्छिन्नजाठराग्निराहवनीय इत्यर्थः । गार्ह-पत्यादिपरिकल्पनस्य सजातीयजाठर एवोचितत्वाहैश्वानरस्य हृदयादि-स्थरपाग्नित्रयकल्पनं क्रियत इति भाषितत्वाचोक्त एवार्थः । अत्र च हृद्यादिशब्दास्तद्वचिछन्नजाठराग्निशरीरकपरमात्मपर्यन्ता इति द्रष्ट-व्यम् ॥ २॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्याष्टा-द्शः खण्डः ॥ १८ ॥

> > तयद्भक्तं प्रथममागच्छेत्रद्धोमीयम् ।

तत्तस्य पुंसो यद्धकं यद्श्नं भोजनकाले प्रथमत आगच्छेत्तद्धोमीयं होमसाधनं तेन होतव्यमित्यर्थः।

स यां प्रथमासाहुतिं जुहुयात्तां जुहुया- त्याणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

पाणाय स्वाहेति प्रथमायामाहुतौ हुतायां प्राणस्तृत्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

प्राणे तृष्यति चक्षुस्तृष्यति चक्षुषि तृष्यत्या-दित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किच यौश्वाऽऽदित्यश्वाधितिष्ठत-स्तचृष्यति तस्यानु तृप्तिं तृष्यति प्रजया पशु-भिरन्नायेन तेजसा बहावर्चसेनेति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्यैकोन-विंशः खण्डः ॥ १९॥

एवं प्राणे तृप्ते सति क्रमाचक्षुरादित्यों द्यौश्च तृष्यन्ति । ततश्च द्य्वादित्याभ्यामधिष्ठितं वस्तुजातं च तृष्यतीत्यर्थः । तस्मिन्सर्वसिंम-स्तृप्ते तस्य तृतिमनु प्रजापश्वादिभिर्होताऽपि तृष्यतीत्यर्थः । अत्र प्राण-चक्षुरादिशब्दास्तत्तद्भियानिदेवतापरा अचेतनानां तृप्तेरसंभवादिति। एवसुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्यैको-नविंशः खण्डः ॥ १९॥

अथ यां हितीयां जुहुयानां जुहुयाद्-व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥ व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृ-प्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यिकंच दिशश्च चन्द्र-माश्राधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति । इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य

विंशः खण्डः ॥ २०॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद-पानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति॥ १ ॥ अपाने तृष्यति वाक्तृष्यति वाचि तृष्यन्त्या-मिश्रस्तृप्यत्यश्रो तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृष्यन्त्यां यत्किच पृथिवी चाविश्वाधितिष्ट-तस्त चृष्यति तस्यानु तृषिं तृष्यति प्रजया पशुभिरन्नायेन तेजसा बह्मवर्चसेनेति । इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चनप्रपाठकस्यै-कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

अथ यां चतुर्थी जुहुयानां जुहुयात्स-मानाय स्वाहेति समानस्तृष्यति ॥ ३ ॥ समाने तृष्यति मनस्तृष्यति मनित तृष्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति दिशुनृप्यति वियुति तृष्यन्त्यां यत्किच वियुच पर्जन्यथा-धितिष्ठतस्तनृष्यति तस्यानु तृप्तिं तृष्यति प्रजया पशुभिरस्रायेन तेजसा बह्मवर्चसेनेति। इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य द्वाविंशः

खण्डः ॥ २२ ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जहुयादुदा-<mark>नाय स्वाहेत्युदानस्तृष्यति ॥ १ ॥</mark> उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्या- काशे तृष्यित यत्किच वायुश्वाऽऽकाशश्वा-धितिष्ठतस्तचृष्यित तस्यानु तृप्तिं तृष्यिति प्रजया पशुभिरस्नायेन तेजसा बस्नवर्चसेनेति॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पश्चमप्रपाठकस्य त्रयो-विंशः खण्डः ॥ २३॥

बह्मवर्चसेन तेजसा वृत्ताध्ययननिमित्ततेजसेत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पश्चमप्रपाठकस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

## स य इदमविद्वानिशहोत्रं जुहोति।

उरःप्रभृतीनामग्निहोंत्रोपकरणवेद्यादितामजानन्यः प्राणाग्निहोत्रमनु-तिष्ठतीत्यर्थः ।

यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्ताहक्तत्स्यात् ॥ १ ॥
तद्नुष्ठानं भस्माहुतिसमानं स्यादित्यर्थः । निष्फलमिति यावत् ॥१॥
अथ य एतदेवं विद्वानिमहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥
सर्वात्मकभगवद्गराधनेन सर्वमाराधितं भवतीति हुतप्रकर्षोक्तिः॥२॥

तयथेपीकातूलमभी मोतं मदूयेतैव श् हास्य सर्वे पाप्मानः मदूयन्ते य एतदेवं विद्वानिभहोत्रं जुहोति॥३॥

इपीकाया मुञ्जान्तर्वितृणविशेषस्य तूलमग्नौ प्रक्षिप्तं सद्यो द्ह्यत एवं सर्वाणि पापान्येतादृशविद्यापूर्वकपाणाग्निहोत्रानुष्ठानेन दृग्धानि भव-न्तीत्यर्थः । ब्रह्मोपासनफलस्य सर्वपापप्रदाहस्य प्राणाग्निहोत्रे कीर्तन- मङ्गिफलेनाङ्गस्य स्तुत्यर्थम् । ततश्चानेनापि प्राणाग्निहोत्रस्य वैश्वानर्-विद्याङ्गत्वं ज्ञापितं भवति ॥ ३ ॥

वैश्वानरिवद्यां स्तौति—
तस्मादु हैवंविययि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मिन हैवास्य तद्देश्वानरे हुत स्यादिति ।

उच्छिष्टप्रदानायोग्याय चण्डालायोच्छिष्टप्रदानमपि वैश्वानर आत्म-न्यन्नं जुहोमीति बुद्धचाऽनुष्ठितत्वान्नाधर्माय भवतीत्यर्थः ।

तदेष श्लोकः।

तदुक्तप्राणाग्निहोत्रविषय एप श्लोकः श्रूयत इत्यर्थः ॥ ४ ॥
यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवस सर्वाणि
भूतान्यभिहोत्रमुपासत इत्यभिहोत्रमुपासत इति॥५॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ५ ॥

यथा बुभुक्षिता बालाः कदा माताऽसं प्रयच्छतीति मातरं परित उपासत एवं सर्वाणि भूतान्येवंविदः प्राणाभिहोत्रमुपासत इति विदुषः प्राणाः
ग्रिहोत्रस्तुत्यर्थोऽयं श्लोक इत्यर्थः । द्विकक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयक्तमधिकरणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये—' यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' [छा० पा१८।१]
इत्यत्र श्रुतस्य वैश्वानरशब्द्स्य नार्थो निर्णेतुं शक्यः । 'अयमभिवैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमस्रं पच्यते' [बृ० पा९।१] इति वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नावि प्रयोगदर्शनात् ।' विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा
वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' [ऋ० सं० १०।८८।१२] इति भूततृतीयेऽपि
प्रयोगदर्शनात् ' वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्नीः ' [ऋ० सं० १।९८।१] इति देवतायामिष प्रयोगदर्शनात् 'तदा-

त्मन्येवासी वैश्वानरे पास्यति' 'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-रुद्यते' [प्र० १।७] इति परमात्मन्यपि प्रयोगद्र्शनाञ्चार्थौ निर्णेतुं शक्य इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते-'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् 'बि॰ सू॰ १।२।२४ विश्वानरः परमात्मा साधारणस्य विश्वानरशब्दस्य परब्रह्मा-साधारणैः 'को न आत्मा किं बह्म' [छा० ५।११।१] ' सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमात्ते [छा० ५।१८।१] 'तद्यथेषीकातूलम्मी प्रोतं प्रदूषेतैव र हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूषनते 'ि छा० ५।२४।३ ] इति वाञ्यश्चतात्मत्वबद्धात्वबद्धात्राप्तिफलकोपासनविषयत्वसर्वपापप्रदाहक-ः त्वादिधर्मैर्विशेष्यमाणत्वात्। 'स्मर्थमाणमनुमानं स्यादिति' [त्र०सू०१।२। २५ ] ' अग्निर्धर्धा चक्षुपी चन्द्रसूर्यी दिशः श्रोत्रे वाग्विवताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृद्यं विश्वमस्य पद्भवां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ' मि० २।१।४ ] इत्यथर्वणादिषु परमात्मसंबन्धितया निर्दिष्टं रूपमस्यां विद्यायां तदिइमिति स्मर्थमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्म-त्वेऽनुमानं ज्ञापकं स्यादित्यर्थः। अग्निरिह द्युलोकः। 'असौ वाव लोको गौतमाझिः ' [छा० ५।४।१] इत्यादिश्रुतेः 'शब्दादिश्योऽन्तःप्र-तिष्ठानाच नेति चेन्न तथा हृष्टचुपदेशाद्संभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ' [१।२।२६]। अञ्चिरहर्षे पैश्वानरप्रकरणे 'स एपोऽञ्चिंश्वानरो यत्पुरुपः' [ज्ञतप० बा० १०।६।१।११] इति वैश्वानरज्ञब्दसमानाधिकरणाग्निज्ञब्द-श्रवणाव्यित्रयपरिकल्पनपाणाहुत्याधारत्यक्षपजाठराशिलिङ्गाच । वाज-सनेयके-'स यो हैतमेवमझिं वैश्वानरं पुरुपविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' [ज्ञा०प०बा० १०।६।१।११] इति पुरुपान्तःप्रतिष्ठितत्वश्रवणाच जाठर एव भवितुमईतीति चेछ। परमात्मिलिङ्गानाभिह सत्त्वेनाग्निशब्दलिङ्गानां तच्छरीरकपरमात्योपासनपरतयाऽप्यपपत्तेः । तथा हृष्ट्युपदेशात् । तथोपासनस्योपदिष्टत्वादित्यर्थः । बैलोक्यशरीरकत्वादीनां च परमात्म-धर्माणां जाठरे संभवात्। वाजसनेयके-'स एपोऽग्निर्वेश्वानरो यत्पुरुषः ' [रा०प०ना० १०।६।१।११] इति पुरुषशब्दश्रवणात् ।

> भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरुषाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातने ॥

इति निरुपाधिकपुरुषत्वस्यान्यत्रासंभवाद्चेतने जाठराग्नौ सर्वात्म-नाऽसंभवाञ्च जाठराग्निः । 'अत एव न देवता भूतं च' [ब॰सू०१ । २ । २७ ] । उक्तरेव हेतुभिर्भूततृतीयदेवताविशेषयोरपि न प्रसक्तिरित्यर्थः ।

एवं सूत्रकारोऽभित्रयपरिकल्पनादिजाठराग्न्याद्यनम्यथासिद्धलिङ्गैः 'प्रा-णस्तथाऽनुगमात् ' [ ब० सू० १ । १ । २८ ] इत्यधिकरणोक्तन्यायेन जाठराबिविशिष्टः परमात्मैवेहोपास्य इति तथा हष्ट्युपदेशादिति सूत्र-खण्डेन सिद्धान्तमाविष्क्रत्य लिङ्कान्यथासिद्धि संभावयतो जैमिनेर-श्चिशब्दनिर्वाहप्रकारं दर्शयति—'साक्षाद्व्यविरोधं जैमिनिः ' [ ब०स० १।२।२८ ] । मामुपारूच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेत्यादिशब्द्वद्भिशब्द्स्याप-र्थवसानवृत्त्या न तच्छरीरकपरवात्मपरत्वमाश्रयणीयस् । अधं नयती-त्यामिरिति योगव्युत्पस्याऽग्निशब्दस्याभिव्यवधानमन्तरेण साक्षादेवामि-शब्दस्य परमात्मपरत्वलंभवं जैमिनिराचार्या मन्यते । अञ्च व्यासार्थै:-अग्निलिङ्गे विद्यमानेऽग्निशन्द्स्यापर्यवसानवृत्त्याऽग्निशरीरकपरमातमपर-त्वमेवोचितं ताहशानन्यथासिद्ध लिङ्गराहित्यस्थलेऽयमपि न्यायोऽस्तीति ट्युत्पाद्नार्थमिहैतदुपन्यस्तं न तु प्रकृतोपयुक्ततयेत्युक्तम् । 'अभिव्यक्ते-रित्याश्मरथ्यः ' बि॰ सु॰ १।२।२९ । ' अनुस्मृतेर्बाद्रिः ' बि॰ सू॰ १।२।३० ]। 'संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ' [ ब०सू० १ । २ ३१ ]। 'आमनन्ति चैनमस्तिन् ' [ ब०सू०१।२।३२ ] इति चत्वार्यपि सूत्राणि पूर्वत्र व्याख्यातानि । अतो वैश्वानरः परमात्मेति स्थितम् ॥१॥

तथा गुणोपसंहारपादे द्युमूर्घादिव्यस्तोपासने व्योपमन्यवादि भिक्तेषु 'अत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वा-नरमुपास्ते ' छि।०५।१२।२ ] इति व्यस्तोपासनेषु फलश्रवणाद्यस्तोपा-सनमेव प्रामाणिकस् । 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ' [ छा०५।१८।१ ] इति व्यस्तोपासनसमुद्रायानुवाद एव न तु समस्तो-पासनविधिः । अथवाऽनेन वाक्येन समस्तोपासनमपि विधीयतेऽतो द्वयमपि प्रामाणिकम् । अल्पफलाधिभिट्यंस्तोपासनं कर्तव्यमिति पूर्व-पक्षे प्राप्त उच्यते—' युद्धः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ' वि सू०३।३।५७ ] भूझ: सामस्त्यस्य ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वम् । तथा हि द्रीयति श्रुतिव्यस्तोषासनेऽनर्थं बुवती 'सूर्घाते व्यपतिष्यद्यन्मां नाऽऽ-गमिष्य इति '[ छा०५।१२।२ ] 'अन्धोऽभविष्यो यन्मां नाऽऽगमिष्य इति '[ छा०५।१३।२ ] इत्यादिना । न चेदं न हि निन्दान्यायेन सम-स्तोपासनस्य प्रशंसार्थमेव किं न स्यादिति वाच्यम् । अग्निहोत्रं प्रकृत्य श्रुतेन 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयाद्ग्वीधुकयवाग्वा वा जुहुयान्न ग्राम्यान्प-

श्चान्हिनस्ति नाऽऽरण्यान् ' इति वाक्येन जातिलगवीधुकशब्दवाच्यारण्य-तिलारण्यगोधूमकृतयवाग्वोविकल्पेनाभिहोत्राहुतौ द्व्यत्वविधाने विस्प-ष्टलिङ्गरययेन ग्राम्यारण्यपश्चित्तिं सारहिततया तयोः स्तवने च प्रतीयमा-नेऽपि 'अथो खल्वाहुः अनाहुतिर्वे जितलाश्च गवीधुकाश्च ' 'पयसाऽ-मिहोत्रं जुहुयात् 'इति तव्नन्तरं जर्तिलादिप्रतिक्षेपेण पयोविधिदर्शना-त्तदेकवाक्यतया जर्तिलयवाग्वा जुहुयादित्यादेर्घाम्यारण्यपशुहिंसाराहि-त्येन प्रशस्ततया होमाहां अपि जतिला गवीधुकाश्च यद्पेक्षया दुष्टास्त-त्पय एव प्रशस्तिमिति पयःस्तुत्यर्थत्वमेकवाक्यानुरोधादिति । 'न चेद्न्यं प्रकल्पयेत् '। 'प्रक्लप्तावर्थवादः स्यात् '[जै०१०। ८। ४।७] इति पूर्व-तम्त्राधिकरणे किंचिद्विधिपूर्वकं तान्निन्दायां विध्यन्तरश्रवणे सति तदे-कवाक्यतानुरोधात्पूर्वप्रवृत्तयोर्विधिनिन्द्योस्तद्र्थवाद्त्यमिति समर्थितं तद्वदेवेहापि युक्तम् । ननु जर्तिलगवीधुकयोः पयसा सह संबन्धामा-वाज्जितिलगवीधुकयवागूविधानयोरर्थवाद्तयैव विध्येकवाक्यता समर्थ-नीयेति तत्र तथाऽस्तु नाम । इह तु भूमविद्यायां नामादीनां सत्येन बह्मणा सह भूयस्त्वावधित्वेन संबद्धानां प्रासङ्गिकतदुपासनाविधिव-त्समस्तोपासनविषयेण वैश्वानरात्मना द्य्वादित्यादीनां तद्वयवत्वेन संबद्धानां प्रासङ्किकोपासनाविधिः किं न स्यादिति चेन्मैवम् । व्यस्तो-पासननिन्द्नेन 'मूर्धा लेप आत्मन इति होवाच ' [ छा० ५।१२।२ ] इत्यादिवाक्येषु तुशब्दक्षतेन द्य्वादित्यादीनां स्वतन्त्रोपास्यत्वव्यव-च्छेदेन 'तान्होवाचेते वे खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्या -सोऽन्नमत्थ ' [ छा०५।१८।१ ] इति व्यस्तोपासनानां भ्रममूलत्वोद्धा-टनेन च भूमविद्यावैषम्यस्य बहुविधस्य सत्त्वेन जित्तियदागून्यायस्यैव पवृत्रयौचित्यात्कतुवत् । यथा—' वैश्वानरं हाद्शकपालं निर्वपेत्युत्रे जाते ' इति विहितस्य क्रतोर्यदशक्षणलो भवतीत्यादिर्थवादो न त्वष्टाकपालादिङ्गव्यविधायकः । एवमस्यक्षं पश्यति प्रियासित्यादिव्यस्तो-पासनश्रवणमप्यर्थवाद एवेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्वकाशिकायां पञ्चमप्रपाटकस्य चतुर्विशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति च्छान्दोरयोपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकः समाप्तः ॥ ५॥

सद्दिद्यामुपदेष्टुमाख्यायिकामाह—

श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस।

हः प्रसिद्ध्यर्थः । अरुणपुत्रस्योद्दालकस्य पुत्रः श्वतकेतुनामा वभूवे-त्यर्थः ।

तः ह पितोबाच श्वेतकेतो वस बस्नचर्यं। न वै सोम्या-स्मत्कुलीनोऽननूच्य बस्नबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

पिता द्वादशवर्षमनुपनीतमनधीतिनं पुत्रं श्वेतकेतुं प्रति हे सोम्य सोमार्ह पियदर्शनिति वाऽर्थः । श्वेतकेतो कचिद्धरावध्ययनार्थं ब्रह्मचर्यं वस । अस्मत्कुले प्रसूतः कोऽप्यनधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव न भयतीत्युवाचे-स्यर्थः । यः स्वयमबाह्मण एव सन्बाह्मणान्बन्धुत्वेन व्यपिद्दशिति स ब्रह्मबन्धुरित्युच्यते । अत्र स्वयं गुणवत एव पितुर्गर्भाष्टमाद्युपनयनका-लातिक्रमेऽप्युपनेतृत्वाभावे हेतुः प्रवासादिलक्षणात्यन्तानुपपत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

> स ह द्वादशवर्ष उपेत्य, चतुर्वि शातिवर्षः सर्वान्वे-दानधीत्य, महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय ।

स श्वेतकेतुर्हाद्शवर्षः सन्गुरुमुपेत्य गुरुकुले द्वाद्शसंवत्सरानुपित्वा सर्वान्वेदानधीत्य महामनाः प्रोडमितः, अनूचानमान्यात्मानं साङ्गवेदा-ध्यायिनं मन्यमानः, स्तब्धः परिपूर्ण इव तृणीकृतजगन्नयश्चतुर्विशति-वर्षयुक्त एयाय प्रत्यागतः।

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

उक्तिमाह—

श्वेतकेतो यञ्ज सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसि ।

हे सोम्य महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसीतीदं यद्यस्माद्धेतोः स क इत्यर्थः । तस्य ब्रह्मज्ञानरहिततां जानस्रप्यारुणिर्जगद्भिन्ननिमित्तो-पादानभूतब्रह्मज्ञानवानेव पूर्णो नान्य इति तस्मै ज्ञापयित्वा पूर्णत्वा- भिमानं तदीयमपनुद्य बह्मणि जिज्ञासां संपादियतुं तदनुजिघृक्षया पुच्छति।

उत तयादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुत श्रुतं भव-त्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति

अत्र व्यासार्याः । उपक्रमे तावत्—' उत तमादेशमप्राक्ष्यः ' इत्य-बाऽऽदेशशब्देन प्रशासिताऽभिधीयते । अब श्लोकावाचार्यपादैकक्तौ-

छान्दोग्ये केचिदाहुर्दिशतिकत तमादेशमप्राक्ष्य इत्य-बाऽऽङ्पूर्वस्तूपदेशं पकटयति सतो न प्रशास्ति घञनतः। नो कर्तर्यस्ति कर्मण्यगणि घञिह सत्कर्तृशास्तौ न कर्म स्यात्तत्कर्मीपदेशे तदिद्युत तमादेशवाचोपदेश्यम् ॥ १ ॥ अत्र त्रूमः प्रशास्ति वद्ति दिशिरसावाङ्मुखो नोपदेशं शास्ता सोऽतिप्रसिद्धो न हि पर इह चापेक्षितार्थप्रसङ्गः। युक्तोऽसाधारणाक्त्या घञगणि करणेऽप्यन्न वैवक्षिकत्वं शाब्दोक्तं कारकाणां ननु करणतया कर्तरि स्याद्विवक्षा॥२॥इति ।

आदेशशब्देनोपदेश्यमुच्यते । प्रकृत्यर्थ उपदेशः प्रत्ययार्थः कर्मत्वम् । अकर्तरि च कारके संज्ञायामिति कर्तृव्यतिरिक्तकारकेषु घञो विहि-तत्वात्, उपदेशे ब्रह्मणः कर्मत्वोपपत्तेश्व । प्रशासने तु ब्रह्म न कर्मापि तु कर्तृ । कर्तृव्यतिरिक्तकारके हि घञ्पत्ययविधिः । न चात्रेगुपधलक्षणः कपत्यय उपपद्यते किति चेति गुणपतिषेधादादेशशब्दरूपासिद्धेः।नापि पचाद्यच्यत्यय उपपद्यते दिशिधातोरिगुपधत्येनेगुपधेत्यपवाद्सूत्रेण कप्र-त्यये प्राप्ते गुणाभावात् । अतो घडप्रत्ययान्त एवायमादेशशब्दः । स च प्रत्ययोऽकर्तर्येव विहित इति कर्मार्थकत्वस्यैव युक्तत्वादुपदेश्यमे-वाऽऽदेशशब्दवाच्यामिति । अत्रोच्यते-प्रकृत्वर्थः शासनं प्रसिद्धिप्राचु-र्यात् । अन्यथा स्वारस्यभङ्गात् । आङ्पूर्वो दिशतिर्नियोक्तप्रयोजनव-चनः, उपपूर्वस्तु नियोज्यप्रयोजनवचन इति हि न्यासकारः। नियो-क्तरि प्रयोजनं यस्य तस्यार्थस्य वाचक इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । किं चोपदेश्यत्वं लोकिकालौकिकधर्मब्रह्मभागार्थसाधारणम् । शासितृत्वं तु बह्मणोऽसाधारणम् । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' ' एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्थि ' [ बृ० ३।८।९ ] इत्यादिमिर्निरुपाधि-कप्रशासनस्य ब्रह्मासाधारणत्वश्रवणात् । निरुपाधिकोपदेश्यत्वं ब्रह्मण

इत्यसाधारण्यमिति चेन्न । इष्टप्राप्त्यनिष्टनिवारणतत्साधनेषु साधार-ण्यात् । यद्यप्यमितसुखदुःखनिवृत्त्यादिसाक्षादुपदेश्यं स्यात्तथाऽपि संसारनिवृत्तिब्रह्मतदुपासनानामुपदेश्यत्वं साधारणम् । प्रष्टव्यस्योपदे-रयत्वमर्थासद्धम् । अत उपदेश्यत्वकथने वैयर्थं च । ननु ' येनाश्रुतम् ' [ छा० ६।१।३ ] इत्यादिनैकवाक्यत्वात् स्वज्ञानेनान्यज्ञानहेतुताविशे-षितमुपदेश्यत्वमसाधारणमिति चेत् । तथाऽपि तादृशमुपदेश्यत्वं प्रतिज्ञावाक्येन प्रष्टव्यत्वोक्त्या चार्थसिद्धमित्यनपेक्षितोपदेश्यत्वकथना-द्प्यपेक्षितं प्रशासितृत्वमेव वाच्यमिति युक्तम् । येनाश्रुतमित्युपादानत्वे सिद्धे प्रशासितृत्वेन हि निमित्तत्वं सिध्येत् । निमित्तान्तरे सित ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नोपपद्यते । अतः प्रतिपिपाद्यिपितवस्तु-नोऽपेक्षितासाधारणाकारविशिष्टतयैव प्रतिपादनमुचितम् । घञ्पत्ययस्य करणेऽप्युपपन्नत्वाद्विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तिरिति शाब्दोक्तन्यायेन कर्तर्येव करणान्तरनैरपेक्ष्येण साधकतमत्वविवक्षया तथा प्रयोग उप-पद्यते । अकर्तरीति सूत्रस्य प्रयोजनं करणत्वविवक्षां विना कर्तर्य-साधुत्वेन प्रयोगनिवृत्तिः । उपदेशपक्षे प्रकृत्यर्थास्वारस्यं प्रत्ययस्वारस्य-मर्थानौचित्यं च । प्रशासनपक्षे प्रत्ययास्वारस्यं प्रधानभूतप्रकृत्यर्थस्वार-रस्यमर्थीचित्यं चेति वैषम्यम् । अतः प्रशासनमेवाऽऽदेशशब्दाभिधेय-मिति स्वीकर्तुं युक्तमिति । अत्रेदं विचार्यते । यत्तावदुच्यते प्रसिद्धि-प्राचुर्यात्प्रकृत्यर्थः शासनिमिति सत्यमेव तत् । शासनं विविच्य ज्ञापन-मिति धातुवृत्तिकृता व्याख्यातत्वादुपेंद्श एव पर्यवसानम् । 'उपदेशेंऽज-नुनासिक इत् ' स्थानिवदादेंशोऽनित्वधावित्यादिसूत्रेषु दिशिरुचारण-किय इति महाभाष्योक्तेः । 'अथातोऽहंकारादेशः छा० ७ । २५ । ? ] इत्यादावादेश उपहेश इत्यर्थः । इदं शास्त्याचार्य इति भाष्यस्ये-द्मुपद्शितीति हार्थः । तद्शिष्यमित्याद्ववक्तव्यमिति व्याख्यातम् । ततश्चाऽऽदेशनं शासनमुपदेशस्तत्कर्मत्वं च ' अनु म एतां भगवो देवतां शाधि '[ छा० ४। २। २] इति ब्रह्मणः सिद्धमिति प्रकृतिप्रत्यय-योरविरोधसंभवात्प्रत्ययास्वारस्यानुसरणस्यायुक्तत्वात् । नचानुशासनक-र्मत्वेऽपि न शासनकर्मत्वमिति वाच्यम् । शासु अनुशिष्टाविति शासन-स्यैवानुशासनरूपत्वात् । ततश्च करणत्वस्याऽऽरोपेण घडप्रत्ययस्य समर्थनमप्यनुचितमारोपस्यानुचितत्वात् । ननु करणत्वस्य नाध्यारोपस्त-स्यापि सत्त्वादिति चेन्न । तथा सति सिद्धान्ते प्रत्ययास्वारस्याभ्युपग-

मस्यायुक्तत्वात् । अत एवासिश्छिनत्तीत्यादौ सौकर्यातिशयविवक्षया 'बह्मदृष्टिरुत्कर्पात्' [ब०सू०४।१।५] इति न्यायेन करणे कर्तृत्वारोपेऽपि न कर्तरि करणत्वारोपसंभवः । तथा सति राजनि भृत्यत्वारोपस्यैवानर्थावहत्वात् । अत एव साधकतमं करणमिति सूत्रेऽधिकरणस्थाल्पास्तनुकपालतया साधकतमत्वविवक्षया स्थाल्या पचतीति प्रयोगमुपपाद्य, न चैवं कर्तूरपि करणत्वविवक्षाप्रसङ्घः । भिन्नजातीयत्वात् । सकलसाधनविनियोगकारी खल्वसौ । न हि शतधनो निष्कधनेन स्पर्धितुमहतीति कर्तुः करणत्वविवक्षाभावस्यैवो-पपादितत्वात् । निक्षेपरक्षायां भगवतो रक्षाकरणत्वानुसंधानं प्रपत्तिरिति पक्षे करणस्य कर्तृत्वासंमवेन जीवस्यैव रक्षकत्वमापतेर्दिति कर्तृत्वकरण-त्वविरोधस्य भगवति करणत्वानुसंधानस्य ' ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ' [ ब० स्०४।१।५] इतिन्यायविरोधस्य च प्रतिपादितत्वात्। 'शक्तिविपर्ययात्'[ब॰ सू० २।३।३८] इति सूत्रेऽन्तः करणस्य कर्तृत्वे ततोऽन्यत्करणं स्यादित्यन्तःकरणातिरिक्तं करणान्तरमभ्युपग-न्तव्यं स्यादिति परैरप्युक्तत्वाच । किं च प्रशासनकर्तुः करणत्वसंभवे परमात्मनः प्रशासनकर्मत्वस्यापि तथा संभवात्तव्संभवोक्तिर्विरुध्येत। किं च करणत्वे विवक्षिते करणाधिकरणयोश्चेति परेण ल्युटा बाधि-तत्वेन घञोऽपसङ्गात् । न च हलश्चेत्यनेन घञः तत्रापि संज्ञायामित्यनुवृत्तेः । न च त्वन्मतेऽपि कर्मणि घटन स्यात, अकर्तरि च कारके संज्ञायामिति संज्ञायामेव घञो विधा-नादिति वाच्यम् । अकर्तरि चेत्यत्र चकारस्य भिन्नक्रमत्वमाश्रित्या-संज्ञायामप्यस्तीति पद्मञ्ज्ञर्यादौ समर्थितत्वात्, संज्ञाग्रहणानर्थक्यं च सर्वत्र घत्रो दर्शनादिति वार्तिकक्षतोक्तत्वाच । किं च घत्रः करणार्थत्वे 'उपक्रम आदेशशब्देन प्रशासिताऽभिधीयते' इति यदभिहितं तहिरू-ध्येत । प्रशासनकरणत्वस्यैवाभिहितत्वेन प्रशासनकर्तुरनभिहितत्वात्। यचोक्तं प्रशासितृत्वमसाधारणमिति तदपि न । आदेशशब्देन प्रशासन-करणत्वमात्राभिधानेन प्रशासित्त्वानभिधानात् । तद्भिधानेऽपि निरु-पाधिकप्रशासितृत्वस्यैव मुख्योपदेश्यत्वस्य ब्रह्मासाधारणत्वात् । अत एव 'बह्मजिज्ञासा' [ ब॰ सू० १। १। १ ] इति सूत्रे ब्रह्मण इति कर्माण पठीपरियहाद्भद्धाण एवाऽऽभिधानिकं जिज्ञासाकर्मत्वं तदुपासना-दीनां त्वाक्षेष्यमित्युक्तम् । किं चाऽऽदेशशब्दमात्रस्य द्यातिप्रसङ्गमाश-

ङ्क्य तमित्येवं विशेषणोपादानाद्वश्यं तमित्यस्याऽऽदेशविशेषकत्वमभ्यु-पेयम् । यदि त्वादेशशब्दस्यैव निरुपाधिकप्रशासितृत्वमर्थः, तदा तस्य परमात्मासाधारणस्वात्तच्छव्दो विशेषको न स्यात्। यद्पि चोक्तं प्रष्टव्य-त्वकथनेनोपदेश्यत्वं सिद्धमिति तत्कथनस्यानपेक्षितत्वात्प्रशासितृत्वमे-वार्थ इति तन्न । यद्यपि पूर्वं नाप्राक्षम् । अधुना स्ययमेव ज्ञास्यामीति बुद्धिं व्युद्सितुमुपदेष्टव्यत्वकथनस्यैवापेक्षितत्वात् । अत एव 'तं त्वीप-निषदं पुरुषं पुच्छामि' [ बृ॰३। ९। २६ ] इत्यादौ प्रष्टव्यस्योपदेश्यत्व-लक्षणीपनिषद्त्वकथनं यञ्चोक्तं सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धचर्थं निमित्तत्व-मपेक्षितमिति तन्न । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञावलादुपादान-त्वस्येव तद्नयथानुपपत्त्या निमित्तत्वस्यापि लाभसंभवेन तस्य पृथग्व-क्तव्यत्वामावात्तद्नुपपत्तेर्भवतेवोक्तत्वादिति । अत्रोच्यते—'एप आदेश एष उपदेशः ' [ तै० १ । ११ । ४ ] इत्येवं पृथगुपदिष्टयोः 'न वायुक्तिये पृथगुपदेशात् ' [ ब० स०२।४।९ ] इति न्याये-नाऽऽदेशोपदेशयोर्भेदावश्यंभावान्त्रिमन्त्रणामन्त्रणयोरिव वृक्षवनस्पति-शब्दयोरिव च स्रोहभिक्तशब्दयोरिव च कचिद्कविषये प्रयोगमान्नेणानुम-वभेदस्य दुरपह्नवत्वात् । आदिशतीत्युक्ते हि यद्दाक्यो छङ्घने दण्डो मवति तादृशशन्द्पयोक्तृत्वं नियमयितृत्वमाज्ञापयितृत्वं प्रतीयते । अत आदिशतीति व्यवहारः प्रभुविषय एव । अत एव न्यासकारेणाऽऽदेशो-पदेशयोर्भेदो वर्णितः—आङ्पूर्वो दिशतिर्नियोक्तृप्रयोजनवचनः। उपपू-र्वस्तु नियोज्यप्रयोजनवचन इति । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् ' इत्यादौ तथैव प्रतीते:। ततश्च प्रकृतिस्वारस्येन नियमनापरपर्याया-ज्ञापनरूपार्थे प्रतीते घञ्पत्ययस्य कर्तृव्यतिरिक्तकारकमात्रवाचिनो योग्यतावशात्त्वनमते कर्मार्थकत्ववद्स्मन्मतेऽपि कारकवाचिनो घञ्प्रत्य-यस्य सकलकारकप्रयोक्तृकर्तृलक्षणा समाश्रीयते प्रष्टव्यवस्तुनस्ताह्यपूप-त्वात् । असंजातविरोधिमुख्यप्रकृत्यर्थानुग्रहेण जचन्यप्रत्ययलक्षणाया आश्रयणीयत्वात् । पञ्चपञ्चाशति स्त्रिवृतः संवत्सरा इत्यादावहः परत्वस्व-रसत्रिवृदादिपद्मुख्यत्वानुसारेण जघन्यसंवत्सरपद्स्येव सौरचान्द्रमसा-द्यनेकार्थसाधारण्येन निश्चयासमर्थस्याजहल्रक्षणाया अभ्युपेतत्वात् । तथा प्रयाजशेषेण हवींच्यभिघारयतीत्यादौ प्रयाजशेषप्रातिपदिकानु-रोधेन तृतीयाया द्वितीयार्थलक्षणाया आश्रितत्वात् । तथा प्राणा वा ऋषय इत्यादावृषिशब्दानुसारेण बहुवचनश्चतेः पाशन्यायेन गौणार्थक-

त्वस्य 'गौण्यसंभवात्' 'तत्प्राक्श्रतेश्च' [ब० सू० २।४।२।३] इत्यत्रोप-पादितत्वाच । नन्वादेशपद्स्य प्रशासनापरपर्यायाज्ञापनरूपादेशप्रास-द्धस्योपदेशपसिद्धिपाचुर्याभावेऽप्युपदेशार्थकत्वे प्रकृतेः सर्वात्मना मुख्या-र्थत्यागाभावात्प्रत्ययस्य त्वन्मते कर्तृलक्षणायां मुख्यार्थत्यागात्कांस्यमो-जिन्यायेन जघन्यद्यावाष्ट्रथिव्येककपालानुरोधेन मुख्येन्द्राग्न्यादीनां प्रसु-नवर्हिनियमाश्रयणवदेकधा बह्मण उपहरतीत्यत्र सकुत्सहत्वसाधारण-स्यैकधाशब्दस्य पक्षान्तरप्रापकदुर्बलचोद्कानुग्रहेण सहत्वार्थस्वीकार-वत्सप्तद्श प्राजापत्यानित्यत्र प्रजापतिसंबन्धविशिष्टान्वययोग्यस्यापि बहुत्वस्यैकपशुनिष्पन्नैकावृशावदानप्रापकदुर्बलचोदकानुसारेण विशिष्टा-न्वयाभ्युपगमेन द्रव्यदेवतासंबन्धाक्षिप्तयागमेदाभ्युपगमवच जघन्यघञ्-प्रत्ययानुसारेण मुख्यदिशेरुपदेशार्थकत्वमेव युक्तम्, प्रकृते मुख्यार्थत्या-गाभावात् । प्रचुरप्रसिद्धमुख्यार्थत्यागमात्रं त्ववशिष्यते तत्तु न दोषाय । अत एव पत्नय उपगायन्तीत्याद्ौ गीतिशब्दस्य शारीरगाने प्रसिद्धिप्राचुर्ये सत्यप्यशारीरवादित्रादिगानस्यापि गीतिशब्दप्रयोगविषयत्वेन काण्डवीणादिमिरुपचयं र्थत्वात्संनिहितदुन्दुभ्यादिगानस्यैव पत्न्यो नर्त्विजां निवर्तिका इति दशमे सिद्धान्तितमिति चेन्मैवम्।गान-शब्दस्य बर्हिराज्याधिकरणन्यायेन गीतिमात्रवाचित्वाद्युक्तं तत्र संनि-हितदुन्दुभ्यादिगानवाचित्वम्। इह त्वादेशशब्दस्य क्रचिद्पि शिष्यो गुरु-मादिदेशेत्यादिप्रयोगाभावेन साधारणोचारणार्थकत्वामावादुपदेशाति-देशशब्दयोरिवाऽऽदेशोपदेशशब्दयोरपि भिन्नार्थकत्वेनाऽऽदेशशब्दस्योप-देशार्थकत्वे मुख्यार्थत्यागस्यावर्जनीयत्वेन जघन्यप्रत्यय एव लक्षणाया उचितत्वात्। वस्तुतस्तूपदेशेऽजनुनासिक इदिति सूत्रे करणाधिकरणयो-श्चेति त्युटा वाधितस्य घञोऽकर्तारे च कारक इत्यनेनाप्रसङ्गमाशङ्क्य कृत्यत्युटो बहुलमिति घञो भाष्यकृता समर्थितत्वात्तइयायेन कर्तर्यपि तेनैव सूत्रेण घठिसद्धौ लक्षणाया अपसङ्गात्प्रशासितृत्वार्थकत्वमेवाऽऽदे-शशब्द्स्य युक्तम्। आदेशनमादेश इति घञन्ताद्भाववाचिन आदेशशब्दा-दर्शआद्यजनताद्िष प्रशासितृत्वार्थकत्वमेवाऽऽदेशशब्द्स्य युक्तमिति वय-मुत्परुयामः । ततश्च 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्या**चन्द्रमसौ** विधृतौ तिष्ठतः '[बृ०३।८।९] प्रशासितारं सर्वेषामित्यादिश्चातिसमृतिप्रति-पन्नं परमात्मधर्मभूतं प्रशासितृत्वमिहाऽऽदेशशब्दार्थः । एतत्सर्वमस्मा-भिर्भावपकाशिकायां प्रपश्चितं तत्रानुसंधेयम् । प्रशासनेन च धारकत्व-

1 \_ = . .

लक्षणमात्मत्वं फलितम् । ततश्चाऽऽदेशशब्द् आत्मत्वपर्यन्तः । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति [ छा०६।१।३ ] इत्यत्र 'कस्मिझु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ' [ मु० १। १। ३ ] 'आत्मिन खस्वरे हटे श्रुते मते विज्ञात इद् सर्वं विदितं भवति' [ वृ० ४। ५। ६ ] इति मुण्डकबृहद्रारण्यकवाक्यानुसारेण येन श्रुतेन मतेन विज्ञातेनाश्रुतमम-तमविज्ञातं श्रुतं मतं विज्ञातं भवतीति वाक्यपर्यवसितोऽर्थः । ब्रह्मस्वरू-पसत्तामात्रस्याश्रुतश्रुतत्वादिहेतुत्वाभावाद्त्राश्रुतामतादिशब्दानाम् 'इद्र् सर्वं विदितं भवति इतिश्रुत्यन्तरानुसारात्सर्वार्थकत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्च येन श्रुतेन सर्वे श्रुतं भवतीत्यर्थः । ततश्चाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यश्रुतस्य श्रुतत्वप्रतिपाद्नं कथमिति शङ्काया नावकाशः । अश्रुतशब्दस्य सर्वपर-त्वात् । यद्दाऽवस्थाविशिष्टतयाऽश्रुतं स्वरूपेण श्रुतं भवतीत्यर्थः । अत्र विज्ञानशब्दो निद्ध्यासनपरः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निद्ध्यासितव्य इति क्रमप्रत्यभिज्ञानादिति द्रष्टव्यम् । अत्र येनाश्रुतं श्रुतमित्यनेन किमुपादान-मिति पृष्टं भवति । प्रशासितृत्वार्थकेनाऽऽदेशशब्देन चाऽऽत्मस्वरूपं पृष्टं मवति । ततश्चाऽऽत्मभूतमुपादानं किमिति पश्चस्य फलितार्थः । अत एव श्रीविष्णुपुराणे--

#### यनमयं च जगद्वह्मन्यतश्चेतचराचरम्।

इति श्लोके यन्मयमित्यात्मस्वरूपं यतश्चैतच्चराचरमित्युपादानं च पृष्टम् । अत एव 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्र-तिष्ठाः' [छा० ६।८।४] इति प्रतिवचनेन सदायतना इति सत आत्मत्वं सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठा इति सत उपादानत्वं च प्रतिपाद्यत इति दृष्टव्यम् । अत एव 'अथातोऽहंकारादेशः' [छा० ७।२५।१]। 'अथात आत्मादेशः' [छा० ७।२५।२] 'अथात आदेशो नेति नेति' [बृ० २।३।६] 'आदित्यो बह्मत्यादेशः' [छा० ३।१९।१] 'उमयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च' [छा० ३।१८।१] इत्यादाविवाऽऽदेशशब्दस्योपदेशार्थकत्वमेवास्तु न प्रशासनार्थकत्वमिति शङ्का पराकृता । अतो जगदुपादानभूतं जगदात्मानं किं पृष्टवानसीत्यर्थः । अत्र ज्ञातवानसीत्यनुक्त्वा पृष्टवानसी-त्युक्तवतः

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ [गी०४।३४]

इत्युक्तरीत्या प्रणिपातादिपसन्नाचार्योपदेशगम्य एव सोऽर्थः । न तु प्रकारान्तरेण ज्ञातुं शक्य इत्यभिप्रायः । अन्यज्ञानेनान्यज्ञानासंभवादेक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानासंभवं मन्वानश्चोद्यति—

कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

हे भगव ईदृश आदेशः कथं मवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥ उपादानोपादेययोस्तत्संभवतीत्यमित्रायेणोत्तरमाह— यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातः स्यात् ।

यथोपादानभूते मृत्पिण्डे ज्ञाते तदुपादेयघटशरावादिकं ज्ञातं भवति तद्वदित्यर्थः । नैयायिकरीत्याऽसदेव घटादिकं मृत्पिण्डेनोत्पद्यते । अतश्चोपादानोपादेययोभेदान्न मृत्पिण्डे ज्ञाते सर्वमृन्मयानां ज्ञातत्वं संमवतीति मन्वानं प्रत्याह—

वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

घटत्वादिलक्षणो विकारो घटशरावादिनामधेयं च। आरभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणं कर्मणि ल्युट् तेनैव मृद्भव्येण घटशरावादिलक्षणो विकारो घटशरावादिनामधेयं च स्पृश्यत इत्यर्थः। आरम्मणशब्दस्य पुनपुंसकाल-ङ्गान्तविकारनामधेयविशेषणत्वेऽपि नपुंसकैकशेपैकवद्भावाभ्यां लिङ्गसामान्यादिविवक्षया वाऽऽरम्मणमिति नपुंसकैकवचननिर्देशः। मृद्र-ब्येण विकारनामधेये कस्मै प्रयोजनाय स्पृश्येते इत्यत्राऽऽह-वाचेति। प्रयो-जनस्य हेतुत्वविवक्षया तृतीया । वाक्राब्दश्चाजहह्रक्षणया वागादिव्यव-हारपरः। ततश्च वाक्पूर्वकहानादिव्यवहारार्थं मृत्पिण्डेन नामक्षे स्पृश्येते मृत्पिण्ड एव नामरूपभाग्भवतीत्यर्थः । अत्र यद्यपि मृत्पिण्डमृन्म-याभेदप्रतिपादनं वाचाऽऽरम्भणं विकार इत्येतावन्मात्रेणापि सिध्य-तीति न नामधेयस्यापि स्पृश्यत्वं वक्तव्यं तथाऽपि संज्ञाभेदादुपादानो-पादेययोर्भेदशङ्काव्युदासाय नामापि मृद्भध्येण स्पृश्यत इत्युक्तिरपेक्षि-तेति द्रष्टव्यम् । कार्यकारणयोरेकद्रव्यत्वे प्रमाणमाह-मृत्तिकेत्येव सत्यम् । मुन्मयं घटादिकं मृत्तिकेत्येव प्रमाणप्रतिपन्नं न तु तिद्भिन्नत्वेनेत्यर्थः। यद्दा मृन्मयं मृत्तिकेति वाक्यमेव सत्यमबाधितार्थकमित्यर्थ: । ततश्चो-पादानोपादेययोरभेदादुपादाने ज्ञात उपादेयस्य ज्ञातता भवतीत्यर्थः। एतेन विकारो वाचाऽऽरम्भणं वागालस्वनमात्रं नामधेयं स्वार्थे धेयप-त्ययः, नामेव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति मृत्तिकेत्येव सत्यमिति यत्परेरुक्तं तद्पास्तम् । वाचाऽऽरम्भणमित्यस्य वागालम्बनमित्येतद्र्थ-कत्वे प्रमाणाभावात्, वागालम्बनमात्रामित्यतो नामधेयमित्यनेनातिरि-क्तार्थापतिपाद्नात्पुनरुक्तिश्च, मृत्तिकासत्यत्वमात्रत्वविवक्षायामितिश-ब्द्वैयथ्यं च। उक्तं चाभियुक्तैः—

> वाचाऽऽरम्भणमित्युक्तेर्मिथ्येत्यश्रुतकल्पनम् । पुनरुक्तिनीमधेयमितीत्यस्य निरर्थता ॥ इति ।

किं च परमते 'येनाश्चतं श्चतं भवति' [छा० ६।१।३] इति संदर्भीऽपि न युज्यते । शुक्तितस्वे ज्ञाते तद्ध्यस्तरजतादेनिवृत्तावपि रजतस्य ज्ञात-त्वाद्र्शनेन ब्रह्मणि ज्ञाते तद्ध्यस्तप्रपञ्चस्य निवृत्तावपि ज्ञातत्वासंम-वात् । ननु शुक्तौ ज्ञातायां रजतस्य तत्त्वं ज्ञातमेव शक्तिव्यतिरिक्तरजत-त्वस्याभावात्। एवं ब्रह्मणि ज्ञाते प्रपश्चस्य तस्वं ज्ञातमेवेति चेन्न। परमार्थशुक्तेरपरमार्थरजततत्त्वरूपत्वाभावात् । न हि शुक्तौ ज्ञातायां रजततत्त्वं ज्ञातमिति व्यवहारो दृष्टचर इत्यास्तां तावत्। ननु सर्वे मुन्मयं विज्ञातं स्यादित्यत्र विकारार्थमयदूपत्ययेन घटत्वशरावत्वाद्यव-स्थावद्द्रव्यरूपो विकार एवामिधातव्यो न तु घटत्वशरावत्वाद्यवस्था-रूपो विकारः । तस्य मृत्पिण्डापेक्षया भिन्नत्वेन तज्ज्ञानेन ज्ञातत्वासं-भवात् । ततश्च तदुपपादके वाचाऽऽरम्भणं विकार इति वाक्येऽपि विकारशब्देनावस्थावद्भव्यलक्षणस्यैव विकारस्याभिधानमुचितं न त्ववस्थालक्षणविकारस्येति चेत्सत्यम् । तस्यैवाभिधानमुचितम् । तथाऽपि मृद्वव्येण घटशरावादिलक्षणस्यावस्थावतो द्रव्यस्य स्पर्शासं-भवात् । न ह्यात्मैवाऽऽत्मना स्प्रष्टुं शक्यः । अतो मृन्मयमित्यत्र विकार-वाचिमयदूप्रत्ययेनावस्थावतोऽभिधानेऽपि तदुपपाद्के वाचाऽऽरम्मणं विकार इति वाक्ये विकारशब्देनावस्थाया एव ग्रहणमुचितम् । तथा मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यत्र विशेष्याकाङ्क्षायां सत्यमिति नपुंसकलिङ्गानु-रोधाद्वस्थावद्भव्यवाचि मृन्मयमित्येतद्विशेष्यतयाऽनुषज्यते । ततश्च सर्व मुन्मयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यत्रावस्थावद्भव्यमेव विकारवाचिना मयट्-प्रत्ययेनाभिधीयत इति न कश्चिहोष इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

यथा सोम्येकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात स्याद्वा-चाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

लोहमणिः स्वर्णपिण्डविशेषः ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिछन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातः स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्। नखनिक्चन्तनशब्देन कार्ष्णायसपिण्डो लक्ष्यते । शिष्टं पूर्ववत् ।

एवश् सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥ मयोक्त आदेशो मृत्पिण्डादितुल्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥ एवमुक्तः पुत्र आह—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतद्वेदिषुर्यख्चेतद्वेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवा श्रस्त्वेव मे तद्ववीत्विति ।

भगवन्तः पूजावन्तो मम गुरव एतत्स्वरूपं न ज्ञातवन्तः, यद्येतद्व-स्तुतो जानीयुस्तर्हि मक्ताय गुणवते महामुपिदशेयुर्हि । नोपिदृष्टवन्तस्तु ते तेनाहं मन्ये न विदितवन्तं इतीत्यर्थः । एवमवाच्यमपि गुरोर्न्यक्नं पुनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयादुक्त्वा भगवानेव तद्वस्तूपिद्शित्विति पितरं प्रार्थयामासेत्यर्थः ।

> तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

पिताऽपि तत्तथैव वदामीत्युक्तवानित्यर्थः ॥ ७ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

प्रतिज्ञातस्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसमर्थनाय जगतो ब्रह्मेककारणतां प्रतिपाद्यितुं प्रवृत्तो यथा लोकेऽपराह्णे प्रसारितानां घटशरावोद्ञ्चना-दीनां च मृत्यिण्डकोपादानतां प्रतिपिपाद्यिपुः पूर्वाह्ण एतद्घटशरावा-दिकं मृत्यिण्ड एवाऽऽसीदिति प्रतिपाद्यति तथा प्रतिपाद्यति—

सदेव सोम्येदमय आसीदेकमेवादितीयम्।

इदं विभक्तनामरूपं बहुत्वावस्थं जगद्ग्रे सृष्टेः प्रागेकमेवाविभक्तनामरूपतयैकत्वावस्थापन्नमेवाद्वितीयमधिष्ठात्र-तरशून्यं सद्वाऽऽसीदित्यर्थः। अत्र सच्छब्दो नामसंबन्धयोग्यत्वलक्षणं सत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्ती-

कृत्य परमात्मानि वर्तते। अयं च सच्छव्दो विशेष्यभूतपरमात्मवाचकोऽपि कारणविषयत्वसामर्थात्कारणत्वौपयिकगुणविशिष्टपकृतिपुरुपकालश-रीरकं परमात्मानमूपस्थापयति 'देवाँ आज्यपाँ आवह ' इत्यादौ विशेष्यवाचिन एवाऽऽज्यशब्द्स्य विक्वातिषु पूषद्वाज्यवाचित्वस्य दाश-मिकन्यायसिद्धत्वात् । अत्र सदेवेत्येवकारेण नैयायिकाभिमतमृत्यतेः शाग्जगतोऽसत्त्वं व्यावर्त्यते । सदेवेत्येवकारस्य नैयायिकाभिमतोत्पत्तिप्रा-क्कालीनकार्यासत्त्वव्यावर्तकत्वं 'तद्धैक आहुरसद्वेद्मण आसीत् ' इत्यसत्कार्यवादिदर्शनप्रतिक्षेपपरोत्तरवाक्यसंदर्भादवसीयते। एकमेवेत्येव-कारेण 'बहु स्याम् ' [ छा० ६। २। ३ ] इति वक्ष्यमाणा स्रक्ष्यमा-णकार्यबहुत्वावस्था व्युद्स्यते । 'तद्देक्षत ' 'तत्तेजोऽसृजत ' [ छा० ६।२।३] इत्युत्तरवाक्यसंदर्भे सच्छन्दितस्यैव निमित्तत्वकथनाद-द्वितीयमित्यनेन निमित्तान्तरं निषिध्यते। ततश्चैकमद्वितीयमितिपदाभ्या-मभिन्ननिमित्तोपादानत्वं सिद्धं भवति । तत्थायमर्थः - इदं बहुत्वा-वस्थं विभक्तनामरूपं प्रत्यक्षतया हर्यमानं जगत्सृष्टेः प्राङ्गनिमित्तान्त-रश्चन्यमविभक्तनामरूपतयैकं सच्छि व्दितं बह्मैवाऽऽसी दित्यर्थः । यद्यपी-दानीमपि जगत्सदेव तथाऽप्यविभक्तनामरूपसद्भावापत्तिः सृष्टेः प्रागेवे-त्यग्र इत्यस्य नानुपपत्तिः । न च सच्छव्डस्य सूक्ष्मप्रकृतिकालजीवशरी-रकबह्मपरत्वेन सच्छव्द्स्य कार्थभूते जगति सृष्टेः प्राक्ताहशबह्मत्वबोध-कत्वेऽपि जगति सत्तासंबन्धबोधकत्वाभावेनासत्कार्यवाद्द्युदासकत्वं कथिमिति वाच्यम् । सृष्टेः प्राक्सच्छिन्दितब्रह्माभेद्वोधने नैयायिकाभि-मतासत्त्वव्युदासस्याप्यर्थसिद्धत्वात् । एतेनैकमेवाद्वितीयमित्येतत्प्रपश्च-मिथ्यात्वे प्रमाणयन्तः परे प्रत्युक्ताः । तस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वप-रत्वे सदेव सोम्येद्मग्र आसीदिति कालपापकेण पूर्वेणाग्रपदेन ' तदेशत नामरूपे व्याकरवाणि ' ि छा० ६ । ३ । २ व इतीक्षणनामरूपात्मक-पपञ्चपापकेणोत्तरेण च विरोधप्रसङ्गात् । किं चेदंशव्दोदितं सर्वं जगत्सृष्टेः प्रागेकभेवाद्वितीयं सदेवाऽऽसीदिति परैच्यां ख्यातत्वेन सृष्टिप्रा-कालेऽद्वितीयपदेन द्वितीयासत्त्वबोधनेऽपि सृष्टयुत्तरकालं तस्यासत्त्वाप-तिपाद्नेन जगतो मिथ्यात्वासिन्हे:, घटशरावादिकं सर्वं सृष्टे: प्रागद्दि-तीयैकमृत्पिण्ड एवाऽऽसीदित्युक्त्या घटशरावादीनां मिथ्यात्वपतिपाद-नाद्र्शनात्रागसत्त्वप्रतिपाद्नेन ह्यनित्यत्वमात्रं सिध्येस तु मिथ्यात्वम् । न च ' नेह नानाऽस्ति ' [ बू० ४ । ४ । १९ ] इति वाक्यात्सृष्ट्युत्तर-

कालमप्यसत्त्वावेदनान्मिथ्यात्वसिद्धिरिति वाच्यम् । 'न स्थानतोऽपि परस्य ' [ ब० सू० ३ । २ । ११ ] इत्यधिकरणे तस्य वाक्यस्य ब्रह्मगतनानात्वनिषेधपरतया परेरेव व्याख्यातत्वात् । नन्वनित्यत्वमेव मिथ्यात्वम् 'अनित्यस्य धर्मिणोऽनित्यत्वमसत्यत्वम् 'इति वाचस्पतिमि- थोक्तेः । विद्यारण्ययतिनाऽपि तथैवोक्तत्वात् ।

अनाशी परमार्थश्च पाज्ञेरभ्युपगम्यते । यज्ज कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै ॥ परिणामादिसंभूतं तद्वस्तु नृप तज्ञ किम् ।

इति पराशरस्मरणाद्ण्यनित्यत्वमेव मिथ्यात्वमिति चेत्। ईदृशस्य प्रामाणिकस्य प्रत्यक्षाविरुद्धस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्यास्माभिर्प्यप्रतिक्षेण्य-स्वादित्यास्तां तावत्। सदेवाऽऽसीदिति सृष्टिप्राक्काले ब्रह्माभेदप्रतिपा-द्नमुखेन सत्कार्यवादमुक्त्वा तद्विरोध्यसत्कार्यवादं नैयायिकाभिमतं वाचारम्भणमित्यादिना प्रतिक्षिप्तमिष कण्ठतः प्रतिक्षेष्ठं तन्मतमुप-न्यस्यति—

# तद्धैक आहुरसदेवेदमय आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

इदं जगद्धे सृष्टेः प्रागसदेवाऽऽसीन्न तु सदासीदित्यर्थः । नामरूपि विभागाभावलक्षणस्यासत्त्वस्य सिद्धान्तेऽपि संमतत्वादाह—एकमेवाद्वि-तीयम् । प्रागभावव्यतिरेकेणायस्थाया वाऽवस्थाश्रयस्य वा कस्यापि सत्त्वं नास्तीत्यर्थः । यद्वाऽसदेवेत्यत्र , अ , इत्येतत्सत्पदेनासमस्तं सत् 'सदेव सोम्येद्मय आसीदेकमेवाद्वितीयम्, इति वाक्यार्थप्रति-क्षेपकम् ।

#### तस्माद्सतः सञ्जायत ॥ १ ॥

सदिति भावप्रधानो निर्देशः । यस्माद्धेतोरुत्पत्तेः प्रागवस्थाश्रयस्या-प्यभावस्तस्माद्धेतोरसतः सत्त्वऋषोत्पत्तिरजायताभवदित्यर्थः। पर्यवसन्न-मिति यावत् । जायतेत्यत्राडभावश्छान्दसः ॥ १ ॥

तन्मतं प्रतिक्षिपति—

्कुतस्तु खलु सोम्येवश स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति ।

केन प्रमाणेनासत उत्पत्तिः प्रतीयेत तद्वेद्मिति प्रत्यभिज्ञाविरोधेन प्रमाणस्यानवतारादिति भावः । अतः कथमसतो द्रव्यस्य सत्ता भवेत् ।

अतोऽसतः सत्त्वमुत्पत्तिर्न भवत्यपि तु सत एव द्रव्यस्य प्रथमक्षणाविच्छ-न्नावस्थान्तरसंबन्ध एवोत्पत्तिरित्यर्थः। एवं परपक्षं प्रतिक्षिण्य स्वमतमुप-संहरति—

### सदेव साम्येदम्य आसीदेकमेवाहितीयम् ।

निवदंशब्देन जगन्यात्रपरामर्शे तस्य सच्छि व्हितत्रह्माभिन्नत्वेन सदेवे-दमम आसीदिति प्रतिपादितज्ञह्माभेदानुपपत्तिः । नापीदंशब्देनेदंशब्दि-तजगच्छरीरकज्ञह्मपतिपादनं संभवति, अश्चतवेदान्तं प्रतीदमादिशब्दानां ज्ञह्मपर्यन्तप्रत्यायकत्वासंभवादिति चेदस्याः शङ्कायाः परिहारो मुण्डक-प्रकाशिकायामेव प्रपश्चितः । अत्रापि च स्वावसरे करिष्यामस्तत्रैवानु-संधातव्यः ॥ २ ॥

# तदेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽस्जत ।

तत्तदेतत्सच्छन्द्वाच्यं परं ब्रह्म विचित्रानन्तचिद्चिन्मिश्रव्यष्टिजग-द्रूपेणाहमेव चहु स्यां तद्र्थं तेजोबन्नादिसमप्टिक्रपेण प्रकर्पेण जायेयेति संकल्प्य तेज: ससर्ज ।

## तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽस्जत ।

अत्राचेतनस्य तेजआदेरीक्षितृत्वासंभवात्तेजआदिशब्दास्तब्छरीरक-परमात्मपरा द्रष्टव्याः । भाष्यकृता 'गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात्' [ ब्र॰ सू०-१ । १ । ६ ] इति सूत्रे तेजःप्रभृतयोऽपि शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः । 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति मुख्य एवेक्षणव्यप-देश इति भाषितम् । तथा 'तद्भिध्यानादेव तु तिलुङ्गात्सः' [ ब०सू०-२ । ३ । १३ ] इतिसूत्रे 'तत्तेज ऐक्षत' ता आप ऐक्षन्त' इति श्रूय-माणमीक्षणं तच्छरीरकस्य परस्येव ब्रह्मण उपपद्यत इति भाषितम् । 'संज्ञामूर्तिक्लिप्तिस्तु' [ ब० सू० २ । ४ । २० ] इत्यधिकरणे च 'तत्तेज ऐक्षत' इति तेजःशरीरकं परं ब्रह्मैवामिधीयत इति च भाषितम् । न च तत्तेज ऐक्षतेत्यव तेजःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिर्बह्मणः सृज्य-त्वाभावादिति चेन्न । तेजःशरीरकब्रह्मणः कार्यत्वेन सृज्यत्वे दोषामा-वात् । तेजसो जलहेतुत्व उपपत्तिं दर्शयति— तस्मायत्र कचन शोचित स्वेदते वा पुरुष-स्तेजस एव तदध्यापी जायन्ते ॥ ३ ॥

यत्र क्रचन देशे काले च पुरुषः संतष्यते प्रस्विधते वा तत्तदा तेजस एवाऽऽपोऽभिजायन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

> ता आप ऐक्षन्त वह्नचः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमस्जनत ।

अत्राज्ञशब्देन महाभूताधिकारात्यृथिद्युच्यते। सूत्रितं च 'पृथिद्यधि-काररूपशब्दान्तरेभ्यः ' [ ब० सू० २ । ३ । १२ ] इति । अधिकारो महाभूताधिकारः । रूपं 'यत्कृष्णं तद्ग्नस्य ' [ छा० ६ । ४ । १ ] इति तैत्तिरीयके 'अद्धः पृथिवी ' [तै०२।१।१] इति शब्दान्तरम् । एतच सूत्रमन्यत्र व्याकृतम् । अपामन्नहेतुत्वे युक्तिमाह—

तस्मायत्र क च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति । तदेव तत्रेवेत्यर्थः ।

अद्भय एव तदध्यन्नायं जायते ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पष्टप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तस्मात्वृथिव्येकदेशस्य बीहियवादिलक्षणस्यात्रस्य वृष्टिप्रभवत्वदर्श-नादेव हेतोरञ्चाद्ययन्नप्रभृतिष्टथिवीत्वावच्छिन्नमप्यभ्य एवाभिजायत इत्यर्थः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्याविषयकमधिकरणं लिख्यते द्वितीया-ध्याये । छान्दोग्ये 'तत्तेजोऽसृजत' [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजस एव प्रथमतः सृष्ट्यभिधानादाकाशोत्पत्तेरश्चतेराकाशो नोत्पद्यत इति 'न वियद्श्रुते:' [ ब० स्०२।३।१ ] इति स्त्रेण पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'अस्ति तु [ ब्र०सू०२ । ३ । २ ] आकाशस्याप्युत्पत्तिरस्त्येव तैत्तिरीयके 'आत्मन आकाशः संमूतः' [२।१।१] इत्युत्पत्तेः श्रवणात्। पुनश्चोदयति 'गौण्यसंभवाच्छव्दाच ' [ त्र० सू० २। ३। ३। ४ ] 'आत्मन आकाशः संभूतः ' इत्युत्पत्तिश्रुतिर्गीणी निरवयवाकाशोत्पत्ते-श्छान्दोग्ये चाश्रुतायाः प्रतिपादनासंभवात् 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतद्सृत-

मुभयम् ' [बृ०२।३ । ३ ] इत्याकाशस्यामृतत्वश्रवणाचेत्यर्थः । नचाऽऽत्मन आकाशः संभूत इत्यत्राऽऽकाशे संभूतशब्दस्य गौणत्वे 'आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' [तै०२।१।१] इत्यादौ श्रुतस्य संभूतत्वस्यापि गौणत्वं स्यादित्यत आह-' स्याचैकस्य बह्मशब्द्वत् ' [ ब० सू० २ । ३ । ५ ] । एकस्यैव संसूतशब्दस्याऽऽकाशे गौणत्वं वायोरग्निरित्यादावनुपक्तस्य संभूतशब्दस्य मुख्यत्वं च संमवति । यथा मुण्डके 'तस्मादेतद्वह्म नाम रूपमन्नं च जायते '[मु०१।१।९] इति प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्य बह्मशब्दस्य तस्मिन्नेव प्रकरणे 'तपसा चीयते ब्रह्म, [ मु० १ । १ । ८ ] इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयोगदर्श-नात् । परिहरति-'प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात्' [ ब० सू० २ । ३ । ६ ] आकाशस्यापि ब्रह्मोपादेयतया ब्रह्मव्यतिरेके सत्येवैकविज्ञानेन सर्ववि-ज्ञानप्रतिज्ञाया अहानिर्भवति बङ्गाकार्यस्यापि वस्तुनः सत्त्व एकवि-ज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं हीयेतत्यर्थः । 'शब्देभ्यः ' [ ब • सू० २ । ३।६]। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । छा०६। २। १]। ' ऐतदातम्यमिदं सर्वम् ' [ छा० ६। ८।७]। इत्यादिशब्दैः सर्वस्यापि वस्तुनो ब्रह्मकार्यत्वब्रह्मात्मकत्वप्रतिपाद्नपरेश्वःयमर्थो विधी-यते। 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्। '[ त्र० सू० २।३।७]। तुशब्दश्चार्थे छान्दोग्ये—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' । इत्यादिभिराकाशादेः सर्वस्यापि विकारत्वप्रतिपाद्नादेव विभागशब्दितोत्पत्तिरप्युक्तैव । यथा लोक एते सर्वे देवदत्तपुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचिदुत्पत्तिप्रतिपाद-नेऽपि सर्वेपामुत्पत्तिः प्रतिपादितैव भवति तद्वत् । ' वायुश्चान्तिरक्षं चैतद्मृतस्। '[बृ०२।३।३]। इति तु देवानामिव चिरकाल-स्थायित्वाभिप्रायस् । ' एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ' बि० सू० २ । ३।८] । आकाशोत्पत्तिप्रतिपादनेनैव वायोरष्युत्पत्तिः प्रतिपादितै-वेत्यर्थः। 'असंभवस्तु सतोऽतुषपत्तेः ' [ ब० सू०२।३।९]। तुझ-ब्दोऽवधारणार्थः । असंभवोऽनुत्पत्तिः सतो बह्मण एव तद्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहद्हंकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्पवनादिकस्य प्रपञ्चस्यैकवि-ज्ञानेन सर्वविज्ञानाविभिरवगतकार्यभारस्यानुत्पत्तिनीपपद्यत इत्यर्थ इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः॥ २॥

सर्वस्थेतरस्यापि तेजोबन्नात्मकबीजत्रयप्रसूतत्वं दर्शयति— तेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भव-न्त्याण्डजं जीवजमुद्धिज्ञमिति ॥ १ ॥

आण्डजम् । अण्डजं पक्षिसपादि स्वार्थेऽण् । जीवजं गर्भवेष्टनल-क्षणजरायुजं पुरुषपश्वादि । उद्भिज्जम् । उद्भिनत्तीत्युद्धित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जम् । न च स्वेद्जानामत्र संकीर्तनाभावात्कथं त्रीण्येव बीजा-नीत्यवधारणमिति शङ्क्यम् । उद्भिज्जशब्देन स्वेद्जस्यापि संग्रहो-पपत्तेः । सूत्रितं च ' तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ' [ त्र० सू० ३ । १ । २१ ] इति । संशोकजस्य स्वेद्जस्याऽऽण्डजं जीवजमुद्भिज्जमि-त्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः संग्रह इत्यर्थः । इदं च सूत्रमन्यत्र व्याख्यातम् । अण्डजादिशब्दिनिर्दिष्टानामेषां भूतानां तेजोबन्नानि त्रीण्येव बीजानीत्यर्थः । तदेवं परस्माद्वस्रणोऽनन्यत्वं जगतोऽभ्युपगन्त-व्यमिति स्थितम् ॥ १ ॥

तदेवोपपादयति—

सेयं देवतेक्षत हन्ताहिभमास्तिस्रा देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

अत्र 'संज्ञामूर्तिक्छितिः ' [त्र० सू० २ । ४ । २० ] इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकृता—सेयं देवतेत्यादिवाक्यस्यायमर्थः—सेयम् । सच्छिव्दिता परदेवता, इमास्तेजोबन्नकृषास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन जीवसमष्टिविशिष्टेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामकृषे व्याकरवाणि देवादिविचित्रमृष्टिं तन्नामधेयानि च करवाणीति भाषितम् । ' अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् '[त्र० सू० २।१५] इति सूत्रे 'हन्ताहिमिमास्तिस्रो देवताः ' इति तेजोबन्नानि देवताश्वदेन विशेष्यन्त इति भाषितत्वाद्त्र देवता इत्यभिमानिदेवतापरत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्चेमास्तिस्रो
देवता इत्यस्यायमर्थः—स्वस्वाभिमानिदेवताधिष्टितानि तेजोबन्नानीति । तेजोबन्नाभिमानिदेवतानां परमात्मव्यतिरिक्तत्वे प्रमाणाभावात्परमात्मनश्च सर्वाभिमानिदेवतात्वसंभवाच परमात्मक्षपदेवताधिष्टता
इत्यर्थः । परमात्मव्यतिरिक्तदेवताभ्युपगमेऽपि देवताश्वद्स्य तद्धिष्टि-

तत्वमेवार्थः । न च 'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत ' [ छा० ६।२।३ ] इत्यादौ तेजआदिशब्दानां परमात्मपरत्वात्तेजोबन्नावस्थापन्नपरमान्मनां तत्तदुपहितत्वाद्यवस्थाधीनबहुत्वाश्रयाणामेवेमास्तिस्रो देवता इति देवताशब्देन परामशोऽस्तु न तु देवताशब्दस्य तद्धिष्ठतपरामशित्व-मिति वाच्यम् । तत्तद्वस्थपरमात्मसु जीवस्य प्रवेशासंभवेन प्रवेशयोग्यतेजोबन्नानामेवाभेदोपचारेण लक्षणया वा देवताशब्देन निर्देष्टय-त्वात् । महासिद्धान्ते तद्क्षतेति सर्वज्ञत्वमसृजतेति निमित्तत्वं बहु स्यामित्युपादानत्वं तदुभयानुगुणं सर्वशक्तित्वं सत्यसंकल्पत्वं चानेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्येति सर्वान्तरत्वं चोक्तं भवति । जीवेनाऽऽत्मनित जीवशरीरकेण मयेत्यर्थः ।

सिंहेन भूत्वा बहवो सयाऽत्ता व्याघेण भूत्वा बहवो सयाऽत्ताः।

इतिवत्सार्वज्ञ्यादिगुणकस्य तद्विपरीताकारजीवैक्यासंभवात्, यस्याऽऽ-त्मा शरीरमित्यादिवचनात्तद्वपविश्येत्यचेतन इव जीवेऽप्यनुप्रवेशश्रव-णाच शरीरवाचिशब्दस्य शरीरिपर्यन्तत्वमुख्यताया उपपन्नत्वाचाय-मेवार्थ इति व्यासार्थैरुक्तम् । ननु जीवशरीरकेण मया प्रविश्य ड्याकरवाणीत्यर्थों न संभवति ड्याकरवाणीति तिङा कर्तुराभिहितत्वे-नानभिहिताधिकारविहिततृतीयानुपपत्तेः । न च व्याकरणक्रियाकर्तुस्ति-ङाऽभिहितत्वेऽपि प्रवेशक्तियाकर्तुरनभिहितत्वानृतीया भविष्यतीति वाच्यं तर्हि मया भुक्तवा अजामीत्यपि प्रयोगः साधुः स्यात्, त्रजिकि-याकर्तुरिभधानेऽपि भुजिक्तियाकर्तुरनिभिहितत्वात् । स्वादुमि णमु-लिति सूत्रे कैयटेन क्ताप्रत्ययस्य भावार्थत्वात्पक्तवौद्नं भुद्धे देव-दत्तः, पक्तवौदनं भुज्यते देवदत्तेनेत्यत्र च क्तवाप्रत्ययेन पचिक्रियाकर्तृ-कर्मणोरनभिधानात्तृतीयाद्वितीये कुतो न भवत इत्याशङ्क्याऽऽरव्या-तपद्वाच्या क्रिया विशेष्यत्वात्प्रधानिमतरा तु विशेषणत्वाद्प्रधानम्। तिक्वियासाधनयोरिप शक्त्योस्तद्वारको गुणप्रधानभावः। तत्र प्रधान-क्रियाशक्त्यभिधाने गुणक्रियाशक्तिरभिहितवत्प्रकाशते प्रधानानुरोधा-द्धणानां पृथक्तद्विरुद्धस्वकार्यारम्भायोगाचेत्युक्तत्वादिति चेत्सत्यम् । मयेत्यस्य स्वरूपेणेत्यर्थः । आत्मशब्दः स्वरूपपरः । यद्यपि जीवशरी-रकं स्वक्षं व्याकरणकर्तुर्न भिद्यते तथाऽपि

व्यपदेशिवदेकस्मिन्युध्या नानार्थकल्पना ।

न्यायेन कल्पितभेद्मादायानभिहिताधिकारविहिततृतीयोप-पत्तेः । घटः स्वेन रूपेणेतरव्यावृत्तिं करोतीत्याद्विपयोगदर्शनात्करोतीति तिङा कर्तुरभिहितत्वात् । ननु तत्र करणार्थे तृतीया करणं च न तिङाऽभिहितमिति चेत्तार्हे प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु । तेनेशस्तद्विशिष्टस्वक-रणकतयाऽनुप्रवेशेऽपि कर्ता, इत्यधिकरणसारावह्नयुक्तश्चायमेवार्थः । यहाऽऽरम्भणाधिकरणे-अनेन जीवेनाऽऽत्मना मदात्मकजीवेनाऽऽत्म-तयाऽनुप्रविश्य, एतद्विचित्रनामरूपभाक्तस्वाणीति मापितत्वेन जीवशः व्दस्य परमात्मपर्यन्तत्वाभावस्यापि प्रदर्शितत्वात्तद्नुसारेण जीवेनेत्यस्य जीव एवार्थ: । आत्मशब्द्स्य शरीरत्वमर्थः । शरीरभूतेनानेन जीवेनानु-प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्यर्थः । आत्मशब्दस्य शरीरवाचित्वममि-प्रत्येव मदात्मकजीवेनेति भाषितम् । आत्मतयाऽनुप्रविश्येति भाष्यस्या-यमर्थ:-आत्मतयेति हेतौ तृतीया हेतुत्वं च प्रयोजनत्वेन विवक्षितमात्म-त्वार्थमनुषविश्येत्यर्थः। प्रविश्य नियन्तृत्वाभाव आत्मत्वासंभवाच चारे-णानुपविश्य परवलं संकलयानीतिवदिति। यहा 'अनेन जीवेनाऽऽ-त्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोद्मानस्तिष्ठति ' [ छा०६।११।१ ] इत्य-चेवानेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्येत्यज्ञापि जीवात्मनेत्येवार्थः। अस्मिन्प-क्षेऽनेनेतिशब्दस्य प्रमाणप्रतिपन्नपुरोवर्तिवाचिनो मच्छरीरभूतेनेत्यर्थः। अनयोः पक्षयोश्चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं संकलयानि देवद्त्तेन पक्त्वा चैत्रेण भुज्यत इत्यत्रेव विशिक्तियाप्रयोजककर्त्रा परमात्मना व्याप्रियमा-जीवात्मनः करणतया तृतीयासंभवानृतीयाया नानुपपत्तिः। इयांस्तु विशेष:-नामरूपव्याकरणस्य 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति 'इति वक्ष्यमाणेन त्रिवृत्करणेन समानकर्तृकत्वावगमा-न्नामरूपव्याकरणांशे साक्षात्कर्तृत्वमप्यस्ति । प्रवेशे तु सर्वव्यापकस्य परमात्मनः साक्षात्कर्तृत्वासंभवात्प्रयोजककर्तृत्वमेव । एवं चानुप्रवेश-नामरूपव्याकरणयोः समानकर्तृकत्वसंभवात्कत्वाप्रत्ययस्यापि नानुपप-तिरिति द्रष्टव्यम् । एतेनान्तः करणविशिष्टस्याहमर्थत्वं वदन्तः परे प्रत्युक्ताः । बहु स्यां हन्ताहमिमा इति संकल्पसमये तस्याभावादि-त्यास्तां तावत् ।

## तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति ।

अत्र संज्ञामूर्तिक्छप्त्यधिकरणे भगवता भाष्यकृता—तद्र्थमन्योन्य-संसर्गमप्राप्तानामेषां तेजोबज्ञानं विशेषसृष्टचसमर्थानां तत्सामर्थायै- कैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीतीत्येतद्वाक्यार्थ उक्तः । अत्र तद्र्थमि-त्यस्य देवादिविचित्रक्षपाणां तन्नामधेयानां च करणार्थमित्यर्थः पूर्वं देवादिविचित्रसृष्टिं तन्नामधेयानि च करवाणीत्युक्तेरिति द्रष्टव्यम् । अत्रे तिशब्दस्य सेयं देवतिक्षतेति पूर्वेण संबन्धः । एवमीक्षित्वा परा देवता यथासंकल्पमकरोदित्याह—

सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनेव जीवेनाऽऽ-त्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् ।

अत्र त्रिवृत्करणाधीनत्वाञ्चामक्षपव्याकरणस्यार्थक्रमानुरोधेन पाठ-क्रमो बाध्यते । तत्र तेजोबञ्चदेवतास्वेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं कृत्वा नामक्षपव्याकरणमकरोदित्यर्थः । अत्र व्यापकस्य परमात्मनः स्वक्षपेण स्वापृथक्सिन्द्रसर्ववस्तुप्रवेशस्य सर्वदा सत्त्वेऽपि स्वशरीरमूतजीवेनानुप्र-वेशस्य पूर्वमभावाज्जीवेनानुप्रविश्य नामक्षपे व्याकरोदित्यस्य नानुपः पत्तिः। चारस्य राजशरीरत्वाभावाञ्च चारेणानुप्रविश्येति वाक्यसाम्यं च।

यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्तिवृत्ति । द्वेतास्तिवृत्ति विदेशका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ द्वे ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३॥

देवताधिष्ठितानां तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणप्रकारं मे निगदतः शृण्वित्यर्थः। व्यासार्थेरानन्द्रमयाधिकरणे अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-वाणीत्यत्र नामरूपव्याकरणस्यानुप्रवेशपूर्वकत्वमवगम्यते । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ' [ते०२।६।१] इत्यत्रानुप्रवेशस्य सृष्टिपूर्वकत्वं गम्यते । तस्मात्समानकर्तृकत्वमेव विवक्षितं न पौर्वापर्यमपि। अत एव हि 'तस्य त्वष्टा विद्धदूपमेति 'इति सृष्टचनुप्रवेशयोः समानका-लीनत्वमेव प्रतीयते। अथ वा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ' [ते०२।६।१] इति सृष्टचनन्तरत्वेन श्रूयमाणानुप्रवेशः स्थित्यर्थोऽन्य एवत्यु-क्तम्। व्यापकस्यापि परमात्मनोऽन्तर्यामिविग्रहद्वाराऽनुप्रवेश उपपद्यत

इति केचित् । जीवद्वारैवानुप्रवेशो न तु स्वत इति केचित् । प्रति-वस्तु तत्तद्वस्तुमात्रपूर्णपरमात्मकार्यकारित्वात्तत्र प्रविष्ट इवेत्युक्तिरिति केचित् ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

> > यदमे रोहित रूपं तेजसस्तदूपम् ।

अग्नेर्यद्रोहितं स्वरूपं रोहितो भागो दृश्यते तद्त्रिवृत्कृतस्य तेजसः स्वरूपम् ।

यच्छुकुं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य ।

स्पष्टोऽर्थः ।

अग्नेस्तेजोबन्नसमुदायरूपत्वे यावत्तेजोबन्नावस्थानमग्निरूपेणोपलम्भः प्राप्नोतीत्यत्राऽऽह—

अपागादमेरमित्वम् ।

तेष्वेव तेजोबन्नेष्वग्न्याद्यवस्थानाशकसामग्रीसंनिधानेऽग्नित्वावस्थाऽ-पेता भवत्यवस्थान्तरं पादुर्भवति ।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १॥

अतस्तेजोबन्नैरेवाग्नित्वाद्यवस्थालक्षणो विकारोऽग्न्यादिनामधेयं च वाक्पूर्वकव्यवहारसिद्धये तेजोबन्नैरेव स्पृश्यते । अतस्तेजोबन्नस्वस्र-पाण्येवाग्निरिति सत्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

यदादित्यस्य रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्कं तदपां यत्क्रष्णं तदन्नस्यापा-गादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

यज्ञन्द्रमसो रोहित १ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्कं तद्रपां यत्छ ष्णं तदन्नस्यापागाचन्द्राचन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥ यिद्युतो रोहित र रूपं तेजसस्तद्र्पं यच्छु इं तद्पां यत्रुष्णं तदन्नस्यापागादियुतो वियुत्तं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४॥

पूर्ववद्रथः ॥ ४ ॥

एतद्ध स्म वै तिद्दाश्स आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः।

उपादानादुपादेयं न भिद्यत इत्येतत्स्वरूपज्ञा महागृहस्थाः सर्ववेदं-पारगा वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवन्त इत्यर्थः । 'लट्रमे' इति स्मयोगाद्भू-तार्थेऽप्याहुरिति लडुपपत्तिः ।

> न नोऽय कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाह-रिष्यतीति होभ्यो विदांचकुः॥ ५ ॥

तेजोबन्नान्येव ज्ञातवतां नोऽस्माकमेभ्यस्तेजोबन्नेभ्योऽतिरिक्तमश्रुत-ममतमिविज्ञातं कोऽपि नोदाहर्तुं शक्नोतीति तेजोबन्नेभ्य एव सर्वे ज्ञातवन्त इत्यर्थः॥ ५॥

सर्वस्यापि तत्रान्तर्भावमेव प्रदर्शयति—

यदु रोहितिमवाभूदिति तेजसस्तदूपिमिति तदिदांच-कुर्यदु शुक्कमिवाभूदित्यपा स्हपिमिति तदिदांचकुर्यदु कृष्णिमवाभूदित्यन्नस्य ह्रपिमिति तदिदांचकुः॥ ६॥

> यद्दविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देव-ताना श्रमास इति तद्दिदांचकुः ।

रोहितशुक्क कृष्णत्वेन भासमानं तेजोब झात्मक मेवेति ज्ञातवन्तः । यत्तू केन रूपेणाज्ञायमानमभूत्तद्पि पीतमाश्चिष्ठधूसरशोणादि रूपवस्वेन ज्ञायमानमपि लोहितशुक्क कृष्णतेजोब झस मुदायात्मक मेव न तु ततोऽ-तिरिक्त मिति ज्ञातवन्त इत्यर्थः । एवं सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य त्रिवृत्कृत-तेजोब झरूपत्वेन तद्भेदं प्रसाध्याध्यात्मं मांसलोहितमज्ञास्थिल क्षणस्य देहस्येन्द्रियमनः प्राणानां च त्रिवृत्कृततेजोब झाभेदं द्र्शियतुं प्रस्तौति—

यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

तेजोबन्नानि पुरुषेण मुज्यमानानि पुरुषं प्राप्य यथा त्रिधा त्रिधा परिणमन्ते तं परिणामप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

#### अन्नमशितं त्रेधा विधीयते।

पुरुषेण भुक्तं जाठराग्निना पच्यमानमन्नं स्थविष्ठमध्यमाणिष्ठरूपेण नेधा विभक्तं भवति ।

तस्य यः स्थिविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्ना भसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १॥

स्थूलांशः पुरीपतामापद्यते मध्यमांशस्तु मांसताम्, अणिष्ठांशस्तु मनस आप्यायकतामापद्यते । मनस आहंकारिकत्वेनान्नविकारत्वाभावा-दिति भावः ॥ १॥

आपः पीताश्चेधा विधीयन्ते तासां यः स्थिविष्ठो धातुस्तन्भूत्रं भवति यो मध्यम-स्ति होहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥ तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थिविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मजा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

तैल घृतादिकं तेज:शब्देनोच्यते । मज्जाऽस्थ्यन्तर्गतः स्नेहो धातु-विशेषः । घृततैलादेः पीतस्य सूक्ष्मांशो वागाप्यायक इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अन्नमय हि सोम्य मन आपो-मयः प्राणस्ते जोमयी वागिति ।

उक्तरीत्या मनःप्राणवाचामन्नजलतेजःसूक्ष्मांशाष्यायितत्वान्मनोऽन्न-मयं प्राणोऽम्मयस्तेजोमयी वागित्यर्थः । ननु केवलान्नभक्षाणामाखुप्र-भृतीनामपि वाग्गित्वप्राणवत्त्वदर्शनाद्म्मान्नभक्षाणामपि मत्स्यादीनां मनस्वित्ववाग्गित्वदर्शनाद्घृततैलमान्नभक्षाणामपि मनस्वित्वप्राण-वत्त्वदर्शनात्कथमन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि-त्युपपद्यत इति चेत्सर्वस्यापि त्रिवृत्कृतत्वेन सर्वस्यापि भक्ष्यस्य तेजो-बन्नस्वत्याऽन्नमयं सोम्येत्याद्युक्तेविरोधाभावात् । एवं प्रत्यायितः श्वेत-केतुराह—

भूय एव मा भगवान्विज्ञापयग्विति ।

एवमशितानां तेजोबन्नानां सूक्ष्मांशा वागाद्याप्यायकाः सन्तीत्यत्र न मनसो विस्नम्भः। अतः पुनरपि सम्यग्हटान्तैरमुमर्थं दर्शयेत्यर्थः।

तथा सोम्थेति होवाच ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपिनषि षष्ठप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः॥ ५ ॥

आचार्योऽपि तथाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य पश्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

> दंशः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्यः समुदीपति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥ एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्यः समुदीपति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

यथा मध्यमानस्य द्ध ऊर्ध्व उद्गतोऽणिमा सूक्ष्मांशो घृतं भवत्येव-

मश्यमानस्यान्नस्योध्वं उद्गतः सूक्ष्मांशो मनो भवति मनआप्यायको भवतीत्यर्थः । समुदीपति, ईप गतिहिंसाद्रशंनेष्विति हि धातुः ॥१॥२॥

अपार सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति॥ ४ ॥

पूर्ववद्रथः ॥ ३ ॥ ४ ॥

अन्नमय हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-मयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । मनसोऽन्नमयत्वं यथा बुद्ध्याद्धढं भवति तथा प्रदर्शयेत्यथंः।

तथा सोम्येति होवाच।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

पूर्ववद्रथः ॥ ६ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

पोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काममपः पिवाऽऽपोमयः प्राणो न पिवतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

पोडशांशयुक्तमनआदिकलायुक्तः पुरुषः । ततश्च मनआदिपोड-शांशाः प्रत्यहं भुज्यमानैरन्नादिभिराप्यायिता भवन्ति । तत्र पश्चद्श दिनानि मा भुङ्क्थाः । यथेष्टं जलं पिच जलपानेन प्राणविच्छेदोऽपि न भविता जलमयत्वात्प्राणस्येत्याचार्य उवाचेत्यर्थः ॥ १ ॥

स ह पश्चदशाहानि नाऽऽश । एवं पित्रोक्तः पुत्रः पश्चदृशाहानि न भुक्तवान् । अथ हैनमुपससाद किं बवीमि भो इति।

षोडशेऽहनि पितरमुपसन्नः शिष्यो भगवन्कि बवीमीत्युक्तवान् । इतर आह—

ऋचः सोम्य यजूशि सामानीति ।

अधीतान्वेदान्पठेत्युक्तवानित्यर्थः ।

स होवाच न वे मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥
मां प्रति वेदा न मान्तीतीतरः प्रत्युक्तवान् ॥ २ ॥
तश्र् होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खयोतमात्रः परिशिष्टः स्याचेन
ततोऽपि न बहु दहेदेवश्र सोम्य ते षोडशानां
कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्याचयैतिई
वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥ ३॥

हे सोम्य यथा लोके महत इन्धनैरभ्याहितस्य शान्तस्याग्नेरेकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टो भवेत्तेनाङ्गारेण खद्योतमात्रपरिमाणात्किं चिद्पि बहु न दहेदेवमेव खलु सोम्य तेऽङ्गोपचितानां षोडशानां मनसोंऽशाना-मेकोंऽशोऽविशिष्टः । पञ्चद्शिदिनेषु पञ्चद्शकलानां क्षीणत्वादिति भावः। अतोऽल्पीयसा तेनांशेनेदानीं वेदान्न प्रतिपद्यसे भुङ्क्ष्व तत ऊर्ध्वं मदुक्तं ज्ञास्यसीत्यर्थः।

स हाऽऽशाथ हैनमुपससाद । भुक्त्वा पितरमुपसन्नः ।

तः ह यत्किच पप्रच्छ सर्वः ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

यद्यत्पृष्टवांस्तत्तत्सर्वं स ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

तः होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यै
कमङ्गारं खयोतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरु
पसमाधाय प्राज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ।

एवः सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽति-

शिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता पाज्वाली त्रयै-तर्हि वेदाननुभवस्यन्नमय हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।

यथा शान्तस्य वह्नेरंकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तृणादिभिरुप-समिध्य प्रकर्षेणाऽऽ समन्ताद्वर्धयेत्तेन चेद्धेनाङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरि-माणाद्वहु दहेत् । एवं हे सोम्य ते पोडशानां मनोंशानामेकोंऽशोऽ-श्लेनाऽऽप्यायितः प्रज्वितः स्वकार्यकरणसप्तर्थः । अतो वेदान्प्रतिप-द्यसे । अतोऽन्नमयमेव मनः । अनयैव रीत्याऽऽपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।

> तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

तत्, मनआदीनामन्नमयत्वादिकमस्योपदेशाज्ज्ञातवानित्यर्थः । द्विरभ्यासिश्चवृत्करणप्रकारसमाप्त्यर्थः । प्रकृतविषयण्यधिकरणानि लिख्यन्ते द्वितीयाध्यायान्ते—'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ' [ छा० ६ । ३ । २ ] इति स्वांशत्वेनाऽऽत्ममूतस्य जीवस्यानुप्रवेशव्याकरणकर्तृत्वाभिधानात्परदेवतायाः स्वेन रूपेणानु-प्रवेशानुक्तेिह्ररण्यगर्भस्य नामरूपव्याकर्तृत्वस्य पुराणादिषु प्रसिद्धत्वा-त्परमात्मांशभूतो हिरण्यगर्भ एव प्रवेशानामरूपव्याकरणयोः कर्ता । न चैवं व्याकरवाणीति परमात्मनोऽभिसंधिनोंपपद्यत इति वाच्यम् । जीवसमद्याश्रयस्य प्रवेशाव्याकरणकर्तृहिरण्यगर्भस्य परमात्मांशतयाऽत्य-न्तभिन्नत्वाभावेन तद्गतनामरूपव्याकर्तृत्वस्य प्रवेशसमानाधिकरणस्य स्वनिष्ठतया परमात्मनोऽनुसंधानोपपत्तेः प्रयोजककर्तृतयाऽपि व्याकरवाणीत्यभिसंध्युपपत्तेश्च । यदि पुनः परमात्मनः साक्षात्कर्तृभावो भवेत्त-र्ह्यनेन जीवेनत्यनर्थकम् । जीवस्य कर्तृत्वाभावेन चारेणानुप्रविश्य परस्तेन्यं संकल्यानीतिवत्करणत्व एव तृतीया वाच्या । करणत्वं च तदै-वोपपद्यते यदि परमात्मा प्रयोजककर्ता जीवश्च प्रयोज्यकर्ता स्थात् ।

प्रयोजककर्तुंहिं साक्षात्कर्ता करणं भवति प्रधानकियोद्देशेन प्रयो-जकेन प्रयोज्यक्तर्तुव्यां प्रियमाणत्वात् । अतो जीवेनेति करणत्वेन निर्दिश्यमानो जीवः साक्षात्कर्तेत्यवसीयते । अतस्तेजोबन्नानि प्रविश्य हिरण्यगर्भ एव नामक्षे व्याकरोति । अतो हिरण्यगर्भकर्नकैव नाम-रूपा व्याकियेति पाप्त उच्यते—' संज्ञामूर्तिक्लप्तिस्तु ज्ञिवृत्कुर्वत उप-देशात् ' [ ब॰ सू॰ २।४।२० ]। संज्ञासूर्तिक्लितिर्गमह्यव्याक-रणं त्रिवृत्करणं कुर्वतः परवात्मन एव न हिरण्यगर्भस्य 'अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुपविश्य नामक्षे व्याकरोत् ' तासां त्रिवृतं त्रिवृत-मेंकैकामकरोत् ' [ छा० ६ । ३ । ४ ] इति चिवृत्करणनामरूपव्याक-रणयोः समानकर्नृकत्वावगमात् । न च त्रिवृत्करणं हिरण्यगर्भकर्तृकं संभवति, हिरण्यगर्भस्य त्रिवृत्कुततेजोबन्नोत्पादितबह्माण्डस्रष्टृत्वावेदः नेन तस्य बिवृत्करणकर्तृत्वासंभवात् । अतो जीवसमष्टिशरीरकः सन्परमात्मा नामक्षे व्याकरोहिति सिद्धम् । अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽ-नुप्रविश्येत्यस्योपपत्तिस्तु तङ्घास्यविवरणद्शायामेवोक्ता तत्रैवानुसंधेया। ननु ' यद्मे रोहित ५ रूपं तेजसस्तद्रूपस् ' [ छा० ६ । ४ । १ ] ' अन्नमितं त्रेधा विधीयते ' [ छा० ६ । ५ । १ ] इत्युत्तरत्र चतुर्मु-खसृष्टाग्न्यादिषु त्रिवृत्करणप्रकारप्रदर्शनात्रिवृत्करणमपि चतुर्भुखकर्तृ-कमेवेत्यबाऽऽह—' मांसादि भौमं यथाशब्दमित्रयोश्च ' [ ब० सू०२। ४।२१ ] । यहुक्तमण्डसृष्टग्रुत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवादिविषयोऽयं ' तासां बिवृतं बिवृतमेकैकामकरोत् ' [ छा० ६।३।४ ] इति बिवृत्करणोपदेश इति तन्नोपपद्यते । अन्नमशितं त्रेधा विधीयत इत्यत्र मांसमनसोः पुरी-पाद्णुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोराष्यत्वतैजसत्वप्रसङ्गाद्यद्रपेक्षया सूक्ष्मं तत्तस्य कारणम् । अत एव हि पार्थिवाप्यतैजसानामुत्तरोत्तरसू-क्ष्मतयोत्तरोत्तरकारणत्वम् । ततश्च पुरीषस्य स्थविष्ठत्वात्पार्थिवत्वम् । ततः सूक्ष्मस्य मांसस्याऽऽप्यत्वम् । ततोऽणिष्ठस्य मनसस्तैजसत्वमभ्यु-पगन्तव्यम् । तथा—' आपः पीताः ' [ छा० ६ । ५ । २ ] इत्यत्रापि स्थविष्ठस्य मूत्रस्य पार्थिवत्वं मध्यमस्य लोहितस्याऽऽप्यत्वं ततोऽप्य-णीयसः प्राणस्य तैजसत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा—तेजोऽशितमित्यत्रापि स्थूलस्यास्थनः पार्थिवत्वं मध्यमाया मज्जाया आप्यत्वमणिष्ठाया वाचस्तै-जसस्त्वमभ्युपगन्तव्यम् । न चैविमिष्यते । प्रथमपर्याये पुरीपवन्मांसम-नसी अपि पार्थिवे एव प्रतिपाद्येते, अन्नमशितं त्रेधा विधीयत इति

प्रक्षमात् । तथा द्वितीये पर्याये मूत्रलोहितप्राणानामध्यिकारत्वं प्रति-पाद्यते । तृतीयपर्यायेऽस्थिमज्जावाचां तेजोविकारत्वमेव प्रतिपाद्यते । अतस्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोदित्युक्तित्रवृत्करणप्रकारोऽन्नम-शितमित्यादिना न प्रदर्शते तथा सति हि मनःप्राणवाचां तिसृणा-मप्यणीयस्त्वेनान्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति विरुध्येत । अतः प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम-न्नमशितमित्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते । अण्डसृष्टेः प्रागेव तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यमित्रवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्मा-सामर्थ्यात् । अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्मसामर्थं तदेव च त्रिवृत्करणम् । तथा च स्मर्यते—

> नानावीर्याः षृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नुवन्त्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्रशः ॥ समेत्यानोन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः । महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते । इति ॥

अत एव च 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामऋषे व्याकरोत्' 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' [ छा० ६।३।४ ] इति पाठक-मोऽप्यर्थक्रमेण बाध्यते । अण्डान्तर्वार्तसृष्ट्यादिषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनं तु श्वेतकेतोः शुश्रूषोरण्डान्तर्वर्तित्वेन तस्य बहिष्ठवस्तुषु त्रिवृत्करणप्र-द्रीनायागाञ्चिवृत्क्वतानां कार्येष्वग्न्यादिषु त्रिवृत्करणप्रद्र्शनं क्वतमि-त्यविरोधः । नन्वण्डान्तर्गतानां सर्वेषां त्रिवृत्कृततेजोबन्नरूपत्वे व्यव-स्थिततेजोबन्नव्यवहारः कथं स्यादित्यत्राऽऽह- वैशेष्यातु तद्वादस्त-द्वादः' [ ब॰ सू॰ २।४।२२ ] पृथिव्यंशानां मूयस्त्वे पृथिवीति व्यवहारो जलांशानां भूयस्त्वे जलव्यवहार इति व्यवहारव्यवस्थोपपद्यत इत्यर्थः । तद्वाद्स्तद्वाद् इति सूत्रे द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्थेति स्थितम् । तथा हितीयाध्याय आरम्भणाधिकरणे—उपादेयमुपादानाद-न्यदेव घटेनोदकमाह्रियते मृत्पिण्डेन घटादिकं निर्मीयत इति कार्य-भेदात् । तथा घटस्य दण्डचकादिकं कारणं मृत्पिण्डस्य तु जलसंयो-जनमर्दनादीति कारणभेदात्। तथा घटः पृथुबुध्नोद्राकारो मृत्यिण्डस्त्व-तदाकार इत्याकारभेदात् । तथा पूर्वकालं कारणमपरकालं कार्यमिति कालभेदात् । बहवस्तन्तव एकः पट इति संख्याभेदात् । सत्याभेव सृदि यटो नष्ट इति प्रतीतेः । कार्यकारणयोर्बुद्धिशब्दादिभेदस्य दर्शनाची- पादानादन्यदेवोपादेयमितरथा कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति काणा-दादिमतावलम्यनेन पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' तद्नन्यत्वमारम्भणशब्दा-दिभ्यः' [ ब० सू० २ । १ । १४ ] तस्मात्वरमकारणाद्वह्मणो जगतोऽ-नन्यत्वं वाचारम्भणशब्दादिभिरवगम्यते । 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम् ' [ छा०। ६। ४। १ ] इत्यस्यार्थः पूर्वमेव वर्णितः । आदिशब्देन 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। [ छा० ६।२।१ ] येना-श्रुतः श्रुतं मवति' [ छा०६। १। ३] 'एकमेवाद्वितीयम्' [ छा० ६। २ । १ ] इत्यादिकं गृह्यते । यदि च वैशेषिकादिरीत्योपादेयसुपादानाद-न्यत्स्यात्तदा कारणगुणप्रक्रमेण कार्यगुणोत्पत्तेरुपादानसुवर्णगुरुत्वेन तदु-पादेयकुण्डले गुरुत्वोत्पत्त्यभ्युपगमावश्यंभावेन गुरुत्वाहुगुण्यप्रसङ्गात् । बुद्धिशब्दादिभेदानामुभयसंप्रतिपन्नावस्थयैव व्यवस्थोपपत्ताववस्थाश्र-यद्रव्यान्तरोत्पत्तिकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात् । ननु विरलतन्त्वारब्धे पट एकस्मिन्नेव काले कथमेकत्वानेकत्वयोर्युगपदुपलम्मः, एकस्मिन्ध-र्मिणि विरुद्धधर्मद्वयासंभवादिति चेन्न । एकस्मिन्नेव वृक्षे मूलायव-च्छेद्कभेदेन संयोगतद्भावसत्त्ववत्कुविन्द्कारितसंयोगविशेषावच्छेदेन तन्तुषु पटत्वमेकत्वं च तन्तुत्वावच्छेदेन त्वनेकत्वमित्युपपत्तेः । ननु कुविन्दकारितसंयोगास्तनतुत्वसंकीर्णा एवेति कथं विरुद्धधर्मावच्छे-देन च्याप्यत्वावच्छेद्कत्वमिति चेन्न । आईन्धनप्रभववह्नित्वत्वावच्छेदेन धूमव्याप्यतावच्छेद्कत्ववति वह्नित्वेऽविशेषितवह्नित्वत्वावच्छेदेन व्याप्य-तावच्छेदकत्वाभावस्य वृत्त्यभ्युपगमात् । एवं कार्यकारणानन्यत्ववादेऽ-प्येकस्मिन्नेव इच्ये तन्तुत्वावस्थाप्रापकांशसंयोगविशेषावच्छेदेन तन्तुत्वं तन्तुत्वावच्छेदेनानेकत्वं च । पटत्वप्रापकतन्तुसंयोगविशेषावच्छेदेन पटत्वं पटत्वावच्छेदेनैकत्वं चेति पटत्वतन्तुत्वयोरेकत्वानेकत्वयोश्च समावेशो-पपत्तेर्न कश्चिद्दोपः। ननु संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवाद्पसङ्ग इति चेत्। असत्कार्यवादिमतेऽप्युत्वत्तेकत्वत्तिमत्वेऽनवस्था स्यात्। उत्पत्ति-राहित्ये सत्कार्यवाद्प्रसङ्गः। अस्माकं त्ववस्थायाः पृथक्प्रतिपत्तिकार्य-योगानर्हत्वात्पृथगुत्पत्त्यादिकं नापेक्षितम् । अस्मन्मते घटस्योत्पत्तिर्नाम घटत्वावस्थासंबन्ध एव न त्वसतः सत्त्वरूपम् । अत उपादेयमुपादाना-द्नन्यदेव । 'भावे चोपलब्धेः' [ऋ० सू० २।१।१५] । हिर्ण्यकुण्डला-दिकार्यभावेऽपि तद्वेदं हिरण्यमिति प्रत्यभिज्ञारूपोपलब्धेः सस्वाद्भेद एवेत्यर्थ: । 'सत्त्वाचावरस्य' बि० सु० २।१।१६] । अवरस्य कार्यस्य

कारणे तादातम्येन संबन्धेन सत्त्वाञ्चोपादानादनन्यदुपादेयम् । 'सदेव सोम्येद्मग्र आसीत् ' [छा० ६।२।१] इति कार्ये नप्टेऽपि कारणे कार्य-तादात्म्यप्रतीतेरित्यर्थः । 'भावे चोपलब्धेः' [ब० सू० २।१।१५] इति सूत्रे कार्यद्शायां कार्ये कारणतादात्म्यप्रतीतिः प्रमाणतयोपन्यस्ता। उत्तरसूत्रे तु कार्यनाशानन्तरमपि कारणे कार्याभेद्पतीतिः प्रमाणतयो-पन्यस्तेति विवेकः । 'असद्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ' 'युक्तेः शब्दान्तराच' [ब० सू० २।१।१७।१८]। ' असद्दा इद्मग्र आसीत्' [तै॰ २।७] । ' इदं वा अग्रे नैव किंचनाऽऽसीत्' इति जगतः सृष्टेः । वागसत्त्वव्यपदेशात्सृष्टेः प्रागपि सत्तोषादानेनोपादेयस्यैक्यं नोप-पद्यत इति चेन्न । नामक्रपविभागलक्षणधर्मान्तराभावमादायासत्त्वव्यप-देशोपपत्तेः। जगतः सन्त्रं नामक्षपभाक्त्वम्। असन्त्रं नामक्षपविरो-धिनी सूक्ष्मावस्था न तु सर्वात्मनाऽसत्त्वम् । कुत इद्मवगम्यत इति चेत्-"वाक्यशेपात्"। 'इदं वा अधे नैव किंचनाऽऽसीत्' इत्यत्र 'तद्स-देव सन्मनोऽकुरुत' इति वाक्यशेषे मनःकर्तृत्वप्रतिपादनात् । 'युक्तेश्च' घटस्य सर्वं हि नाम घटत्वावस्थासंबन्धः। असत्त्वं नाम तद्विरोधिकपा-लत्वचूर्णत्वाद्यवस्थासंबन्ध एव न हि तन्द्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते । 'शब्दान्तराख' 'कुतस्तु खलु सोम्यैवश स्यादिति होवाच ' [ छा० ६।२।१] इति तुच्छत्वं प्रतिक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा०६।२।१] इति स्थापितत्वात्। 'तद्धेवं तर्द्यव्याकृतमासीत्त-न्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' [ बृ०१।४।७ ] इतिसुस्पष्टमभिधानाच । 'पटवच ' [ब॰ सू॰ २।१।१९] । यथा तन्तव एव व्यतिपङ्गविशेषभाजः पट इति नामक्षपकार्यादिकं भजनते तद्वद्वद्वापि । 'यथा च प्राणादि' [ब० सू० २।१।२०] यथा वायुरेक एव शरीरे वृत्तिविशेषं भजमानः प्राणापानादिनामरूपकार्यान्तराणि भजते तद्वदेकमेव बह्म विचित्राभि-रत्र सरूपं जगद्भवतीति परमकारणात्परस्माद्भक्षणोऽनन्यत्वं जगतोऽभ्यु-पगन्तव्यमिति स्थितम् । तथा प्रथमाध्याये प्रकृत्यधिकरणे-लोके घटकर्तुः कुलालस्योपादानत्वाद्र्शनाज्यगत्कर्तुः परमात्मनो जगदुपादा-नत्वं न संभवति । किं च निष्कलतयाऽपरिणामिनः परमात्मनः परिणा-मित्वलक्षणोपादानत्वासंभवाच बह्मणो नोपादानत्वस् । अपि तु 'अस्मा-नमायी सुजते विश्वमेतत्तासमंश्र्वान्यो मायया संनिरुद्धः' [श्वे० ४।९ ] 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् '[श्वे० ४। १०] इति

श्रुतिवशात्परिणामसमर्थप्रकृतिरेवोपादानमीश्वरस्य तु तद्धिष्ठातृत्वमा-बमेवेति प्राप्त उच्यते-'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाहरान्तानुपरोधात्' [ब०सू०१।४। २३ ] प्रकृतिश्रोपादानं च ब्रह्मैव । इतरथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रति-ज्ञाया मृत्पिण्डादिदृष्टान्तस्य चोपरोधप्रसङ्गात्। न ह्युपादानभूतमृत्पिण्ड-ज्ञान इव निमित्तभूतद्ण्डाद्जाने तत्कार्यं घटशरावादिकं ज्ञातं भवति। अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञया मृत्यिण्डादिदृष्टान्तस्वारस्येन च ब्रह्मजगतोरुपादानोपादेयभाव एवावसीयते । न चास्य ग्रामस्य प्रधान-भूते चैत्रे हुछे सर्वे ग्रामस्था हुष्टा इति व्यपदेशवद्घ्यणः सर्वप्रधानतया तस्मिन्दृष्टे सर्वं विदितप्रायमित्युक्तिरूपपद्यत इति वाच्यम् । यदि ह्यत्र सर्वविज्ञानं प्राधान्याभिपायं गौणं स्यात्तदा प्रधानज्ञानेन सर्वमन्यद्प-धानमविदितमपि फलतो विदितपायं भवतीत्यस्यार्थस्य लोकसिद्धत्वे-नैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुषपत्तिं पश्यतः श्वेतकेतोः 'कथं नु भगवः स आदेश: '[ छा० ६।१।३] इति प्रश्नो न स्यात्। अमिप्रायान-भिज्ञेन कृतेऽपि प्रश्ने पाधान्याद्वा साहुश्याद्वा सर्वं ज्ञातं स्यादित्येव प्रतिवक्तव्यं स्याञ्च तु 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन ' [ छा० ६ । १ । ४ ] इति । अतो बह्मोपादानमेव । 'अभिध्योपदेशाच ' [ ब० सू० १।४।२४]। 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय '[ छा०६।२।३] इति बह्मण एव संकल्पपूर्विका सृष्टिरुपदिश्यते। न हि कुलालादेरी-हशसंकल्पपूर्विका सृष्टिः संभवति । 'साक्षाञ्चोभयाव्नानात् । ' [ब०सू० १ । ४।२५] । 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्ट-तक्षः। मनीषिणो मनसा विववीमि वः। ब्रह्माध्यतिरुद्धवनानि धारयन्।' इति हि श्रूयते । यत उपादानाद्यावाष्ट्रियीशव्दोपलक्षितं कृत्सनं जगद्भद्धा निष्टतश्चः । निष्टतश्चर्निर्मितवानित्यर्थः । वचनव्यत्ययश्चान्द्सः । ताहशवृक्षस्थानीयद्यावाष्ट्रियादिजगदुपादानमपि बह्मैव । तस्यो-पादानभूतस्य वृक्षस्याऽऽधारभूतं वनमपि बह्मैव । भूवनानि धारयन्नीः श्वरो ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वात्मानमेवाध्यतिष्ठादित्यर्थः । अत्रश्चाधिष्ठेयमुपक-रणादिकमपि बह्मेंदेत्यर्थः । ' आत्मकृतेः ' [ ब० सू० १ । ४ । २६ ]। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत '[२।७।१]। इत्यात्मन एव बहुत्वकर-णात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च । न हि कुलाल आत्मानं स्वयमकुर-तेति व्यपदेशोऽस्ति । ननु 'निष्कलं निष्क्रियम् ।' [श्वे०६।१९] इति निर-वयवस्यापरिणामिनः कथं परिणामित्वलक्षणसुपादानत्वं स्यात्तत्राऽऽह-

'परिणामात्' [ब०सू०१।४।२६] निर्विकारत्वाद्यविरोधिपरिणामविशेष-संभवादित्यर्थः । अयं भावः—' निष्कलं निष्कियं शान्तम् '[श्वे०।६ । १९ ] इत्यादिभिः परमात्मनो निर्विकारत्वं प्रतीयते, पूर्वोक्तसूत्रोदाहृत-श्रुतिभिः पपञ्चोपादानत्वं च प्रतीयते । उभयमपि यथोपपद्यते तथोप-पाद्नीयम् । परमात्मनश्च निर्विकारत्वं श्रूयते-' विकारजननीमज्ञामष्ट-रूपामजां ध्रुवाम् ' ' अजामेकां लोहितशुक्ककृष्णाम् ' [ श्वे० ४ । ५ ] ' अस्मान्मायी सूजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ' [श्वें०४।९] 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ' श्विं०४।१०] इत्यादिवाक्येषु प्रपञ्चोपादानतया परिणामिनि प्रकृतिः प्रतीयते । तत्र परि-णममानप्रकृतिरूपोपादानावरुद्धे प्रपञ्चे साक्षात्कारणत्वासंभवात्तद्द्वारा बह्म कारणमित्यवसीयते । यथा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इति पुरोडाशा-वरुद्धे यागे बीहीणां कारणत्वं साक्षात्कारणत्वासंभवात्पुरोडाशद्वारा पर्यवस्यति तद्वत् । ननु भवत्वन्यद्वारा कारणत्वनिर्वाहो व्यापारव्यवधा-नेऽपि कारणत्वाक्षतेः। उपादानत्वं तु नान्यद्वारा संभवति। माव्यवस्था-वतः पूर्वावस्थायोगित्वं ह्युपादानत्वम् । अवस्थाश्रयत्वज्ञून्ये परमात्मनि कथमुपादानत्वमिति चेन्न। परमात्मश्रितायास्तच्छक्तिभूतायाः प्रकृतेरव-स्थाश्रयत्वेन परमात्मनोंऽप्यवस्थाश्रयत्वोपपत्तेः । ततश्र ब्रह्मणि साक्षा-द्विकाराभावमादायापरिणामित्वनिर्विकारत्वश्चतयश्चोपपन्नाः । शक्तिश-रीरादिशब्दितायाः प्रकृतेर्बह्मणश्चाभेदोपचारेण वा, प्रकृतिगताव-स्थायाः परम्परया ब्रह्माश्रितत्वेन वा ब्रह्मणः परिणामोपादानत्व-वादा बह्योपादानत्वावलम्बनाश्च 'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ' [ब० स्० २।१।४] 'क्रत्स्रप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोषो वा' [ब॰ सु॰ २।१।२६] इत्याद्याक्षेपपरिहाराश्चोपपन्नाः । योनिश्च हि गीयते' [त्र० सू० १।४।२७] । 'यद्भूतयोनिं परिषश्यन्ति धीराः' [मु० १।१।६] इति योनिरुपादानमिति हि बह्म गीयते। योनिशब्दस्योपा-दानवचनत्वम् 'यर्थोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' [मु० १।१।७] इति वाक्यशेषाद्वगम्यते । अतश्च ब्रह्मेव निमत्तमुपादानं चेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ६ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धचर्थं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तदुपादेयत्वं वक्तं प्रवृत्तस्तेजोबन्नात्मकसकलाचेतनवर्गस्य तदुपादेयत्वमुक्त्वा चेतनवर्ग-स्यापि तद्वपादेयतां प्रतिपादयितुं प्रस्तौति-

> उदालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमु-वाच स्वशान्तं मे सोम्य विजानीहीति।

स्वप्नान्तं सुषुप्तिं प्रतिपाद्यतो मम वाक्याद्विजानीहीति पिता पुत्रमाह स्मेत्यर्थः । एवं शिष्यावधानार्थं प्रतिज्ञायाऽऽह-

यत्रेतत्पुरुषः स्वपिति नाम।

यत्र यदा पुरुषः स्विपतीत्येतन्नाम भवति पुरुषः स्विपतीतिशब्दो यदा प्रयुज्यत इत्यर्थः । पुरुषस्वापो यदेति यावत् । नामशब्दः प्रसि-द्भचर्थो वा।

सता सोम्य तदा संपन्नो भवति।

तदा तस्मिन्स्वापका छे सदेव सोम्येति प्रकृतेन सता संगतो भवति तस्या एव सत्संपत्तेः सति लयक्षपत्वं स्वपिति नाम निर्वचनानुगुणं विवृणोति-

### स्वमपीतो भवति।

अत्र स्वशब्दस्तावन्न जीवमात्रपरः। 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इति स्थानप्रमाणेन सच्छव्दस्वशब्दयोरेक-विषयत्वावश्यंभावात् । सच्छव्दस्य चास्मिन्प्रकरणे परमात्मविषयत्वा-त्स्वशब्दोऽपि तत्पर एव । ननु जीवभिन्नत्वात्परमात्मनस्तस्य कथं जीवं प्रति स्वत्वमिति चेदुच्यते-द्वमनुष्यादिनामरूपाभिमानरागलोमाद्यगु-णबहिर्दु:खज्ञानप्रसरवज्जागरितावस्थजीवविशिष्टः परमात्मा देवमनु-ष्यादिनामरूपरागद्वेपलोभमोहाद्यौपाधिकबाह्याभ्यन्तराकाराभिमानका-लुष्यरहितजीवशरीरकः सन्नात्मन्यन्तर्भूत इत्यर्थ इति 'स्वाप्ययात्' बि० सू०१।१।९] इति सूत्रे व्यासार्थैव्याख्यातत्वान्नानुपपत्तिः । अत्र त्वपि-पूर्वस्थेतेर्लयार्थस्य सकर्मकत्वात्स्वमपीत इति द्वितीया।

तस्मादेन स्विपितीत्या चक्षते स्वश् ह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

हि यस्मात्स्वस्मिहानो भवति तस्मात्स्वपितीति लौकिका आचक्षत

इत्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वपिधातोनिष्पन्नः स्वपितिशब्दो न तु स्वशब्दो-पपदाद्पीतेस्तथाऽप्यशनायादिनिर्वचनवद्र्थवाद्रूपत्वमुपपद्यत इति द्रष्ट-व्यम् । अत्र जीवस्य परमात्मनि लयप्रतिपाद्नात्तेजोबन्नादिवज्ञी-वस्यापि तदुपादेयत्वात्तज्ञानेन ज्ञातत्वमुपपादितं भवति । ननु ' यत्रै-तत्पुरुषः स्विपिति नाम ' इति पुरुषशब्द्निर्दिष्टस्यैव स्वशब्द्न परामर्छ-व्यतया पुरुषशब्दस्य जीवमात्रविश्रान्तत्वेन स्वशब्दस्यापि तत्पर्यन्त-त्वमेवोचितञ् । न च पुरुषपद्स्यापि ब्रह्मपर्यन्तत्वकल्पनं युक्तम् । ' यत्रैतत्पुरुप: स्विपिति नाम ' ' तस्मादेन स्विपितीत्याचक्षते ' इत्युप-क्रमोपसंहारयोर्लोकिकपसिद्ध्यनुवादाहौकिकानां ब्रह्मणि तत्प्रसिद्धेर-भावात् ' सति संपद्य न विदुः ' [ छा० ६। ९। २ ] ' सत आगम्य न विदुः ' [ छा० ६ । १० । २ ] इत्युत्तरखण्डयोः प्रतिपाद्यमानस्या-ज्ञानस्य ब्रह्मान्वयासंभवाच ' पुरुषः स्विपति नाम ' इति वाक्यस्थपुरु-पशब्दस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वाभावेन स्वशब्दस्यापि न ब्रह्मपर्यन्तत्वं संभवति । किंच 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति 'इति वाक्ये सच्छिब्दिते बह्मणि स्थूलावस्थजीवविशिष्टपरमात्मलयपतिपाद्ने तत्तुल्यार्थत्वेना-भ्युपेते ' प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः ' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इति वाक्येऽपि परिष्वक्तत्वमपि जीवशरीरकस्य ब्रह्मण एव स्यात्। न चेटापत्ति:। 'सुपुष्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ' [ ब० सू० १ । ३ । ४२ ] इति सूत्रे परिष्वञ्जकेन प्राज्ञेन परिष्वज्यमानस्याज्ञस्य जीवस्य मेद्रपतिपा-दनं विरुध्यत इति चेदत्र केचित्-शास्त्रानिभज्ञलौकिकप्रसिद्धेर्देह-व्यतिरिक्ते जीवेऽप्यभावाद्भिज्ञप्रसिद्धिरेव स्वपितीत्याचक्षत इत्यनुरु-ध्यते । अभिज्ञप्रसिद्धिश्च परमात्मविषयाऽपि संभवति । 'संपद्य न विदु: ' इत्यग्रिमखण्डे प्रतिपाद्यमानमज्ञानमपि जीवद्वारा ब्रह्मणि संगच्छते । ' प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः ' इति प्रतिपाद्यमानस्य परि-प्वङ्गस्य सत्संपत्तेश्चैक्यमपि नाभ्युपगन्तव्यम् । 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' ' प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः ' इत्यनयोरैकार्थ्योक्ति-श्रोभयोरपि सुपुतिविषयत्वादुपपद्यते, न तु सर्वात्मनैकार्थत्वं ' सुपुप्त्युत्क्वान्त्योभेंद्रेन ' इति सूत्रं विरुध्येत । अतः ' पुरुषः स्विपिति नाम ' इत्यत्रापि पुरुषशब्दो ब्रह्मपर्यन्त एव । अतः स्वशब्दस्य ब्रह्मप-र्यन्तत्वे नानुपपत्तिरिति व्यासार्योक्तिं समर्थयन्ते । ' सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सद्यतनाः सत्प्रतिष्ठाः'[छा०६।८।४]'ऐतदात्म्यमिद्र सर्वं

तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो' [ छा०६।८।७ ] इति वाक्यविवरणप्रवृत्तेन मगवता माष्यकृता महासिद्धान्ते तत्त्वमसीत्यत्रो-हेश्योपादेयविमागः कथमिति चेन्नात्र किंचिदुहिश्य किमपि विधीयते 'ऐतदातम्यमिद् सर्वम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य, ऐतदाम्यमिति तस्यैप आत्मेति तन्नेव प्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरुक्तः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदा-यतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति 'सर्वं खिल्वदं बह्म तज्जलानिति शान्त उपा-सीत' [ छा० ३ । १४ । १ । ] इतिवदिति मापितम् । अत्र व्यासार्थैः 'सन्मूलाः सोम्थेमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति वाक्ये सर्व-शब्देन प्रजानां विशेषितत्वात्प्रजाशब्द्स्य चाचित्संसृष्टचेतनविशेषपर-त्वात्। 'इदं सर्वमसृजत' [ बृ० १।२। प। ] इति वाक्यान्तरे विज्ञा-नाविज्ञानशब्दवाच्यचिद्चिद्दात्मकस्य जगतः सर्वशब्देन निर्देशाच प्रजा-शब्देन सजीवं जगिर्त्रीद्श्यते । सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठा इत्यपि पदद्वयं सच्छ-ब्द्वाच्यवसाधीनोत्पत्तिलयत्वपरम् । प्रतिष्ठा निष्ठा पर्यवसानं लय इति यावत् । सदायतना इति सदाधारकत्वमुच्यते । अनेन जगतः शरीरत्वं फलितम् । तत्कथमिति चेंदित्थम् । उत्पत्तिलयहेतुत्ववाचिपदद्वयमध्य-गतेन स्थितिहेतुत्ववाचिना सदायतना इति पदेन स्थितिहेतुधारकत्वं सिध्यति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावाष्ट्रथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' [ बृ॰ ३।८।९ ] इति तिष्ठतिधातूक्तस्थितेः प्रशासनेन धार-णाधीनत्वावगमात्तस्य च प्रशासनस्य 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् '। इत्यन्तः प्रवेशपूर्वकत्वावगमात्सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनान्तः प्रवेशशासनधा-रणानामन्यतमोक्तावपीतरयोः फलितत्वात्, सदायतना इत्यनेन धारक-त्वोक्तावप्यन्तःप्रविश्य शासनेन धारकत्वलक्षणात्मत्वस्य फलितत्वाज्ज-गतः शरीरत्वं फलितम् । 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः' इति द्वाभ्यां सदुपादानकत्वम् । सदायतना इत्यनेन सदन्तर्यामिकत्वमुपा-दानोपादेयमावस्याभिन्ननिष्ठत्वात् । प्रजाशब्देनाचित्संसृष्टजीवमात्रिपरा-मर्शे तस्य सदुपादानकत्वासंमवात्प्रजाशब्देनापि प्रजाशरीरकं बह्मैवो-च्यते । सङ्गयतना इत्यत्र सदन्तर्यामिकत्वस्य शरीरमृतचिद्चिनमात्रनि-ष्ठत्वेन चिव्चिच्छरीरक ब्रह्मनिष्ठत्वा भावात्सवायतना इतिवाक्यानुपक्त-प्रजाशब्देन शरीरभूतचेतनाचेतनमात्रमेवाभिधीयते । तथा—'सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठाः ' इत्युपाद्गनत्वप्रतिपाद्कवाक्ये विशिष्टस्यैवोपादानत्वात्स-

च्छब्वेन सूक्ष्मचिद्चिद्विशिष्टमेवोच्यते । सदायतना इत्यन्तर्यामित्वप-तिपाद्कवाक्ये विशिष्टस्यान्तर्यामित्वासंभवात्सच्छब्देन विशेष्यमाञ्रमे-वाभिधीयते । तज्जत्वात्तल्लत्वात्तद्नत्वात्सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यत्रापि तज्जत्वात्तल्वादित्युपादानत्वपतिपादकांशे विशिष्टयोरेवोपादानोपादे-यत्वात्सर्वशब्दोऽपि विशिष्टपरः । तच्छब्दोऽपि विशिष्टपरः । सर्वमिदं तदनत्वाद्वह्मोति तदन्तर्यामित्वप्रतिपादकांशे तु विशिष्टयोः शरीरशरी-रिभावासंभवात्सर्वमिद्।मितिशब्देन शरीरभूतं जगदेव परामृहयते । तदितिशब्देन केवलविशेष्यभूतं बह्मैवोच्यते ' ऐतदात्स्यमिद् सर्वम् ' ि छा० ६। ८। ७ ] इत्यञ्च, एष आत्मा यस्य तदैतदातम्यमित्य-र्थस्य वर्णनीयतया विशिष्टस्याऽऽत्मत्वाभावादेतच्छब्देन विशेष्य-मात्रं परामुश्यत इति व्यासार्थेकक्तमेतत्सर्वं गत्यभावादङ्गीकार्यम् । कृत्सस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वेन तद्नतर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्या-त्तत्प्रत्यनीकनानात्वं निषिध्यत इति महासिद्धान्तभाष्यव्याख्यानावसरे च व्यासार्थै:-यस्य ब्रह्मकार्यत्वं विशिष्टस्य, न तस्य तदन्तर्यामिकत्वं यस्य ब्रह्मान्तर्यामिकत्वं विशेषणस्य, न तस्य ब्रह्मोपादेयत्वं ब्रह्मान्तर्या-मिकत्वस्य विशेषणमात्रनिष्ठत्वादिति परिचोद्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वा-दिति श्रूयमाणो जगच्छव्दो विशिष्टपरः, तद्न्तर्यामिकत्वेनेत्यत्र विशे-पणमात्रवाची निष्कर्षको जमत इति शब्दोऽध्याहर्तव्य इत्युक्त्वाऽस्मि-न्पक्षे बहुवैरूप्याश्रयणक्केशं पर्यालोच्य बह्मकार्यत्वेन बह्मान्तर्यामिकत्वे-नेत्युभयत्रापि जगत इति निष्कर्षक एव शब्दः। न च निष्कृष्टस्य विशे-षणमात्रस्य जगतस्तद्न्तर्यामिकत्वोषपत्तावपि तदुपादानकत्वं न संभव-तीति वाच्यम् । भाव्यवस्थाश्रयस्यैवोपादेयतया तच्छरीरभूतस्य जग-तोऽपि भाव्यवस्थाश्रयत्वेन ब्रह्मोपादेयत्वं संभवतीति प्रतिपादितम् । अस्मिनपक्षे वैद्यपादिक्केंशाश्रयणाभावाद्यमपि पक्षो युक्त इत्यस्माभिन र्मुण्डकोपनिपत्पकाशिकायां प्रतिपादितः । अस्मिन्पक्षे 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सद्यायतनाः सत्यतिष्ठाः ' इति सदुपादानकत्व-सदात्मकत्वप्रतिपादकवाक्ये प्रजाशब्दः केवलचिद्चिन्मात्रपरो न तु बह्म-परः । सच्छब्दोऽपि केवलब्रह्ममात्रपरः । ततश्च केवलस्य ब्रह्मणः केव-लचिद्चित्पपञ्चस्य च पूर्वोत्तरावस्थाश्रयहेतुहेतुमद्रूपतयोपादानोपादेय-भावोऽप्यस्ति तद्पृथक्तिः द्वकारणत्वस्यैय तदुपादानत्वस्वपत्वाद्विशेष्यस्य बहाणो विशेषणापृथक्सिद्धकारणत्वेनोपादानत्वस्यैव युक्तत्वात् । ऐत-

दातम्यमिदं सर्वभिति वाक्येऽपीदं सर्वमिति केवलचिद्चिदात्मकः पपञ्चः परामृश्यते । एतच्छब्देनापि केवलं विशेष्यमिति न पूर्ववाक्यवैक्स-प्यम्। नन्वेतदातम्यसिद्मित्यत्राऽऽत्मशब्देन किं स्वरूपसुच्यत उत नियन्तु-त्वम् । नाऽऽद्यः । चिद्चित्प्रपश्चस्य बह्मस्वरूपत्वाभावात् । न द्वितीयः । शरीरात्मभावे 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सद्ययतनाः सत्प्रतिष्ठाः ' इति पूर्ववाक्योक्तसद्वपादानकत्वसदन्तर्यामिकत्वयोर्हेतुकरणं विरुध्येत। न चेष्टापत्तिः । तत्र च हेतुरुक्तः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदा-यतनाः ' इति भाष्यविरोधपसङ्गात् । ' सर्वं स्वल्विदं ब्रह्म तज्जला-निति '[ छा० ३ । १४ । १ ] इति श्रुतावेव च सदुपादानकत्वसदन्त-र्यामिकत्वयोः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे हेतूकरणादिति चेन्न । विशिष्टयोरेवो-पादानोपादेयभाव इति पक्षेऽप्यस्य दोषस्य समानत्वात् । कथं तर्ह्यस्य द्रोपस्य निस्तार इति चेदुच्यते-आत्मशब्दो व्याप्यवचनः ' अहश्येऽ-नात्म्येऽनिरुक्ते ' ति० २।७। १ ] इत्यन्नाऽऽत्मशन्दस्य व्याप्यार्थः कत्वाश्रयणात् । ऐतदात्म्यसुपादानभूतेनान्तर्यामिभूतेन च ब्रह्मणा व्याप्यमित्यर्थः । मृदा कुम्भादिकं यथेत्युपादानस्यापि व्यापकत्वप्रसिद्धेः । एतदातमैवैतदातम्यं स्वार्थे घ्यञ् । एप आत्मा यस्येति पक्षेऽपि स्वार्थे ष्यञ आश्रयणीयत्वात् । अस्मिश्च पक्षे ' ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ' ' स आतमा ' इत्यनयोर्न पौनरुक्त्यशङ्का । अत एव रामानुजं लक्ष्मणपूर्व-जातमितिवदाद्रातिशयादुपपद्यत इति परिहाराश्रयणक्केशोऽपि नाऽऽश्र-यणीय:। 'तत्सत्यम् ' [ छा०। ६। ८। ७ ] एतदात्मकत्वमेव सत्यं प्रपञ्चस्य प्राप्ताणिकसित्यर्थः । ' ऐतदात्स्यमिद् सर्वं तत्सत्यम् ' इति वाक्यस्यैवं वाऽर्थः —सत्यं प्रमाणप्रतिपन्नं तदिदं सर्वं जगदैतदातम्य-मनेन बह्मणा व्याप्तमित्यर्थः । अञासत्यस्य शशशृङ्गादेस्तुच्छस्य व्याप्त-त्वाभावेऽपि प्रमाणप्रतिपञ्चस्य सर्वस्यापि ब्रह्मव्याप्तत्वमस्तीति भावः। स आत्मा नियन्तेत्यर्थः । विद्योष्यस्य विशेषणांशं प्रत्युपादानत्वमस्ती-त्यस्मिन्यक्षे ' सद्व सोध्येद्वम आसीत् ' [ छा० ६ । २ । १ ] इत्य-चेद्ंशब्द्स्य कथमश्रुतवेदान्तं श्वेतकेतुं प्रति बह्मपर्यन्तप्रतीतिजनकत्व-मिति शङ्काया अपि नावकाशः । ननूक्तरीत्या भिन्नयोरुपादानोपादे-यभावसमर्थनेऽपि ' सदेव लोध्येद्मम् आसीत् '[ छा० ६ । २ । १ ] 'सर्वं खितवदं बह्म ' [ छा० ३ । १४ । १ ] इति परस्परिमञ्जविशेष-णविशेष्यवाचिनोर्जगद्वद्मवाचिशब्दयोः कथं सामानाधिकरण्यमिति

चेन्न । अपृथक्सिद्धवाचित्वस्यैव सामानाधिकरण्यप्रयोजकतया लोकवे-द्योर्द्रप्टत्वात् । चिद्चित्पपञ्चस्य तच्छक्तित्वेन तच्छरीरकत्वेन च तयो-रमेदोपचारेणामेदनिर्देशानां सदेवेद्मित्याविक्षपाणासुपपत्तेः शक्तिश-क्तिमतोर्दण्डघटादिवद्नत्यन्तभेदाभावात् । विशेषणभूतप्रपञ्चांशे बह्मण उपादानत्वाभावे 'न विलक्षणत्वात् '[ ब० सू० २ । १ । ४] इत्यधिकरणस्य वा ' क्रत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्द्कोषो वा ' [ ब० सू० २ । १ । २६ ] इत्यधिकरणस्य वा निरालम्बनप्रसङ्गाद्वह्मणो बह्म-प्रत्युपादानत्वे विलक्षणत्वशङ्काया वा ब्रह्मणो जगद्रपेण परिणामामावे क्रुत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्दकोपाशङ्कयोर्वाऽप्रसक्तेः । नन्वेवं 'तदनन्य-स्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ' [ ब० सू०२।१ । १४ ] इत्यधिकरणे प्रपञ्चस्योपादानभूतबह्मणाऽभेदासंभवादुपादानोपादेयाभेद्समर्थनं विरु-ध्येतेति चेत् । न तस्मिन्नधिकरण उपादानोपादेययोः स्वद्धपाभेदः संमर्थ्यते तयोरभेदे कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अपि तु तद्पृथक्सि-द्भत्वम् । तच तत्सत्ताधीनसत्ताकत्वम् । एतादृशस्यापृथक्सिद्भत्वस्या-भेद्व्यवहारप्रयोजकत्वं 'यद्धीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव मण्यते ' इति प्रमाणसिद्धमतो न तद्धिकरणविरोधः। यद्वाऽस्मन्मते स्थूलचिद्चिद्वातम-कप्रपञ्चस्येव तद्विशिष्टस्यापि बह्मण उपादेयत्वादुपादानमूतसूक्ष्मचिद्चि-च्छरीरकस्य बह्मण उपाद्यभूतस्थूलचिद्चिहिशिष्टब्रह्माभेद्समर्थनपरत-याऽऽरम्भणाधिकरणस्योपपत्तेर्न चोद्यावकाशः। वस्तुतस्तु यथा को भवा-निति सौवीरराजपद्मस्य प्रकृतिसंसृष्टात्मविषयत्वेऽपि वस्तुगत्या भवच्छ-व्दमुख्यार्थत्वं परिशुद्धात्मस्वरूपस्यैवोचितमिति मत्वा तस्यैव भवच्छव्द-मुख्यार्थत्वं प्रदर्शयन्नादिभरतः-'यदा समस्तभूतेषु पुमानेको व्यवस्थितः' इति प्रत्यवोचत् । यथा वाऽथर्वशिरसि रुद्धं प्रति देवै: प्रयुक्तस्य को भवानिति प्रश्नस्य पुरोवर्तिरुद्रमाञ्चपरत्वेऽपि भवच्छव्द्स्य परमात्मपर्य-न्तत्वशिक्षणाय 'अहभेकः प्रथममासम् ' इत्यादिप्रतिवचनप्रवृत्तिः। एवमेव ' इदमग्र आसीत् ' इतीदंशब्दस्य विशेषणमाञ्चपरत्वे प्राप्ते विशे-प्यपर्यन्तत्वशिक्षणाय स्थलचिदचिच्छरीरं बह्म प्रति सुक्ष्मचिदचिच्छरी-रकं बह्मोपादानमित्येतद्र्थप्रतिपादकस्योत्तरसंदर्भस्य प्रवृत्तौ दोषाभावा-दिति द्रष्टव्यम् । अयं चार्थः ' तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याकियते ' [ बू० १ । ४ । ७ ] इति श्रुतिव्याख्यानावसरे बृहदारण्य-कपकाशिकायां प्रतिपादितस्तत्रानुसंघेयः । अतश्चाऽऽरम्भणाधिकरणे

तद्नन्यत्विसित्यनेन 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ' इति-वद्षृथिक्सिद्धत्वलक्षणाभेद्स्यैव समर्थितत्वात्तावतैवैकविज्ञानेन सर्ववि-ज्ञानप्रतिज्ञोषपत्तेश्वापृथिक्सिद्धकारणत्वस्यैवोपादानशब्दार्थत्वादिह च 'यत्रैतत्पुरुषः स्विपति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो मवति स्वमपीतो भवति ' इत्यन्न पुरुपशब्दितस्य कार्यावस्थिजीवस्य कारणावस्थस्वश-ब्दितजीवविशिष्टतया स्वशब्दवाच्येन परम्परया स्वावस्थाश्रयतयोपादा-नभूतेन सता संपत्तेरिप सूपपादतया 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इति श्रुत्यैकार्थमिष स्वरसत एव सिध्यतीत्यलम-तिचर्चया । प्रकृतमनुसरामः ॥ १ ॥

> स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पति-त्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा वन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पति-त्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणवन्धन्थ हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

यथा पक्षिशकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण बद्धः प्रतिदिशं पित-त्वाऽऽश्रयान्तरमलब्ध्वा बन्धनं हस्तमेवाऽऽश्रयत एवमेव हे सोम्य सुपुतिकाले तत् ' अन्नमयः हि सोम्य मनः ' [ छा० ६ । ५ । ४ ] इति
प्राद्धिर्दिष्टं मनो दिशं दिशं पितत्वा जाग्रत्स्वप्रयोनीनाविधविषयग्रहणव्याप्टतं भूत्वाऽपि तत्र तत्राऽऽयतनं विश्रममलब्ध्वा विश्रमाय मुख्यप्राणेन संश्लेपविशेषमापद्यते । यतः प्राणे हि मनो निबध्यतेऽत एव हि
प्राण उत्कान्ते मनआदीनामप्यत्कामः । अतश्र सुपुत्तिद्शायां वागादीनिद्गयसहितं मनः ' वाद्धानिस संपद्यते मनः प्राणे ' [ छा० ६ । ८ । ६ ]
इति प्रयाणकालोक्तन्यायेन प्राणे संश्लेपविशेषमापन्नं सदुपरतव्यापारं
भवति । सुपुतिद्शायां प्राणमात्रमनुपरतव्यापारमास्ते 'स यदा स्विपिति
प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षः प्राणः श्रोत्रं प्राणं मनः ' [ छा० ४ ।
३ । ३ ] इति श्रुतेः ॥ २ ॥

एवं जीवस्य परमात्मोपादेयत्वसिद्ध्यर्थं सुपुतिकाले परमात्मसंपत्तिं तत्मङ्गाद्वागादीन्द्रियाणां प्राणे संश्लेपविशेषं च प्रतिपाद्याशनायादिना-मनिर्वचनमुखेनापि परमात्मनो जगन्मूलतामुपपादयति—

अशनायापिपासे में सोम्य विजानीहीति।

स्पष्टोऽर्थ: ।

यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाऽऽप एव तदशितं नयन्ते ।

यत्र यदा पुरुषोऽशिशिषतीत्येतन्नाम पुरुषोऽशिशिषतीति शब्दं यदा लोकाः प्रयुक्तत इत्यर्थः। यदा पुरुषस्याशिशिषा भवतीति यावत्। नाम-शब्दः प्रसिद्धार्थो वा तदाऽऽपस्तद्शितं नयन्ते जीर्णतां प्रापय्य रसकः-पेण शरीरं नयन्ते । तेनाशिते जीर्णे पुनरशिशिषा जायत इत्यर्थः ।

> तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति ।

गां नयतीति गोनायः । यथा गोनेतारं गोनाय इत्याचक्षते, यथा वाऽश्वनेतारं पुरुषनेतारं चाश्वनायः पुरुषनाय इत्याचक्षते लौकिका एव-मशितनेत्रीरपोऽशयनायेत्याचक्षत इत्यर्थः ।

तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित सोम्य विजानीहीति ।

द्वीभूतेऽद्भी रसभावं नीतेऽन्न उत्पन्नमेतच्छरीरारव्यं शुङ्गसदृशं कार्यं विजानीहीत्यर्थः । नन्वमूलमेवेदं भवत्वित्यबाऽऽह—

नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

कार्यमात्रस्य सकारणकत्वादित्यर्थः ॥ ३॥ तर्हि तस्यान्नातिरिक्तं मुलान्तरं कल्प्यतामित्यत्राऽऽह-तस्य क मृल १ स्यादन्यत्रान्नात् ।

कार्यशरीरस्य सन्मूलकत्वान्मूलान्तरस्यानुपलम्भादुपलब्धमन्नमेव मुलमित्यर्थः।

एवमेव खलु सोम्यानेन शुङ्गेनापो मूलम-न्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ ।

यथा शरीरेण कार्यभूतेनोपचीयमानेन तत्कारणमञ्जमनुमीयत एवमे-वान्नेन कार्येणापः कारणमनुमिनुहीति यावत् । एवमुत्तरत्रापि सत्प-र्थन्तां कारणपरम्परामनुसिन्नहीत्पर्थः । ततः किमित्यत्राऽऽह-

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ १८ ॥

एतस्यार्थः पूर्वमुक्त एव ॥ ४ ॥ अथ यत्रेतत्पुरुषः पिपासित नाम तेज एव तत्पीतं नयते तयथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति ।

पूर्ववद्रथः ।

तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितः सोम्य विजानीहीति ।
तत्र तेजसा शोष्यमाणास्वष्यत्यः देहास्यं शुङ्गमित्यर्थः ।
नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥
तस्य क मूलः स्यादन्यज्ञाद्भ्योऽद्धिः सोम्य
शुङ्गिन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य
शुङ्गिन सन्यूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः
सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यतिष्ठाः ।

पूर्ववदर्थः । ननु तेजोबन्नमूलकत्वे शरीरस्य लोहितमांसादिरूपेण परिणामः कथं स्यादित्याशङ्कयोक्तं स्मारयति—

यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति ।

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते' [ छा० ६ । ५ । १ ] इत्यादिना पूर्व-मुक्तं भवतीत्यर्थः । एवं सुपृप्तौ सत्संपत्तिं जीवस्य प्रदृश्यं प्रयाणकालेऽपि सत्संपत्तिं दृश्यति—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्म-निस संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्ते-जिस तेजः परस्यां देवतायाम् ।

प्रयतो मियमाणस्येत्यर्थः । अत्र वाचो मनःप्रकृतिकत्वासंभवाद्याः पारोपरमहेतुभूतसंश्लेपविशेष एव वाचो मनसि लयः । मनसः पाणे लयोऽपि ताहश एव। 'मनसि करणयामं प्राणे मनः पुरुषे च तं झिटिति घटयन्भूतेष्वेनं परे च तमात्मिनि' इत्युक्तरीत्या प्राणो जीवसं-पन्नः सञ्जीवेन सह तेजःशब्दोपलक्षितेषु सर्वेषु भूतेषु संपन्नो मवति। ततः परं सुखदुःखोपभोगायासविश्रमाय तेजःशब्दितानां सजीवानां भूतसूक्ष्माणां परमात्मिनं संपत्तिभवतीत्यर्थः।

### स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

् एताट्टशः सच्छिव्दितः स एषोऽणिमाऽणुवद्दुर्विज्ञेयो मानान्तरागो-चर इत्यर्थः ॥ ६ ॥

# ऐतदातम्यमिद्र सर्वं तत्सत्य स आत्मा ।

अस्यार्थः पूर्वमेवोक्तः । एवं सर्वत्र सिद्धं सदात्मकत्वं श्वेतकेता-वुपसंहरति—

### तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति ।

नतु तत्त्वमसीत्यत्र मानान्तरसिद्धत्वेनोद्देश्योपादेयविभागाभावस्य भाष्यकृतोक्तत्वात्तच्छव्दानुरोधेन प्रथमपुरुपोऽत्र स्यादिति चेदुच्यते-मानान्तरसिद्धः वेऽपि त्वंशव्दार्थस्य तच्छव्दार्थापक्षया प्रकृतित्वस्य विव-क्षितत्वात्प्रकृतेरेवास्तिक्रियाकर्तृत्वान्मध्यमपुरुषो मवति। अत एव 'यद्ग्रे स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्' इत्यत्राहं त्वं स्यामहं वा त्वं स्या इति प्रकृत्याश्रयः पुरुषो भवतीति युष्मद्युपपद इति सूत्रे प्रतिपादितम् । ततश्च त्वंशब्दार्थस्य प्रकृतित्वस्य विवक्षितत्वान्मानान्तरसदसद्भावयो-रप्रयोजकत्वात्त्वंशब्दार्थप्रकृतित्वाश्रयोऽसीति मध्यमपुरुष एव भवति । अत एव व्यासार्यै: 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ' [ ब० सू० ४ । १ । ३ ] इत्यधिकरणे तथैवोपपादितम् । न्यायपरिद्युद्धौ—स्रवर्णं खदिराङ्गा-रसदृशे कुण्डले भवत इति महामाष्यवाक्यमुदाहृत्य पुरुषस्योद्देशानु-सारित्वनियमाभावः सर्माथतः । ननु तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति संबो-ध्यस्य संबुद्धिस्तावदात्मविद्योपदेशेन श्वेतकेतुमात्रपर्यवसितेति नासं-बोध्यबोधनमिति न्यायपरिशुद्ध्युक्तरीत्या श्वेतकेतो इति संबोध्यत्वस्य परमात्मन्यसंभवेन त्वंशब्दनिर्दिष्टत्वमंपि परमात्मनो न संभवति त्वंश-द्दस्य संबोध्यातिरिक्तविषयत्वस्य काप्यद्र्शनादिति चेद्त्रोच्यते—'ऐत-दातम्यमिद् सर्वम्' इत्युक्तस्य तत्त्वमसीति विशेष उपसंहार इति भाष्ये

भाषितत्वात्तत्त्वमसीत्यत्रापि सर्वशब्दस्थानापन्नस्य त्वंशब्द्स्य संबोध्यवि-शेषभूतजीवसात्रपरत्वमेव । ऐतदात्स्यपदस्थानापन्नस्य तदित्यस्य च तदात्मकत्वमेवार्थः । ततश्च सर्वं तदात्मकमितिवत्त्वं तदात्मक इत्यर्थः । न चैवं सति तच्छव्दस्य तदात्मकत्वे लक्षणा स्यादिति वाच्यम्। अप-र्यवसानवृत्त्या त्वंशब्दस्य तद्नतर्यामिपरत्वपक्षस्यापि लक्षणापेक्षया जघ-न्यत्वात्। 'साक्षाद्प्यविरोधं जैमिनिः ' [ ब० सू० १।२।२८ ] इत्यत्र व्यासार्थेरपर्यवसानलब्धार्थस्य यौगिकार्थतुल्यत्वाश्रयणात्, यौगिकार्थस्य च रूढिपूर्वकलक्षणापेक्षया जघन्यत्वस्य प्रोह्माचिकरणे मीमांसकैराश्रितत्वास्वंशब्दस्य संबोध्यातिरिक्तविषयत्वस्य क्वाप्यद्री-नात्, श्वेतकेतो तत्त्वमसीति ज्ञयाणां पदानां प्रतीयमानसामानाधि-करण्यभङ्गपसङ्गाञ्चापर्यवसानलन्धार्थस्याऽऽश्रयणासंभवात् । अपृथक्सि-द्भवाचिनां सामानाधिकरण्यस्य लोकवेद्योर्बहुशो दृष्टचरत्वेनापृथक्सि-द्धजीवपरवाचिनोस्त्वंतच्छव्दयोः सामानाधिकरण्येन प्रयोगस्याप्युपप-त्तेर्न त्वंशब्द्रस्य परमात्मपर्यन्तत्वमाश्रयणीयम् । वस्तुतस्तु, ऐतदातम्य-मिति शब्दनिर्दिष्टं तदात्मकत्वमेव बुद्धिस्थत्वात्तच्छब्देन पराष्ट्रस्यते न तु सच्छि ब्हितं बह्म येन तदात्यकत्वलक्षणादीपः स्यात् । ततश्च त्वं तद्सि ऐतदात्म्यमसीत्यर्थः । अस्मिश्च पक्षे न कस्यापि पदस्य लक्षणा । सांप्र-दायिकास्तु स आत्मेति पूर्वनिर्दिष्टस्यैव तत्त्वमसीत्यव तच्छव्देन परा-मर्शस्योचितत्वात्तच्छव्देन सच्छव्दितात्मैवाभिधीयते । जघन्यं त्वंपदं त्वपर्यवसानवृत्त्याऽन्तर्यामिपर्यन्तमभिद्धाति । न च श्वेतकेतो इति संबोध्यस्य जीवस्यैव त्वंपदेन परामशों युक्त इति वाच्यम् । हे देवद-त्तेति देवद्त्तं संबोध्य तत्पुत्राभिष्रायेण त्वमेवं कृतवानसीति प्रयोगद्रश-नात् । इयांस्तु विशेषः । तत्र सुख्यानुपपत्या त्वंपद्स्य पुत्रे लक्षणा । इह तु तद्नुपपत्याऽन्तर्यामिण्यपर्यवसानवृत्तिराश्रीयते । ननु 'साक्षाद-प्यविरोधं जैमिनि: ' [ ब० सू० १। २। २८ ] इति सूत्रे व्यासार्येर-पर्यवसानवृत्तेयोगतुल्यत्वस्य समर्थनात्, योगस्य च स्विष्ट्वंकलक्षणा-पेक्षया दौर्वत्यस्य प्रोङ्गाञ्चधिकरणे मीमांसकैः समर्थितत्वालक्षणापेक्षया जघन्यैवापर्यवसानवृत्तिरिति चेदुच्यते । सत्यमुक्तं व्यासार्थैरपर्यवसानवृ-त्तेयींगतुल्यत्वं तथाऽपि न तस्या लक्षणापेक्षयाऽपि दौर्बल्यं प्रमाणाभा-वात् । प्रोद्वाञ्चधिकरणे प्रोद्वातृशब्द्रस्ट्यर्थस्य बहुत्वासंभवात्पाशमन्त्र इव बहुयचनमविविक्षितार्थिमिति पूर्वपक्षे ' अदितिः पाज्ञान्त्रमु-

मोक्तु ' इति पाशमन्त्रे बन्धनसाधनस्य पाशशब्द्रक्त्यर्थस्य वा यौगि-कार्थस्य वा लक्ष्यार्थस्य वाऽसंमवात्पाशानिति बहुवचनस्याविवाक्षि-तत्वेऽपि प्रोहातृपद्योगार्थस्य वा लक्ष्यार्थस्य वा बहुत्वसंभवान्न बहु-वचनस्याविवक्षायुक्ते त्वेतावन्मात्रमेव प्रोद्गातृनयसिद्धं न तु योगार्थस्य लक्षणापेक्षया दौर्वलयमपि । ततश्च योगस्य लक्षणापेक्षया दौर्वलयामा-वात्तत्तुल्याया अपर्यवसानवृत्तेर्न लक्षणापेक्षया दौर्बल्यम् । ततश्च योगार्थप्रतिबन्धिकाया रुहेरपगमे योगार्थोन्मजनस्यानिवार्यतया लक्ष-णापेक्षया योगस्य प्रावल्यमेव युक्तम् । अत एवाजामन्त्रे मग-वता भाष्यकृता न जायत इत्यजेति योग एवाऽऽश्रितो न तु पररीत्या छागत्वकल्पनम् । अत एव 'जगहाचित्वात्' [ ब० सू० १।४।१६ ] इत्यत्र 'यो वै बालाक एतेषां पुरुपाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म' कौ० बा० ४।१९] इत्यत्र कर्मशब्दस्य चलनाबृष्टयो ऋहस्य योग-रूडयोः कलहायमानयोयोंगो लब्धात्मेति न्यायमनुसृत्य कर्मशब्दस्य क्रियत इति कर्मेति जगहाचित्वभेवाऽऽधितम्। तथा—अपजूदाधि-करणेऽपि ऋढचर्थानुपपत्ती जूद्रशब्दस्य योग एवाऽऽश्रितः। ततश्च लक्ष-णापेक्षया योगस्य बलवस्वात्तनुस्याया अप्यपर्ववसानवृत्तेर्वक्षणापेक्षया च बलवस्त्रमेव । ननु 'साक्षाद्व्यविरोधं जैमिनिः' इत्यत्रैव व्यासार्थै-स्तात्पर्यालिङ्गेः परमात्मपरतया निर्णीते प्रकरणे तत्र चिद्चिच्छच्वानां बह्मपरत्वे चावश्यंभाविनि योगार्थ एदोचितो यथाऽऽकाशप्राणशब्दादौ। यत्र तु चिद्चिछिङ्गान्यपि सन्ति तत्रापर्यवसानवृत्त्या तच्छरीरकपरत्व-मिति व्यवस्थायाः कृतत्वात् । चिद्चिछिङ्गाभावस्थले योगार्थाश्रयण-स्योक्ततयाऽपर्यवसानवृत्यपेक्षया योगप्राचल्यमेवाऽऽविष्कृतिमिति चेद्स्तु योगापेक्षया दौर्बल्यमपर्यवसानवृत्तेस्तथाऽपि लक्षणापेक्षयाऽपर्यवसान-वृत्तिः प्रवर्तेव । ननु ' छन्दोभिधानात् ' [ ब०स्०१।१।२५ ] इति सूत्रे गायत्रीशब्दस्य भूतादिपाद्व्यपदेशादिबह्मि छिङ्गेर्बह्मपरत्वेऽवश्यंभाविनि सति मासाग्निहोत्रे साबुइयविधित्सयाऽग्निहोत्रशब्दस्येव चतुष्पात्त्वलक्षणः गायत्रीसाहश्यविधित्सया बह्मणि गायत्रीशब्द्स्य प्रयोगः। न च वैदि-कशब्दस्यैतावृशगीणवृत्त्याश्रयणमयुक्तमिति शङ्क्यम् । संवर्गविद्यायां 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये' [छा० ४।३।८] इति निर्द्षेषु वाय्वग्नि-स्र्यचन्द्रसिल्पाणवाक्चश्चःश्रोत्रमनस्सु द्शसु द्शस्वसंस्यासाम्यात्। 'सैपा विराडन्नादी' [ छा० ४।३।८ ] इति च्छन्दोवाचिविराट्छच्दो

गौण्या प्रयुज्यमानो हष्टः, एवं छन्दोभिधायिगायत्रीशब्दस्य चतुष्पास्व. साहरयाद्वहाणि प्रयोग उपपन्न इत्युक्तत्वाद्गीणीक्वपलक्षितलक्षणापेक्ष-याऽपर्यवसानवृत्तेरपि दौर्वल्यमेव सूत्रभाष्यकृद्भिमतमिति प्रतीयते। यदि चापर्यवसानवृत्तिर्गीणीतः प्रवला तर्हि तया गायव्यवस्थबह्मपरत्वस्य वक्कं सुशकतया गौणी वृत्तिर्नाऽऽदर्तव्या स्यादिति चेञ्च । अपर्यवसान-वृत्त्या गायत्रीशन्दस्य गायत्र्यवस्थबह्मपरत्वे तस्य सर्वभूतात्मत्वासंम-वेन केवलबहाणि गौण्याश्रयणस्य युक्तत्वात्। न च गायव्यवस्थत्व-वेषेण सर्वभूतात्मत्वाद्यसंभवेऽपि बह्मस्वरूपे सर्वमृतात्मत्वं संभवत्येव । अत एव दहरविद्यायां हृद्याविच्छन्नस्य ब्रह्मणस्ताद्रृप्येण बाह्याकाश-वैपुरुवासंभवेऽपि स्वरूपेण बाह्याकाशवैपुरुवम् । 'यावान्वा अय-माकाशस्तावानेषोऽन्तर्ह्वय आकाशः ' [ छा० ८।१।३ ] इति संद्र्भे पतिपादितं संभवतीत्य अपुषेतम् । तथा शाण्डित्यविद्यायाम् — 'एप म आत्माडन्तर्हृद्येडणीयान्' [ छा० ३।१४।३ ] इत्यल्पत्वेन निर्दिष्टस्य ब्रह्मणः स्वरूपामित्रायेण ' एव म आत्माऽन्तर्हृद्ये ज्यायान्यृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' [छा० ३।१४।३] इति पृथित्यादिभ्योऽपि ज्यायस्त्र-मुक्तम् । किं बहुना सर्वास्वरुपायतनविद्यासु 'आनन्दाद्यः प्रधानस्य' बि क सूर्व ३।३।११ ] हत्यधिकरणन्यायेन सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादी-नामुपसंहर्तव्यत्वात्तत्र चाल्पायतनस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेणाऽऽनन्त्यः मपि संभवतीत्यानन्त्योपासनस्याऽऽश्रितत्वाच । तद्वयायेन गायच्यव-चिछन्नत्ववेपेण सर्वभूतातात्वासंभवेऽपि स्वरूपेण सर्वभूतात्मत्वसंभवाच। अपर्यवसानवृत्तावनुपपन्यभावाद्वायजीशव्दस्यापर्थवसानवृत्त्यनाश्रयणं त-हौर्बल्यकारितभेवेति वाच्यम् ।

गायव्यविक्छित्रस्य ब्रह्मणः स्वरूपेण सर्वभूतात्मत्वोपपादनं क्किशसा-ध्यमित्यिभिषायेणापर्यवसानवृत्त्यनाश्रयणसंभवात् । अत एव 'आक्राशा-द्वयेव खित्वमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादावाकाशशब्देऽपर्यवसानवृत्त्य-नाश्रयणस्येद्मेव बीजम् । यदि ह्याकाशशब्द्गस्तच्छरीरकब्रह्मपरः स्यात्तदा तच्छरीरकस्य जगत्कारणत्वासंभवात्स्वरूपाभिष्रायेण जगत्कारण-त्ववादोऽभ्युपेयः । स च क्षिष्ट इत्येवापर्यवसानवृत्त्यनाश्रयणं न तु योग-ष्रावत्यादित्येव रहस्यम् । किं च गावजीशब्देन चतुष्पास्वादिधर्मकीर्त-नस्य साहश्यानुसंधानार्थत्वाभावे वैयर्थ्यप्रसङ्गाच तत्र गौण्याश्रयणं गायजीशब्दे न तु गौण्याः प्रावत्यादतो न गौण्यपेक्षया दोर्बल्यमपर्यव-

सानवृत्तेः । नन्वपर्यवसानवृत्तेर्लक्षणापेक्षया प्रावत्ये 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ' मी० १३।२ ] इत्यत्र मां मदात्मकं विद्धीत्यर्थ इति. तथा 'ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा ' [ क० १ । १७ ] इत्यत्र देवं देवात्मक-मित्यर्थ इत्येवं बहुषु स्थलेषु क्षेत्रज्ञादिशव्दानामपर्यवसानवृत्तिमना-शित्य मां देवमित्यादिशब्दानां लक्षणाश्रयणं नोपपद्यते, अतोऽवसी-यते लक्षणापर्यवसानवृत्त्योर्वेषम्याभावो भाष्यकृद्यभिनत इति चेत्तस्या-न्वारुद्योक्तिरूपतयाऽप्युपपत्तेः। नसु मुख्यार्थसंबन्धेन तद्पृथक्तिन्द्वविशे-प्यस्य लक्षणया प्रतीत्युपपत्तौ न शक्तिः कल्प्याऽनन्यलभ्यस्यैव शब्दा-र्थत्वादिति चेन्मैवम् । कल्पनायां परमुपालम्मो न तु क्रुप्तस्थलेऽपि । प्रकृते च जातिगुणवाचिगोनीलादिशब्देष्वपृथक्सिद्धविशेषणवाचित्वाव-च्छेदेन विशेष्यवाचित्वस्य क्रुप्तत्वात्सर्वशब्दप्रवृत्तिनिवित्ताश्रये सर्वशब्दवाच्यत्वस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' 'नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती' 'तल्लामरूपाभ्यां व्याक्तियत' [वु०-१।४।७] 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभाव-त्वात्' [ ब० सू० २ । ३ । १६ ] इत्यादिश्वितिस्प्रतिसूचप्रतिपन्नसर्वशब्द-वाच्यत्वस्य ब्रह्मणि प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, तत्रश्च त्वंशब्द्वाच्यत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वात्त्वत्तमसीत्यस्य नानुपपत्तिरिति वदन्ति।अत्र तत्त्वमसीति तत्त्वंपदाभ्यां सर्वज्ञत्विक्षंचिज्ज्ञत्वोपलक्षितं चिन्मात्रं लक्ष्यते । अतिश्च-नमात्र एवास्य श्रुतिसंदर्भस्य तात्पर्यमिति वदन्तः परे प्रत्युक्ताः ।

> सर्वज्ञं सर्वकर्तारं नारायणमनामयम् । सर्वोत्तमं ज्ञापयान्ति महातात्पर्यमञ्ज हि ॥ सर्वेपामपि वेदानाभितिहासपुराणयोः । प्रमाणानां च सर्वेपां तद्थं चान्यदुच्यते ॥

इति नारदीयवचनविरोधात् । तन्मते श्रुतेः प्रत्यक्षविरोधमयाभावेन तत्त्वंपद्मुख्यार्थयोरेवाभेद्बोधनसंभवे तत्त्वंपद्छक्ष्यचिन्मात्राभेद्प्रतिपाद्-कत्वाश्रयणस्य निर्मूळत्वात् । व्याधकुळसंवधितराजकुमारस्य व्याधमा-वश्रान्त्यपनयनाय प्रवृत्ते त्वं राजकुमारोऽसीति वाक्ये राजकुमारपदे ळक्षणाश्रयणाभावेनेहापि जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टवाचके तत्पदे ळक्षणाश्रयणस्यान्याव्यत्वात् । त्वं राजकुमारोऽसीति वाक्येऽपि विधेय-

५ ह्ममूरमुद्रितपुस्तके-- °दिभिर्ज्ञह्मणः सर्वश्च ब्दवाच्यत्वस्य सिद्धतया च तत्त्व°।

राजकुमारत्वे तात्पर्याभावे व्याधभावानुपमईवद्विधेयभूततच्छव्दार्थभूत-जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वादितात्पर्याभावे तद्धिरोधिजीवभावोपमर्शसंभवादि-त्यास्तां तावत् । प्रकृतमनुसरामः । एवसुक्तः श्वेतकेतुः सुपुतिकाले प्रजानां सत्संपत्ती सत्यामेवं सति संपन्ना इति प्रतीतिः स्यात् । समुद्रे तरङ्गादीनामिव परमात्मनि सुपुप्तौ लीनानां पुनरुत्थितिश्च न स्यात्। अतः सुपुप्तौ प्रजानां सत्संपत्तिर्न श्रद्धेयेति मन्वान आह—

भूय एव भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥७॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८॥

विशिष्य ज्ञापयत्विति पिता श्वेतकेतुना प्राधितस्तथेत्यङ्गीकृतवानि-त्यर्थः । एतत्खण्डविषयाण्यधिकरणानि लिख्यन्त उत्कान्तिपादे । 'वाङ्मनिस संपद्यते' [ छा०६।८।६ ] इति श्रूयमाणा वाचो मनःसंपत्तिर्वाग्वतिविषया न तु वाग्विषया । वाचो मनःप्रकृतित्वा-भावेनाप्रकृतिभूते मनसि वाचः साक्षालयासंभवात् । न च वाग्वृत्तेरप्य-प्रकृतिभूते मनिस संपत्तिशब्दितो लयो न संभवतीति वाच्यम् । मनिस स्थितेऽपि वाग्व्यापाराभावमाञ्चेण संपद्यत इत्युपपत्तेः । विद्यमानायास्तु वाचस्तादात्विकाभावस्याप्यभावेन संपत्तिश्रुतेरत्यन्तासंभवादिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'वाङ्मनिस दर्शनाच्छव्दाचं ' बि० सू० ४।२।१ ] वाक्स्वरूपमेव मनिस संपद्यते वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिद्र्श-नात् । वाङ्मनिस संपद्यत इति शब्दाच वागेव मनिस संपद्यते । यद्यपि मनसो वाक्प्रकृतित्वं नास्ति तथाऽप्यनुपरतव्यापारेऽपि मनसि वाच उपरतव्यापारत्वद्र्शनाद्वाङ्मनासि संपद्यत इवेत्युच्यते । वृत्तिपक्षेऽपि संपद्यत इत्यस्य गौणत्वावश्यंभावात् । ततश्च वाचो निर्व्यापारताहेतु-भूतो मनसा संयोगविशेषः संपत्तिशब्दार्थ इति इष्टब्यम् । 'अत एव च सर्वाण्यनु ' [ ब० स्०४ । २ । २ ] यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः । अत एव ' तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनास संपद्य-मानै: '[प०३।९] इति वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां संपत्तिश्रुति-रपि तद्धिकैवेत्यर्थ इति स्थितम् । तथा मनः प्राण इत्यत्र मनोवृत्तेरेव पाणेऽप्यय उच्यते मनःशब्दस्य मनोवृत्तिष्वपि प्रचुरप्रयोगसत्त्वान्न त

पर्वोक्तरीत्या संयोगविशेषः संपत्तिशब्दार्थ इति प्राप्त उच्यते- तन्मनः प्राण उत्तरात् ' [ ब० सू० ४ । २ । ३ ] मनसो निर्व्यापारहेतुमूतः प्राणेन संयोगविशेष एवेहापि संपत्तिशब्दार्थः । ततश्च मन एव प्राणे संपद्यते मनः प्राण इत्युत्तरवाक्यादित्यर्थः । मनःशब्दस्य मनोवृत्तिपर-त्वेऽपि संपत्तिश्रुतेर्गीणत्वावश्यंभावेन मनःश्रुतेरपि गीणत्वाश्रयणस्या-न्याय्यत्वादिति सिद्धान्तितम् । तथा प्राणस्तेजसीति श्रुतेः प्राणस्तेजसि संपद्यत इति प्राप्त उच्यते ' सोऽध्यक्षे तदुपगमावि्ध्यः ' [ ब० सू० ४। २।४] स इन्द्रियसहितः प्राणोऽध्यक्षे जीवे संपद्यते ' एवमेवेममा-त्मानमन्तकाले सर्वे पाणा अभिसमायन्ति ' [ वृ० ४। ३। ३८ ] इति प्राणानां जीवोपगमस्य तेन सहोत्कान्तेश्व श्रवणाजीव एव संपद्यते। गङ्गया संयुज्य सागरं गच्छन्त्यां यसुनायां यसुना सागरं गच्छतीति पयोगवज्जीवद्वारा प्राणस्य तेजःसंपत्ताविप प्राणस्तेजसीत्युक्तिरुपयाते । न च प्राणस्य तेजोहारेणैव जीवोपगमोऽस्त्विति वाच्यम् । निरध्यक्षस्य पाणस्य तेजसि स्थितेरसंभवादिति स्थितम् । तथा प्राणस्तेजसीति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजोमात्र एव संपत्तिश्रवणान्न सर्वभूतसंपत्ति-रिति प्राप्त उच्यते—'भूतेषु तच्छ्रतेः' [ब० सू० ४। २।५] स जीवः प्राणः संहतेषु सर्वेषु भूतेषु संपद्यते ' पृथिदीमय आपोमयस्तेजो-मयः' [ बृ० ४ । ४ । ५ ] इति संचरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणेन सर्वभूतसंपत्तेर्वक्तव्यत्वात् । 'नैकस्मिन्दर्शयतो हि ' वि स्०४। २। ६ ]। एकस्मिंग्तेजामात्रेण संपद्यते । ' एकैकस्य भूतस्य कार्याक्ष-मत्वय् ' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामक्षपे च्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति ' । छा॰ ६ । ३ । २ । ३ ]

> नानावीर्याः पृथग्यूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्तुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्रशः ॥ समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाथयाः । सहदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पाद्यन्ति ते ॥

इति श्रुतिस्युती द्र्शयत इत्यर्थ इति स्थितस्। तथा 'तेजः परस्यां देवतायास् ' [ छा० ६। ८। ६ ] इत्यत्र जीवपरिष्वक्ततेजःशिब्दत-भूतस्थमाणां परदेवतासंपत्तौ प्रयोजनाभावासेजः परस्यां देवतायामिति श्रुतिः स्तुतियात्रपरेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'तानि परे तथा ह्याह ' [ ब० सू० ४। २। १५ ] तानि जीवसंसृष्टानि भूतसूक्ष्माणि परमा-

त्मिन संपद्यन्ते। कुतः। तथा ह्याह श्रुतिः। तेजः परस्यां देवतायामिति श्रुतिवशाच सुषुप्तिप्रलययोरिव परमात्मसंपत्तेः सुखदुःखोपभोगायास-विश्रमः प्रयोजनत्वेन परिकल्प्यत इति स्थितम्। तथा सेयं परमात्मिन जीवस्य संपत्तिः प्राकृतलयवत्कारणापत्तिक्षपैव सर्वात्मनः सर्वोपादा-नत्वान्न तु वागादेर्मनआदिष्विवाविभागतामात्रमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' अविभागो वचनात् ' [ ब० सू० ४। २। १६ ] अत्रापि पृथगमावानर्हसंसर्गविशेषलक्षणाविमाग एव संपत्तिशब्दार्थः। वाद्धा-निस संपद्यत इत्यत्र सतः संपद्यत इति शब्दस्यैवेहाप्यनुपज्यमानतयाऽ-मिधानवैक्षप्याश्रयणस्यान्याय्यत्वादिति स्थितम्। प्रकृतमनुसरामः॥ ७॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्टप्र<mark>पाठकस्या-</mark> ष्टमः खण्डः ॥ ८॥

यथा सोम्य मधु मधुक्तो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां
वृक्षाणाः रसान्समवहारमेकताः रसं गमयन्ति॥१॥
ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं
वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति

संपय न विदुः सित संपयामह इति ॥२॥

यथा लोके मधुमक्षिका मधु निष्पाद्यन्ति नानात्ययानां नानागतीनां वृक्षाणां रसान्समाहृत्य मधुत्वेनैक्यं गमयन्ति । ते च रसा मधुत्वेनैकतां गता असुष्य वृक्षस्य वकुलस्य वा कुटजस्य वा रसोऽस्मीति यथा विवेकं न लभन्त एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः सित संपन्ना अहं देवदृत्तोऽहः ममुष्य पुत्रोऽधुना सित संपन्ना इति वा संपत्स्यामह इति वा न जान-न्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

त इह व्याघो वा सिश्हो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दश्शो वा मशको वा ययद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

अथ सुपुप्तेरुत्थिताश्च प्रजाः स्वापात्पूर्वं यद्यद्भवन्ति ये येऽभवंस्ते त

आभवन्त्यागत्य भवन्ति । सुपुप्तः प्राग्व्याद्याभिमानी स्थितः । सुपुप्त्य-नन्तरमपि व्याद्योऽहमित्यभिमन्यमान एव भवतीत्यर्थः । पूर्ववासनावा-सित एवोत्तिष्ठतीति यावत् । ततश्च दर्शनानुसारात्सुपुप्तौ लयो न पुनरु-त्थितिविरोधीति भावः ॥ ३ ॥

स य एषोऽणिमा ।

अणुः सूक्ष्म इत्यर्थः ।

ऐतदात्म्यमिदश सर्वं तत्सत्यश् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।

स्पष्टोऽर्थः । एवमुक्तः श्वेतकेतुः सुपुप्तिद्शायां परमात्मिन संपन्नः स्वापानन्तरं तत उत्थायाऽऽगतश्चेत्प्रातर्गृहादुत्थायाऽऽगतस्य गृहाद्गगतोऽस्मीति प्रतिसंधानवत्सत आगतोऽस्मीति प्रतिसंधानप्रसङ्गान्नेतिद्वश्रम्भणीयमिति मन्यमान आह—

भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठभपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

स्पद्योऽर्थः ।

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाटकस्य नदमः खण्डः ॥ ९ ॥

इयाः सोम्य नयः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रती-च्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विद्वरियमहमस्मीयमहस्मीति॥१॥ एवमेव खळु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विद्वः सत आगच्छामह इति त इह व्याघो वा सि शहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्को वा दश्शो वा मशको बा ययद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥२॥ स य एषोऽणिमेतदातम्यमिद्र सर्वं तत्सत्यः स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

इति च्छान्दोग्योपनिषवि षष्ठप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १०॥

यथा गङ्गाद्या नद्यः पूर्वदिक्प्रस्थिताः प्राङ्गुखतया समुद्रं यान्ति, प्रतीच्यः पश्चाद्देशप्रवृत्ताः सिन्ध्वाद्या नद्यः पश्चान्मुखतया समुद्रं यान्ति पुनव्य ताः समुद्रात्समुद्रं गच्छन्ति समुद्रपर्यन्तदेशात्समुद्रमध्यं गत्वा समुद्रेणैकीमूताः सत्य इयं गङ्गाऽइमस्मीयं यसुनाऽहमस्मीत्येवं प्रत्यमिज्ञा-तुमसमर्था भवन्ति, तथा सुप्तोत्थिता अपि सत आगता इति न पत्य-मिज्ञातुं समर्था इत्येवं बोधितेन श्वेतकेतुना ननु सुप्तोत्थितस्य सोऽह-मित्यनुसंधानवलान्नाशामाबस्याभ्युपगनतव्यत्वे मरणानन्तरं कदाऽपि पूर्वजन्मस्मरणाभावाजीबस्य देहवियोगसमये नाहाः कस्मान्न स्यादिति मन्यमानेंन भूयो विज्ञापचित्वति प्राधितस्तथाऽस्त्वित्यवीचिद्त्यर्थः। एतत्खण्डाधिकरणं लिख्यते—सुप्तस्य मुक्ताविशिष्टतया बह्मणि लीनस्य पुनर्देहसंबन्धासंभवादन्य एवोत्तिष्ठति स्वितिष्ठरिषेषु वैदिककर्मणां साफल्यं च भविष्यतीति प्राप्त उच्यते—'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दवि-धिभ्यः '[ब्र०सू० ३।२।९] स एव सुप्त एव तू तिष्ठति। कुतः, कर्मा-नुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। सुप्तेः प्राक्कृतं कर्म तेनैव भोक्तव्ययन्यया कृतहा-नादिपसङ्गात् । योऽहं सुप्तः सोऽहं जागमीत्यनुस्मृतेः । त इह व्याघो वा सिंहो वेत्यादिशब्दात् । मोक्षार्थबिधिवैयर्थ्यप्रसङ्गाच न सुपुप्तिर्मुक्ति-तुल्या । अत एव प्रजापतिविद्यायाम्—' स ह खल्वयमेवं संप्रत्या-त्मानं जानाति 'इत्यज्ञत्वेन सुपुतिर्निन्द्यते 'मनसैतान्कामान्पश्यत्रमते ' इति मुक्तिस्तद्विलक्षणतया प्रतिपाद्यते । अतो न सुपुप्तिर्मुक्तिरिति स एवोत्तिष्ठतीति स्थितम्॥ १॥ २॥ ३॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्टप्रपाठकस्य

द्शमः खण्डः ॥ १० ॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याह-न्याजीवन्स्रवेषो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेषोऽ-ग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मनाऽ-नुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥ अस्य यदेका शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥ एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं स्रियते न जीवो स्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद्द सर्वं तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमासि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवा-निवज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पष्टत्रपाठकस्यै-कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अनेकशाखायुक्ते वृक्षे यितंविनमूले मध्ये वाऽये वा परश्वादिनाऽभ्याहन्यात्तदा जीवयुक्त एव वृक्षो रसं स्रवित । अतो रसस्रुतिरूपकार्याज्ञीवात्माऽऽमूलाग्रं व्याप्य मूलैरुद्कं पिवंस्तत्ययुक्तसुखादिकं चानुभवन्त्रास्ते । एवमामूलाग्रं व्याप्य वर्तमानो जीवो यदि कालधर्मवशाद्यं प्रदेशं त्यजित स स प्रदेश: शुष्यित । एवमेव सर्वं जहाति यदि तत्सर्वं शुष्यित । तत्थ्य यथैंकैकशाखाशोषो न जीवनाशक्रुतोऽपि तु जीवसंकोचकृतः प्रदेशान्तरे जीवस्य सत्त्वेन नाशासंभवादेवमेव सर्वशोषोऽपि तत्त्यागकृत एव न तु जीवनाशकृतः । अतो मनुष्यादिष्विप जीवत्यागकृतं देहस्य मरणं न जीवस्य तथा सित कृतहानाकृताभ्यागमप्रसन्द्रात् । अतः सुषुप्तिमरणद्शायां सत्संपत्ताविप न जीवविनाश इति सिद्धमिति भावः । एवं बोधितेन श्वेतकेतुनाऽणिक्नः सच्छाब्दितस्य

१ ह्येसूरमुद्धितपुस्तके - कर्म।

रूपस्पर्शादिहीनस्य विविधस्थावरजङ्गमादियुतानेकब्रह्माण्डहेतुत्वं न श्रद्धेयमिति मन्यमानेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति प्रार्थितस्त-थाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः । व्यासार्थेस्तु 'ज्ञोऽत एव' [ब० सू० २ । ३ ।१८] इत्यधिकरणे-अस्य सोम्य महतो वृक्षस्येति वृक्षशब्देन शरीरं निर्दिश्यत इत्युक्तम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्यै-कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

न्यश्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति ।

न्यग्रोधफलमाहरेत्याचार्येणोक्तः श्वेतकेतुरिदं भगव इत्यानीतवा-नित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ।

> भिन्दीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यणव्य इवेमा धाना भगव इति ।

इमानि बीजान्यणून्येव पश्याभीत्यर्थः । इवशब्द एवार्थः ।

आसामङ्गेकां भिन्छीति भिन्ना भगव इति कियन पश्यसीति न किंचन भगव इति॥१॥ तथ होवाच ।

स्पष्टोऽर्थः ।

यं वै सोम्येतमणिमानं न निभालयसे ।

हे सोम्य, एवं यमेतं बटबीजाणिमानं न निभालयसे न पश्यसि किमित्यर्थः ।

एतस्य वे किल सोम्येपोऽणिम्न एवं महा-न्यब्रोधस्तिष्टति शद्धतस्व सोम्येति ॥ २ ॥

एष महान्यग्रोध एतस्यैव किलाणिञ्चः कार्यतया तिष्ठति । अतोऽणो-रपि सच्छिब्दितात्परिदृश्यमानस्य स्थूलस्य प्रपश्चस्योत्पत्तिरुपपद्यत इत्य-स्मिन्नर्थे श्रद्धा कर्तव्येत्यर्थः।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यः स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

%यित परमात्मा कारणानुगतः कथं तिह तव्नुपलम्भः । अनुपलम्भे च तत्र तस्यानुगतत्वे किं मानमित्यभिप्रायेण प्राधितस्तथेत्युक्तवानि-त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥

> लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा पात-रुपसीदथा इति स ह तथा चकार।

रात्रौ लवणं जले प्रक्षिप्य पातर्मत्समीपमागच्छेति गुरुणोक्तः श्वेत-केतुस्तथा चकारेत्यर्थः ।

> त १ होवाच यदोषा लवणमुदके ऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

दोपा रात्रौ यछवणमुद्केऽवाधाः प्रक्षिप्तवानसि तद्क्राधुनाऽऽहरे त्युक्तो विमृश्य न ज्ञातवान् ॥ १॥

# यथा विलीनमेवाङ्ग ।

्रयथा लवणं विद्यमानमपि विलीनं सचक्षुषा त्वचा वा नोपलभ्यत एवं जीवात्मस्वरूपमपीति भावः। एवं चक्षुषा त्वचाऽप्यग्राह्यस्य लव-णस्योपायान्तरेणावगतिप्रकारं दुर्शयति—

<sup>\*</sup> ह्यैसूरमुद्रितपुस्तके—अनुपलम्भान्न सच्छिब्दतं श्रद्धेयामिति मन्यमानेन मूयोऽपि विज्ञाः पयिति प्राधि दित्त पाठः ।

९ ह्यैसूरमुदितपुस्तके—°वं सदात्म°।

अस्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति ।

अस्य जलस्याऽऽदौ मूलप्रदेश उद्धृत्याऽऽचामेत्यथ पित्रोक्तः पुत्र आचम्यानन्तरं कथमिति पृष्टो लवणमित्युक्तवानित्यर्थः ।

> मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्य-न्तादाचामेति कथमिति लवणमिति ।

उक्तोऽर्थः ।

अभिप्रास्येतदथ मापसीदथा इति तद्ध तथा चकार ।

एतस्परित्यज्य मत्समीपमागच्छेत्युक्तस्तथा चकार ।

तच्छश्वत्संवर्तते तथ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रेव किलेति ॥२॥

तल्लवणं जले शश्वत्सर्वदा सम्यग्वर्तत इत्युक्तवन्तं शिष्यं प्रति पितोवाच किमिति रसनेन्द्रियेणोपलभ्यमानतया वस्तुतः सदेव लवणं यथा चक्षुषा त्वचा वा नोपलभ्यत एवमेवात्रैव जगत्यन्तरात्मतयाऽऽग-माचार्योपदेशादिनाऽवगन्तुं योग्यमेव सच्छन्दितं ब्रह्मात्रैव किल वर्तत इति न निभालयसे द्रष्टुं न शक्नोपि न पश्यसीत्यर्यः ॥ २ ॥

> स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यः स आत्मा तत्त्वसिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भग-वान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

> > इति च्छान्दोग्योपानिषदि षष्टप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३॥

तर्हि सर्वव्यापिनः सच्छव्दितस्यावगत्युपायं दृष्टान्तेन प्रदर्शयेति प्राधित आचार्यस्तथाऽस्त्वित्युक्तवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥ यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमा-नीय तं ततोऽतिजने विस्नजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीता-भिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विस्षष्टः॥१॥

हे सोम्य यथा लोके गन्धारेभ्यो जनपदेभ्यः पिनद्धचक्षुषं कंचित्पुरुषं चोरो गृहीत्वा विजने विसृजेद्यदि स दिग्ध्रमोपेतः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वाऽधोमुखो वाऽभिनद्धाक्ष एव तस्करेरानीतोऽभिनद्धाक्ष एव विसृष्टोऽ-हमिति विक्रोशेतेत्यर्थः ॥ १ ॥

> तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रबूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं ब्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत।

यथा कश्चित्कारुणिकस्तस्य बन्धनं मुक्त्वोत्तरतो गन्धारा एतां दिशं वजेति प्रव्याद्यदि स तथोक्तो आमाङ्गामान्तरं पृच्छंस्तैस्तैरुपदिष्टमार्गो मेधाच्युक्तार्थाविस्मरणशीलः पण्डित ऊहापोहक्षमधीयुक्तो यथा गन्धारानेव पुनरभिसंपद्येत प्राप्य निर्दुःखो भवेदित्यर्थः।

> एवमेवेहाऽऽचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावल विमोक्ष्येऽथ संपतस्य इति॥२॥

एवमाचार्योपदेशेन बह्णात्मकस्त्वमस्यतस्तदात्मकतया स्वात्मानमनुसं-धत्स्वेत्युपिदृष्टस्तदात्मकत्वमनुसंधत्ते । तस्यैतादृशानुसंधानिष्ठस्य तावा-नेव विलम्बः । यावत्प्रारम्धकर्मारम्धशरीराम्न विमोक्ष्यते । अथ तद-नन्तरं तु सदूपं बह्म संपत्स्यते । न विमोक्ष्ये संपत्स्य इति पुरुषव्य-त्ययश्छान्द्सः । केचित्तु तस्य तावदेव चिरमित्यत्र म इत्यध्याहारः । तस्य मे तावानेव विलम्बो यावत्कर्ममिनं विमोक्ष्येऽतः परं ब्रह्म संपत्स्य इत्युपासकस्यानुसंधानप्रकारोऽनेन वाक्येनोच्यत इति वदन्ति । ननु यावन्न विमोक्ष्य इत्युक्ते कथं शरीरान्मोक्षसिद्धिः । उच्यते । मोक्ष इत्युक्ते कस्मान्मोक्ष इत्याकाङ्क्षायामस्यामेव विद्यायाम् 'अथ यदाऽस्य वाङ्मनसि संपद्यते ' [ छा० ६ । १५ । २ ] इत्यादिना

देहादुत्क्रमणश्रवणाद्नयत्र च ' शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य ' [ छा॰८।३।४ ] ' धूत्वा शरीरस् '[ छा०८। १३।१ ] 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः '[ छा० ८ । १२ । १ ] इति श्रवणात् । 'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति '[गी०४।९] इत्यादिस्मरणाच शरीरान्मोक्ष इत्येवावगम्यते । अथ संपत्स्य इत्यत्रापि संपत्तेः कर्मापे-क्षायां। 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६।८।१ ] इति वाक्यान्तरप्रतिपन्नं बहीव कर्मतया संबध्यत इत्यवगम्यते । उत्तर-खण्डिकायामेतद्विवरणापवृत्तायां देहे मोक्षब्रह्मसंपत्त्योः कथनाचैवमे-वार्थः । एवमेव व्यासार्थैः 'तिन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ' [ ब० सू० १ । १।७ | इत्यत्रोक्तम् । त चाऽऽचार्यवान्युरुषो वेदेत्यत्र वेदेत्यस्य न शाब्दज्ञानमात्रार्थकरवं शङ्कचम् । वेदान्तेषु विद्युपास्योद्यतिकरेण प्रयोगात्, शाब्दज्ञानमात्रेण मोक्षस्य ' बुद्धः क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रैर्विप-तिपिद्धम् ' इत्यादिषमाणप्रतिषिद्धत्वाञ्च विदिधातुरुपासनावाच्येव । एवमस्यामपि विद्यायां येनाश्चतं श्वतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात-मिति विज्ञानशब्दश्रवणात्, तस्य च 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-तब्यः ' [ बृ०२।४।५ ] इत्यनेनैकार्थ्याञ्चोपासनापरत्वमेवाऽऽश्रयणी-यम् । व्यासार्येस्तु 'आचार्यवान्युरुषो वेद' [ छा०६ । १४ । २ ] इत्याः चार्यवत्ताफलत्वेन प्रतिपादितार्थविशेषवेदनवचनं तद्रथस्यानुसंधेयत्वे लिङ्गमिति वाक्यार्थज्ञानवाचिन एव वेदेत्यस्यानुसंधानाक्षेपकत्वमुक्तम् । चतुर्थाध्याये ' सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ' [ छा० ५। २४। ३ ] इति सर्वकर्मप्रदाहश्रवणात्, ब्रह्मविद्योत्परयनन्तरमेव सर्वकर्मणां नाशः । देहस्थितिस्तु चक्कभ्रमणादिवत्संस्कारवशाद्य्यपपद्यत इति प्राप्त उच्यते 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तद्वधेः' [ ब० सू० ४। १।१५ ] विद्यो-त्पत्तेः प्राचीने अनारव्धकार्ये एव सुकृतदुष्कृते नश्यतो न त्वारव्धकार्ये। 'तस्य तावदेव चिरं यावज्ञ विमोक्ष्ये' छा० ६ । १४ । २ ] इति शरी-रपातविलम्बावधिश्रवणाद्यावच्छरीरधारणं प्रारब्धकर्मानुवृत्तेरवर्श्यभावा-त्कर्मव्यतिरिक्तस्य देहधारकसंस्कारस्य सद्भावे अमाणाभावादित्युक्तम् । तथा 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते' इत्यत्र 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति विद्यायोनिशरीरपातमात्रस्यैवान्तराय-त्वश्रवणात्प्रारब्धयोः पुण्यपापकर्मणोः सत्त्वेऽपि विद्यायोनिश्चरीरावसाने सत्येव मोक्ष इति प्राप्त उच्यते—'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते'

[ ब्र॰ स्०४। १। १९। ] तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। इतरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे फलभोगेन क्षपयित्वेव ब्रह्म संपद्यते ते च प्रारब्धे पुण्यपापे विद्यायोनिशरीरमात्रोपभोग्यफले चेत्, विद्यायोनिशरीरावसाने ब्रह्म संपद्यते। अनेकशरीरमोग्यफले चेत्, तद्वसाने संपद्यते भोगेनैव क्षपयि-तव्यत्वात्प्रारब्धकर्मणोः। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ' इति न तद्देविमोक्ष इत्युच्यते, अपि तु देहारम्भककर्मविमोक्ष एवेति प्रतिपादि-तम्। प्रकृतमनुसरामः॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदश् सर्वं तत्सत्यश् स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

ननु देहिविमोक्षानन्तरं ब्रह्मसंपत्तिरित्ययुक्तम् । देवोऽहं मनुष्योऽहिमि-त्यिभानस्य कदाऽप्यनुपरततया यावदात्ममावित्वेन देवादिशरीरसंब-न्धस्यापि यावदात्मभावित्वादतो देहराहित्योपजीविनी ब्रह्मसंपत्तिरपि न श्रद्धेयेति मन्वानेन श्वेतकेतुना भूय एव मा भगवान्विज्ञापयित्विति प्राधितस्तथेत्युवाचेत्यर्थः ॥ ३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पुरुष सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्गनासि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्ञानाति ॥ १ ॥

हे सोम्य, उपतापिनं मरणवेदनाक्रान्तं पुरुषं बन्धवो मां जानासि किं मां जानासि किमित्यसकृद्धद्नतः परितस्तिष्ठन्ति । स तु मुमूर्षुः पूर्वो-क्तसत्संपत्तिपर्यन्तं ताञ्जानातीत्यर्थः ॥ १ ॥ STEA

अथ यदाऽस्म वाङ् मनिस संपद्यते मनः प्राणे प्राण-स्तेजिस तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

सत्संपत्त्यनन्तरं तु तान्न जानातीत्यर्थः । ततश्च सर्वेषां मरणद्शायां सत्संपत्तौ देहाभिमानाननुवृत्तेस्तत्प्रयुक्तदेहसंबन्धनित्यताशङ्काया असंभवात् । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इति देहसंबन्धात्यन्तनि-वृत्तिपादकश्चतेर्नानुपपत्तिरिति भावः ॥ २ ॥

### स य एषोऽणिमा ।

प्रारब्धविमोक्षानन्तरमाविसंपत्तिकर्मत्वेन पूर्वखण्डिकानिर्दिष्टः सच्छ-ब्दितः स एपोऽणुरित्यर्थः ।

> ऐतदातम्यमिद्धः सर्वं तत्सत्यः स आत्मा तत्त्व-मसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्वि-ज्ञापियित्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५॥

ननु देवमनुष्यादिपक्तत्यात्मकत्वाभिसंधानादनर्थो भवति सदात्मक-त्वाभिसंधानादनर्थनिवृत्तिरिति न श्रद्धेयम् । न ह्यभिसंधिभेदमात्रेण महापुरुषार्थापुरुषार्थौ दृष्टचराविति मन्यमानेन श्वेतकेतुना सूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति प्राधितस्तथाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः ।

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य पञ्चद्दाः खण्डः ॥ १५ ॥

ऐतदातम्यमिद् सर्वं तत्सत्यमिति सत्यभूतं सदात्मकत्वमनुसंद्धानस्यै-वानर्थनिवृत्तिर्नं तु प्रकृत्यात्मकत्वलक्षणासत्यानुसंधाननिष्ठस्यानर्थपरिऽ-हार इत्याह—

पुरुष सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यप-हार्थीत्स्तेयमकार्थीत्परशुमस्मे तपतेति।

हे सोम्य लोके राजपुरुषा हस्ते पुरुषं गृहीत्वाऽऽनयन्ति, कोऽपराधोऽ-

नेन कृत इति पृष्टाः सन्तोऽपहारं कृतवान्, चौर्यरूपेणापहारं कृतवान् । अपहृत्य चापनिह्नुतेऽत एतस्य शोधनार्थं परशुमयःपिण्डमस्यै तपतेति वदन्त आनयन्ति ।

> स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

स हस्तगृहीतः पुरुषो न मया द्रव्यमपहृतमिति द्रव्यापहारमपह्नुवानो यद्यपहारस्य कर्ता स्यात्तद्दाऽसत्यप्रतिज्ञत्वात्स्वात्मानमनृतं करोति । अनृताभिसंध्यन्तर्हितः स ततस्तप्तं परशुं राजपुरुषार्पितं हस्तेन प्रति-गृह्णाति ततः स दह्यते राजपुरुषैर्हन्यते चेत्यर्थः॥ १॥

> अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंधः सत्येनाऽऽत्यानमन्तर्धाय परशुं तत्तं प्रति-गृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

स यदि तस्य चौर्यस्याकर्तेव सन्नाहमपाहार्पमिति प्रतिजानीयात्तदा सत्याभिसंधिवशेनैवाऽऽत्मानं सत्यं कृत्वा सत्येनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं गृह्णाति सत्याभिसंधिवशादेव प्रतिबद्धदाहो राजपुरुपैर्मुच्यते॥ २॥

### स यथा तत्र न दाह्येत

स सत्याभिसंधः पुमांस्तत्र परशुग्रहणे यथा न द्ह्यत इत्यर्थः । एवं सदात्मकत्वलक्षणसत्याभिसंधिः पुमान्सांसारिकैरनर्थेनं स्पृश्यत इत्यर्थः ।

ऐतदात्म्यमिदश सर्वं तत्सत्यश स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति।

अतः सर्वस्य सद्तिमकत्वानुसंधानमेव सत्याभिसंधिरिति सर्वान्तर्ग-तस्त्वमिष सद्तिमक इति सद्तिनकत्वरूपसत्याभिसंधिमान्भव, तेन संसा-रदाहानभिभूतो मुच्यस इत्यर्थः ।

# तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

॥१॥२॥ ३॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य पोडिशः खण्डः ॥ १६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥६॥

सच्छिब्दितं तत्परं ब्रह्मास्य गुरोर्वचनाज्ज्ञातवाङश्वेतकेतुरित्यर्थः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था । अत्र व्यासार्थेस्तद्धास्य विजज्ञावित्यत्र विजज्ञाविति पद्मविज्ञातं विज्ञातमिति प्रक्रमश्रुतविज्ञानशब्द्समाना-र्थकमत उपासनावचनमित्युक्तम् । तत्तु संभवाभिप्रायेण । पूर्वत्राष्टक्न-त्वोऽभ्यस्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति वाक्येन तन्मे विजानी-हीति वाक्येन च प्रस्तुतविज्ञानविषयत्वाद्स्य विजज्ञावितिपद्स्य तत्र च वाक्य उपासनप्रसक्तेरभावात् । न हि विज्ञापयत्वित्यत्रोपासनं कार-यत्वित्यर्थो युक्तः । 'त्रिवृञ्चिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति' [छा० हाप्रा७ ] इति वाक्ये ' भ्रय एव मा भगवान्विज्ञापयतु ' इति वाक्ये तद्धास्य विजज्ञाविति वाक्ये च पूर्वत्र त्रिवृत्प्रकरणे श्रुतस्य विजानाते-रुपासनार्थत्वाभावेनेहापि तथात्वस्यैव युक्तत्वादिति द्रष्टव्यम् । केचितु-त्रिवृत्करणप्रकरण इवाज श्रुतानां विज्ञानशब्दानासुपासनार्थत्वे दोषा-भावादेतेषां विज्ञानशब्दाना गुपासनार्थत्वमेव । अथ वा मध्ये विज्ञा-नशब्दानामतथात्वेऽप्युपक्षमोपसंहारैकरूप्यार्थमुपक्रमस्थविज्ञानशब्द्वदु-पसंहारस्थं विजज्ञाविति पद्मुपासनार्थमेवेति वद्नित । एतद्विपय-कमधिकरणं लिख्यते समन्वयाध्याये प्रथमे पादे—सर्व हि जग-त्सुखदु:खमोहात्मकं दृष्टम् । लोके ह्येकस्यैव रूपयौदनशालिनो योपि-त्पिण्डस्य भर्तारं प्रति सुखछपत्वम्, सपत्नीजनं प्रति दुःसहपत्वम्, कामुकपुरुपान्तरं प्रति मोहरूपत्वं च हप्टम् । अतः सुखदुःसमो-हात्मकतया सत्त्वरजस्तयोभयस्य जगतस्तद्नुरूपमेव कारणं वक्तव्यमिति

युक्तिसिद्धं त्रिगुणात्मकं प्रधानं सर्वज्ञकपिलस्मृतिसिद्धं सद्विद्याप्र-तिपाद्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'ईक्षतेर्नाशब्दम् ' [ ब॰ सू॰ १।१।५]। शब्दः प्रमाणमेव न मवति यस्य तद्शब्द्मानु-मानिकमिति यावत् । आनुमानिकं प्रधानं न 'सदेव सोम्येद-मग्र आसीत् '[ छा० ६।२।१ ] इति सच्छन्दितमपि तु परं बह्मीव। कुतः । ईक्षतेः । ईक्षणादित्यर्थः । यद्यपि, इक्टितपौ धातुर्निर्देशे वक्त-व्यावितीक्षतिशब्दो धातुवाची तथाऽपीह धातुवाचिनेक्षतिशब्देनार्थो लक्ष्यते 'तवैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' [छा० ६।२।३] इति सच्छिव्ति-स्येक्षणकथनादचेतन ईक्षणासंमवात्। न चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रति-ज्ञाय मृत्यिण्डादिहृष्टान्तस्य चोपन्यासेनानुमानवेषत्वप्रतीतेरानुमानि-कमेव प्रधानमिह प्रतिपाद्यत इति शङ्कचम् । प्रतिज्ञाहरान्तोपन्यासेऽपि प्रधानमूतहेत्ववयवानुपदेशेनानुमानोपन्यासऋपत्वामावात्। न च 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' [छा०६।८।६] इति कार्यलिङ्गोपन्यासाद-नुमानविवक्षा प्रतीयत एवेति वाच्यम् । उपक्रमोपसंहाराद्यन्तर्गतोपप-तिरूपतात्पर्यलिङ्गतया कार्यलिङ्गोपन्यासेऽपि सांच्याभिमतसुखदुःसमो-हान्वितत्वरूपहेतूपन्यासाद्र्शनात् । 'गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ' [ब०सू० १।१।६] ननु 'तत्तेज ऐक्षत' [छा०६।२।३] 'ता आप ऐक्षन्त' [ छा० ६ । २ । ४ ] इत्यचेतने तेजआदी श्रुतस्येक्षणस्य मुख्य-स्यासंभवेन कार्योन्मुख्यलक्षणगीणार्थस्यैव समाश्रयणीयतया सच्छ-ब्दितेंऽपि श्रूयमाणमीक्षणं गौणमेवास्त्वित चेन्न । ' ऐतवातम्यमिद भ सर्वं तत्सत्य र स आत्मा ' [ छा० ६। ८। ७ ] इति सत आत्मत्वप्रति-पाद्कश्चतिन्याकोपप्रसङ्गेन गौणेक्षणप्रायपाठस्यानादर्तव्यत्वात्तेजःप्रभु-तिशब्दानामपि परमात्मपर्यन्ततया तत्रापीक्षणस्य मुख्यार्थत्वसंभवाच । 'ति त्रिष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।' दि० सु०१।१। ७ ] 'तस्य ताव-देव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये '[ छा० ६। १४। २ ] इति सदात्मकत्व-विद्यानिष्ठस्य शरीरपातमात्रान्तरायबह्यसंपत्तिलक्षणमोक्षथवणात् । न हि प्रकृत्यात्मत्वानुसंधाननिष्ठस्य मोक्षः सांख्यमतेऽपि संप्रतिपन्नः । 'हेयत्वावचनाच ' [ ब० सू० १ । १ । ८ ] । यदि सच्छन्दितं प्रधानं स्यात्तार्हि सद्दात्मकत्वं मुमुक्षोर्हेयतयोपदेश्यं स्यान्न त्वनुसंधेयत्वेनेत्यर्थः। प्रतिज्ञाविरोधात्प्रधानविज्ञाने तत्कार्याचेतनमात्रविज्ञानेऽपि चिद्चिदा-रमकसर्वप्रपञ्च विज्ञानाभावेनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा पीड्रयेत ।

'स्वाप्ययात्।'[ब० सू० १।१।९] 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६ । ८ । १ ] इति श्रुतिः सत्संपत्तिं ' स्वं ह्यपीतो भवति ' [ छा० ६।८। १ ] इति स्वाप्ययत्वेन बोधयति । सच्छिन्द्-तस्य प्रधानत्वे स्वशब्दार्थभूतमात्मत्वं नोपपद्यते । ब्रह्मत्वे तु स्वशब्दार्थ-भूतमात्मत्वमुपपद्यते । तथाऽचेतनेऽकारणे जीवस्याप्ययशब्दितो लयश्र नोपपद्यते । 'गतिसामान्यात् । '[ब० सू०१ । १ । १०] सर्वेषु वेदान्तेषु 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।' [ऐ०१।१] 'एको ह वै नारायण आसीत्।' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म [तै० २। १। १] इत्यादिषु चेतनकारणत्वावगतेस्तत्साम्यमेवेहापि वक्तव्यम् । अतस्तदैकार्थ्यायेहापि सच्छिब्दितं ब्रह्मैव कारणत्वेन निर्दिश्यते । ' श्रुतत्वाच ' [ ब० सू० १ । १ । ११ ] अस्यामेवोपनिषदि सच्छन्द-वाच्यस्याद्वितीयत्वनामरूपव्याकर्तृत्वसर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वाधारत्वापद्द-तपाप्मत्वादीनां अवणान्नाचेतनं प्रधानं सच्छिब्दितमिति स्थितम् ॥ ३ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्टप्रपाठकस्य षोडशः सण्डः ॥ १६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठः प्रपाटकः समाप्तः ॥ ६ ॥

भूमविद्या प्रस्त्यते-अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।

सनत्कुमारं योगीश्वरं नारद्धिरधीहि भगव इति मन्त्रोचारणपर्वकं विधिवदुपसन्न इत्यर्थः । अधीह्यधीप्वेत्यर्थः ।

तश होवाच

तमुपसन्नं नारदं सनत्कुमार उवाचेत्यर्थः । तदेवाऽऽह-यद्देत्थ तेन मोपसीद

यस्वं ज्ञातवानसि तदिद्महं जान इति तत्प्रख्यापनेन मामुपसीद । ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥ ज्ञातांशस्योपदेशो व्यर्थ इति भावः ॥ १ ॥

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि

अध्येमि स्मरामि वेद्गीति यावत्, यद्वेत्थेति वेदनस्योक्तत्वात् । यजुर्वेदश् सामवेदमाथर्वणं चतु-र्थमितिहासपुराणं पश्चमम् ।

वेदानध्यापयामास महाभारतपश्चमान् । इतिवद्धगादिभिरितिहासस्यात्र पश्चमत्वोक्तिः । वेदानां वेदं पित्र्यश्र राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनम् ।

वेदानां प्रकृतिप्रत्ययविभागवेदकं व्याकरणिमत्यर्थः । पित्रयं श्राद्ध-कल्पं राशिं गणितं दैवमुत्पातज्ञानं निधिं निधिदर्शनोपायप्रतिपादकं शास्त्रं वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रभेकायनमेकायनशास्त्राम् ।

> देविवयां ब्रह्मवियां भूतिवयां क्षत्रवियां नक्षत्रवियाः सर्पदेवजनवियाम् ।

देविद्या देवतोपासनप्रकारितद्या ब्रह्मविद्या वेदाङ्गभूतिशक्षादिविद्या भूतिद्या वशीकरणिवद्या क्षञ्जविद्या धनुर्वेदो नक्षञ्जविद्या ज्योतिपं सर्पविद्या गारुडविद्या देविद्या गान्धर्वशास्त्रं जनविद्याऽऽयुर्वेदः ।

एतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

अहमेतत्सर्वं जानामीत्यर्थः ॥ २ ॥ सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मिविच्छुतः होव मे भगवद्दुशेभ्यस्तरित शोकमात्मिविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयित्विति ।

हे भगवः, अहमेतत्सर्वं जानन्नपि मन्त्रविदेवास्मि शब्दब्रह्मनिष्ठ एवास्मि यद्वा मन्त्रप्रधानकर्मनिष्ठ इति वाऽर्थः । नाऽऽत्मविद्स्मि न परब्रह्मवित् । आत्मशब्दस्य तस्मिन्नेव सुख्यत्वाज्जीवस्य त्वापेक्षिकात्म-त्वेन निरङ्कशात्मत्वाथावाच मन्त्रवित्त्वादात्मवित्त्वे किमधिकं स्यादित्य-नाऽऽह-भगवद्दशेभ्यो भवाहशेभ्यो महन्त्व आत्मविच्छोकं संसारं तरतीति मे श्रुतमेव हि।म इति संबन्धसामान्ये पष्ठी मया श्रुतमित्यर्थः। एताहृशविद्यासंपन्नोऽप्यहमात्मज्ञानराहित्याच्छोकार्णवे पतितोऽस्मि तं ताहृशं मां भगवानात्मज्ञानेन शोकार्णवस्य पारं तारयत्वित्युवाचेत्यर्थः।

तश होवाच।

सनत्कुमार इति शेषः।

यद्दे किंचेतदध्यगीष्टा नामेवैतत् ॥ ३ ॥

अध्यगीष्ठा अधीतवानसीत्यर्थः । अत्र तेषां नामैवाऽऽत्मेति प्रति-वचने दातव्ये नामैवैतदित्यधीतर्ग्वेदादिसामानाधिकरण्येन प्रतिवक्तः सामानाधिकरण्यनिर्देशार्हत्वमेवाऽऽत्मत्वमिति भावः॥ ३॥

तदेव प्रपञ्चयति—

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थं इतिहासपुराणः पश्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशि-देवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्याः।

स्पष्टोऽर्थः । उपसंहरति—

नामैवैतत् ।

इति नामरूपमयत्वात्प्रपञ्चस्य विशिष्यग्वैदादिलक्षणशब्दराशेर्नामरू-पत्वाच सर्वं नामैवेत्यर्थः । ततः किमित्यज्ञाऽऽह—

नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

अत्र ब्रह्मेति शेषः । नाम ब्रह्मेत्युपास्स्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह—

> स यो नाम बह्नेत्युपास्ते यावन्नाझो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति।

नामप्रवृत्तिर्यावित देशे तावित देशेऽस्य नामब्रह्मोपासकस्य यथेष्टं संचरणं भवित । उक्तमेव पुनरूपसंहरित—

## यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते।

आत्मानं जिज्ञासमानं प्रति बह्मत्वेन नामोपदर्शनस्याऽऽत्मत्वबह्मत्वे अन्यूनातिरिक्तवृत्तिधर्माविति भावः । बह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बृहत्त्वं नाम्नि न पुष्कलमिति मत्वा नामोपदेशेनापरितुटः सन्नारदः पृच्छति— अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ।

वैपुल्यार्थाद्वहुशब्दादातिशायनिक ईयसुन्प्रत्यये भूय इति रूपम् । किं नाम्नोऽपि विपुलतरं किंचिद्स्तीति प्रश्नार्थः । वैपुल्यं च गुणोत्कर्ष-कृतं द्रष्टव्यं न तु परिमाणात्कृतं तथेवोत्तरत्र प्रपञ्चनादिति द्रष्टव्यम् । अत्र नाम्नो वृहत्त्वलक्षणब्रह्मत्वे कथिते ततोऽपि किं वृहद्स्तीति प्रष्टव्ये ततोऽपि किं भूयोऽस्तीति प्रश्नाद्भूयस्त्वं वृहत्त्वं चैकमिति ज्ञाप्यते । गुरुराह—

नाम्रो वाव भूयोऽस्तीति ।

शिष्य आह—

तन्मे भगवान्त्रवीत्विति ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

गुरुराह—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी।

वावशब्दः प्रसिद्धौ । तदेव प्रपश्चयति—
वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति ।

वैशब्दोऽवधारणे।

यजुर्वेदश सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदं पित्र्यश राशि देवं निधिं वाको-

वाक्यमेकायनं देविवयां ब्रह्मवियां भूतिवयां क्षत्र-वियां नक्षत्रवियाः सर्पदेवजनिवयां दिवं च पृथि-वीं च वायुं चाऽऽकाशं चापश्च तेजश्च देवाःश्च मनुष्याःश्च पशूःश्च वयाः सि च तृणवनस्पतीञ्-श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च ।

हृद्यज्ञो मनोज्ञः । हृद्यप्रिय इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । एतत्सर्वं वागेव विज्ञापयतीति पूर्वेणान्वयः । वागमाव एतज्ज्ञानं नास्तीत्यपि दर्शयति—

यद्दे वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत्।

वागिन्द्रियामावे वेदाध्ययनाद्यमावाद्धर्मादिकं विज्ञातं च नाम-

न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृद-यज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति॥१॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपा-स्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः॥ २ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥ गुरुराह—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै दे वाऽऽम-लके दे वाकोले दो वाऽक्षो मुष्टिरनुभ-वत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति ।

यथाऽऽमलकफलद्वयं वा कोलफलद्वयं वा विभीतकफलद्वयं वा मुष्टावन्तर्गतं मवति, एवं वाङ्ग्नामनी मनस्यन्तर्गते । तदेवोपपाद्यति—

स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयी-येत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कु-रुते पुत्रा १११ प्रश्लेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते।

स पुरुषो यदा मनसा मन्त्रानधीयीय मन्त्रानुचारयेयमिति मन-स्यति मनुते । तदनन्तरमेवाधीते । कर्माणि करवाणीति मननानन्तरमेव कर्माणि कुरुते । पुत्रांश्च पश्चंश्चेच्छेयम्, इमं लोकममुं चेच्छेयमिति मत्वेच्छति । अतश्च मननलक्षणमनोव्यापाराधीनत्वाद्वागादिपवृत्तेर्मनसो भूयस्त्वमिति भावः ।

मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि बहा।

मनोधीनत्वादात्मधर्मभूतकर्तृत्वादेर्मन एवाऽऽत्मा लोकस्यापि मनो-व्यापाराधीनत्वान्मन एव लोकः। वागाद्यपेक्षया बृहत्त्वान्मनो हि ब्रह्म।

मन उपारस्वेति॥ १॥

अतस्त्वं मन उपास्स्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मे-त्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

ान्दाग्यापानपाद सत्तनशतकारप तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥ स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

गुरुराह—

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वे संकल्पयतेऽथ् मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥ १॥

यदा, इदं कर्तुं युक्तमिति संकल्पयति तदा, इदं कर्तव्यमिति मन्यते । ततश्च वागिन्द्रियं प्रेरयति । तद्य वागिन्द्रियं शब्दोद्यारणविषये नियुद्धे ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि संकल्पेकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि ।

तान्येतानि नामादीनि संकल्प एकमयनं मार्गो येषां तानि संकल्पै-कायनानि संकल्पानुसारीणीति यावत् । संकल्प आत्मा कर्ता येषां तानि संकल्पात्मकानि संकल्पकर्तृकाणीत्यर्थः । यद्दा संकल्प आत्मा व्यापको येषां तानि संकल्पव्याप्तानीति यावत् । संकल्पे प्रतिष्ठितानि, असित संकल्पे येषां न सत्ता । अतः संकल्पाधीनसत्ताकानीति यावत् ।

> समक्लपतां चावापृथिवी समकल्पेतां वायु-श्वाऽऽकाशं च समसंकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च।

द्यौश्च पृथिवी च निश्चलतया वर्तावहे इति संकल्पं कृतवत्यावित्यर्थः।
तथा वाय्वाकाशाद्योऽपि स्वेन रूपेण वर्तामह इति स्वस्वकार्यं च
करवामहा इति संकल्पं कृतवन्त इत्यर्थः । तथासंकल्पामावे तथाप्रवृत्त्यसंभवादिति भावः।

तेषा संक्रुप्त्ये वर्ष संकल्पते।

अप्तेजोधीनत्वाद्वर्षणस्याऽऽपस्तेजांसि च सम्यक्कल्पन्तां स्वस्वकार्य-समर्थानि भव्नित्वत्येवं तत्सिद्ध्ये वर्षं संकल्पते । वर्षस्य संक्लप्त्या अन्नश्र संकल्पते ।

अन्नस्य वर्षाधीनत्वाद्त्रं वर्षसिद्ध्यै संकल्पते ।

अन्नस्य संक्लप्त्ये प्राणाः संकल्पन्ते ।

अन्नसमृद्धिं पाणाः संकल्पन्त इत्यर्थः ।

प्राणाना \* संक्लप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते ।

मन्त्रोचारणस्य पाणायत्तत्वान्मन्त्रास्तत्सिद्धिमाशंसन्ते । मन्त्राणाः संक्लप्त्ये कर्माणि संकल्पन्ते ।

अग्निहोत्रादीनां कर्मणां मन्त्रजन्यस्मुत्यधीनानुष्ठानत्वादिति भावः ।

कर्मणाः संक्लप्त्ये लोकः संकल्पते ।

स्वर्गादिलोकस्य कर्माधीनसिद्धिकत्वादिति भावः। लोकस्य संक्लप्त्ये सर्वश्र संकल्पते।

सर्वस्यापि भूतजातस्य लोकाधीनत्वादिति मावः । अत्राचेतनेषु संकल्पकथनं स्तुत्यर्थतया चेतनत्वारोपेण वा तद्भिमानिदेवतापरतया वोपपन्नमिति दृष्टयम् ।

स एष संकल्पः।

एताहशमहिमशाली संकलप इत्यर्थः।

संकल्पमुपारस्वेति ॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते ।

स्पष्टोऽर्थ: ।

संक्लमान्ये स लोकान्ध्रवान्ध्रवः प्रतिष्ठितान्त्र- तिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति ।

संक्लप्तान्संकलपिसद्धान्ध्रवान्नित्यान्मोगोपकरणैः प्रतिष्ठितानव्यथमा-नाञ्छन्त्रपीडादिरहितानेताद्वशाँहोकान्स्वयमपि ध्रुवत्वप्रतिष्ठितत्वाव्यथन् मानत्वयुक्तः सन्नभिसिध्यति प्राप्तोतीत्यर्थः । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं बह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भ्य इति संक-ल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्त्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्ध्यो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यति।

अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहंकारचित्तशब्दै-ध्यंपदिश्यत इति 'हस्ताद्यस्तु स्थितेऽतो नैवम्' [ब्र०सू० २।४।६] इति सूत्रे माषितत्वात्।प्राप्तकालानुरूपातीतानागतविपयप्रयोजनचिन्ता-नुरूपप्रवृत्तिविशिष्टं मनश्चित्तमित्युच्यते चेतयतिधात्वर्थोऽपि स एव। शिष्टं स्पष्टम्।

> अथ वाचभीरयित तामु नाम्नीरयित नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥ १ ॥ तानि ह वा एतानि चित्तेकाय-नानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि ।

उक्तोऽर्थः।

तस्माययपि बहुविदिचित्ते। भवति नायमस्तीत्येथेनमाहुर्यदयं वेद यद्दा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादिति ।

बहुशास्त्रज्ञोऽपि पुमान्विषयप्रयोजननिरूपणलक्षणचित्तहीनो यदा

मवेदित्यर्थः । तदा लौकिका अयं नास्ति अयं वेदेति यत्तद्पि नास्ती-त्येवं ज्ञातारं तदीयं शास्त्रज्ञानं चापलपन्ति तत्र युक्तिं च वदन्ति । यत्, यद्ययं पुमान्विद्वान्स्यादित्थमचित्तो न स्यात्तस्मादेतस्य शास्त्रज्ञानमेव नास्तीत्याहुः ।

अथ ययल्पविचित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते । शुश्रूपन्ते तद्वाक्यं श्रोतुमिच्छन्तीत्यर्थः ।

> चित्तः होवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति॥ २॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वे स लोकान्धुवान्ध्रवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽन्यथमानाव्यथमानोऽभिसिध्यति याविचत्तस्य गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भृय इति चित्ताद्वाव
भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

पश्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

चित्तानुपचितानित्यर्थः । इतरत्पूर्ववत् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भ्यो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव चौध्यायन्तीवाऽऽपो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः ।

ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमिति 'ध्यानाच' [ ब० सू० ४।१।८ ] इति सूत्रे भाषितम् । यथा योगी ध्यायन्निश्चलो

मवत्येवं पृथिव्याद्योऽपि ध्यानलक्षणस्वमाहात्म्यप्रख्यापनायेव निश्चलाः सन्तो ध्यानमभिनयन्ति । अतो ध्यानं माहात्म्यहेतुरित्यर्थः । सूत्रितं च 'अचलत्वं चापेक्ष्य' [ब॰ सू॰ ४।१।९] इति । तत्र हि तिष्ठन्नासीनः श्यानो वा ध्यानमनुतिष्ठेद्विशेषामावादिति प्राप्तेऽमिधीयते— 'आसीनः संमवात्' [ब॰ सू॰ ४।१।७] । आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् । कुतः । संमवात् । आसीनस्यव ह्येकाग्रचित्तता संमवति स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेश्वत्वाच्छयने च निद्रासंमवात् । 'ध्यानाच' [ब॰ सू॰ ४।१।८] । विजातीयप्रत्ययान्तराध्यवहितचिन्तालक्षणध्यानलक्षणत्वादुपासनस्य तत्र च चित्तेकाथ्यावश्यंभावेन तत्सिद्धय आसीनत्वस्यापेक्षितत्वात् । 'अचिल्वं चापेक्ष्य' [ब॰ सू॰ ४।१।९] निश्चलत्वरूपं सादृश्यमपेक्ष्य । ध्यायनिव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षमित्यादौ ध्यायतिशब्दप्रयोगदर्शनात् , ध्यातुर्निश्चलत्वस्यापेक्षितत्वादासीनस्यैन च निश्चलत्वसंभवादासीनस्यैन चोपासनमित्यर्थः । 'समरन्ति च' [ब॰ सू॰ ४।१।१०]

उपविश्याऽऽसने युङ्याद्योगमात्मविशुद्धयें [। गी॰ ६।१२]

इति ध्यानाङ्गतयाऽऽसीनता स्मर्यते । अतो ध्याने चित्तैकाग्र्यस्यात्या-वश्यकत्वात्तद्र्थमासीनत्वमपेक्षितम् । 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ' [ ब०स्र० ४।१।११ ] यत एव चित्तैकाग्र्यं प्रधानहेतुरत एव यस्मिन्देशे चित्तैकाग्र्यं भवति स एव देशोऽपेक्षितः। 'समे शुचौ शर्कराविद्ववालुका-विवर्जिते' [ श्वे० २ । १० ] इत्यादिदेशविशेषानियमस्यापि चित्तैकाग्र्य-सिद्ध्यर्थत्वाचित्तैकाग्र्यविरोधे सोऽपि नाऽऽदर्तन्य इत्यर्थ इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ।

तस्माय इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादा श्रा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिन स्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादा श्रा इवैव ते भवन्ति।

ध्यानमापन्ना ध्यानापादा ये मनुष्याणां मध्ये धनादिभिर्महान्तस्ते ध्यानापादानां ध्यातॄणामंशा इव सदृशा इव भवन्ति । यथा ध्यातारोऽ-वचना एवं महान्तोऽप्यवचनतया ध्यातृसादृश्यं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तन्न्यूनत्वे सति तत्सहृशत्वं तदंशत्वम् । महान्तोऽपि मनुष्या यतो ध्यातृ-णामंशा अतो ध्यानं श्रेष्ठमित्यर्थः । अथयेत्वल्पाः क्षुद्रास्ते कलहशीलाः परदोषोद्भावकाः परेषां समीपे तद्दोषवद्नशीला वाचाटा मवन्ति न तु ध्यातृसाहश्यलेशमपि प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । अथ ये तु प्रमवो महा-न्तस्तेऽजल्पाकाः सन्तो ध्यातृसहशा भवन्ति ।

ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपा-स्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भ्य इति ध्यानाद्भाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ १ ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्ध्यो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देविवयां ब्रह्मवियां भूतिवयां क्षत्रवियां नक्षत्रवियाः सर्पदेवजनिवयां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशं चापश्च तेजध्य देवाःश्व मनुष्याःश्व पश्चःश्व वयाःश्व च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गिपितिकं धर्मं चाधमं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनेव विज्ञानाति विज्ञानमुपास्स्वेति॥ १॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्यु-पास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भ्य इति विज्ञाना-द्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्बवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

प्रमाणजन्यज्ञानरूपस्य विज्ञानस्य स्मृतिसंततिलक्षणं ध्यानं प्रति हेतुत्वात्ततो भूयस्त्वं द्रष्टव्यम् । शिष्टं पूर्ववत् ॥ १ ॥

ज्ञानविज्ञानशब्द्योः सामान्यविशेषक्षपत्वाद्विज्ञानवतो ज्ञानवतो लोकानित्युपपत्तिः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः॥ ७॥

> बलं वाव विज्ञानाद्भ्योऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भव-त्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ।

एको हि बलवान्हस्ती विज्ञानवतां मनुष्याणां शतमप्याकम्पयते।
किंचसित बले गुर्वादिषु हृष्टेष्वभ्युत्थानम्, परिचर्या, उपसद्नम्, श्रवणमनननिद्ध्यासनसाक्षात्काराः कर्मविषयकर्तृत्वम्, कृतविषयकज्ञानम्,
एतत्सर्वं बले सत्येव भवति। अतो विज्ञानापेश्रया बलमेव भूय
इत्यर्थः।

वलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन बौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्व वयाश्मि च तृणवनस्प-तयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स यो बलं बह्नेत्युपास्ते यावद्वलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं बह्ने-त्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाज्ज्य इति बलादाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्त्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्या-ष्ट्रमः खण्डः ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्या-ष्टमः खण्डः ॥ ८॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माययपि दश रात्री-र्नाश्रीयाययु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽम-न्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽये दृष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति।

बलसंपादकत्वाद्झमेव बलाद्भूयः। अत एव यदि कश्चित्पुमान्दश रात्रीर्नाक्षीयात्तार्हि बलहान्या म्रियत एव । अथवा यदि कथंचिजीवेत्तार्हि दृष्टुत्वश्रोतृत्वादिरहित एव भवेत् । अद्रष्टाऽश्रोतेति च्छेदः । अन्न-स्याऽऽये लाभे सति । अन्नस्याऽऽयै, इति पाठे छान्द्स एकारस्यै-कारः । अन्नस्याऽऽयीति पाठेऽप्यायो लाभः । अन्नस्याऽऽयी, अन्नं

लब्धवानित्यर्थः । अतश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्नस्पैव बलादिहेतुत्वदर्श-नादिति भावः।

> अन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ सयोऽन्नं बह्नेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पा-नवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपा-स्तेऽस्ति भगवोऽनाद्भय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽ-स्तीति तन्मे भगवान्त्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति च्च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

पानवतः पेयप्रचुरानित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

> आपो वा अन्नाद्भूयस्यस्तस्मायदा सुवृष्टिर्न भवति च्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति ॥

यस्मिन्काले शोभना वृष्टिर्न भवति तदाऽन्नमल्पं भविष्यतीति प्राणिनो दु:खिनो भवन्ति । यदा शोभना वृष्टिर्भवति तदाऽसं बहु भविष्यतीत्यानन्दिनो हृष्टा भवन्ति ।

आप एवेमा मूर्ताः।

इमा वक्ष्यमाणा मूर्तभेदाकारपरिणता आप एवेत्यर्थः । येयं पृथिवी यदन्तिरक्षं यद्बीर्यत्पर्वता यदेव-मनुष्या यत्पशवश्व वयाश्रसि च तृणवनस्प- तयः श्वापदान्याकीटपतङ्गिपिशिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥ स योऽपो बह्नेत्युपास्त आमोति सर्वान्कामार्थः स्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाका-मचारो भवति योऽपो बह्नेत्युपास्तेऽस्ति भग-वोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्बवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अपामुपासकस्य कामानामाप्तिर्युक्तैवेति भावः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ इति च्छान्वोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य दृशमः खण्डः ॥ १० ॥

तेजो वा अद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याऽऽकाश-मितपित तदाऽऽहुर्निशोचित नितपित वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदृर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्धिराह्नादाश्चरित तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयित वर्षिष्यिति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते ।

तेजसोऽप्कारणत्वात्तेज एवाद्भ्यो भूयः। तस्माद्प्कारणत्वादेव हेतोरे-तत्तेजो यदा वायुं स्वात्मना निश्चलीकृत्याऽऽकाशमभिव्याप्य तपति तदा लौकिकास्तेजः कर्तृ जगन्निशोचित नितरां शोचित नितपति नितरां तपति च तस्माद्वश्यं वर्षिप्यतीत्याहुः । तेजसोऽप्कारणत्वादेव तत्तेजः प्रथमतः स्वात्मानं दर्शयित्वा पश्चाद्पः सृजते । तस्मादेव तेजसोऽप्का-रणत्वादेतत्, एतस्मिन्नपि काल ऊर्ध्वगताभिस्तिर्यग्गताभिश्च विद्युद्धिः

स्तनयित्नुशब्दाश्चरन्ति । तद्दर्शनादेव छौकिका विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वेति वद्न्तीत्यर्थः । अत एव कारणभूतं तत्तेजः स्वात्मानं प्रथमतो दर्शयित्वाऽथापः सजते।

तेज उपारस्वेति ॥ १ ॥

स यस्तेजो बह्नेत्युपास्ते तेजस्वी वै तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति ।

तेजस्वित्वादेव लोकानां तत्कार्यं प्रकाशवन्वलक्षणं भास्वत्त्वं बाह्या-भ्यन्तरान्धकारशून्यत्वरूपमपहततमस्कत्वं च ताहशो लोकान्स्वयमपि तेजस्वी सम्नाप्तोतीत्यर्थः।

> यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो बह्नेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्त्रवीत्विति॥२॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यैका-दशः खण्डः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-काद्शः खण्डः ॥ ११ ॥

> आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वे सूर्याचन्द्रमसावुभौ वियुन्नक्षत्राण्य-विराकाशेनाऽऽह्वयत्याकाशेन शृणोत्या-काशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आका-शे न रमत आकाशे जायत आका-शमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

पूर्वसण्डोक्तयोस्तेजोवाय्वोर्ह्याकाशः कारणम् । अत आकाशस्य तजोवाय्वपेक्षया भूयस्त्वम् । अत एवाऽऽदित्यादिज्योतिर्भण्डलमाका- शाश्रितम् । आकाशान्तर्वर्तीन्याह्वानश्रवणप्रतिश्रवणान्यप्याकाशसा-ध्यानि । रममाणोऽपि जन आकाशे शोचन्नपि जन आकाशे जायमा-नोऽप्यङ्कुरादिराकाशलक्षणमवकाशमभिलक्ष्य प्रतीक्ष्यैव जायते । अत आकाशमुपारस्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

> स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति।

आकाशवतो विस्तारयुक्तानत एवान्योन्यपीडालक्षणसंबाधगून्यान्यकाशवतस्तेजस्विन उद्यगायवतः कीर्तिमतो लोकान्प्राप्तोतीत्यर्थः।

यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥

स्मरो वा आकाशादभूयस्तस्माययपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशूनस्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स्मरणशून्या एकत्र बहुव आसीना अपि न श्रवणादिकार्यसमर्थाः। सित तु शक्त्यादिस्मरणे श्रवणादिकार्यसमर्था भवन्ति। अत आका-शकार्यस्य श्रवणादेः स्मरणाधीनत्वात्तस्याऽऽकाशाद्भूयस्त्वमिति भावः। किंच स्मरणशून्यस्य न पुत्रपश्वादिज्ञानमित्यतः स्मरणमुपास्स्वे-त्यर्थः॥ १॥ स यः स्मरं बह्नेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति यः स्मरं बह्नेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्-भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ववीत्विति॥२॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ २॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेखो वै स्मरो मन्त्रा-नधीते कर्माणि कुरुते पुत्राक्ष्य पश्चक्षेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समुध्यन्त्यमोघा हास्याऽऽशिषो भवन्ति ।

आशया फलेच्छयेद्धो दीपित उत्पादितः स्मर इष्टसाधनत्वादिविप-यकं स्मरणमध्ययनकर्मानुष्ठानादिहेतुर्मवतीत्यर्थः । किंच् फलाशायत्तेव पुत्रपश्चादीहलोकपरलोकवाञ्छा । अत आशाया भूयस्त्वमित्यर्थः । उपासितयाऽऽशया सर्वे कामाः समृद्धा भवन्ति । आशाश्चास्य सर्वाः सफला भवन्तीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ।

> यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्या-शाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥२॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥ स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

### प्राणो वा आशाया भूयान्।

अत्र प्राणशब्देन प्राणसहचरितो जीवो लक्ष्यते । तत्र च हेतुरुत्तरत्र वक्ष्यते—

यथा वा अरा नाभी समर्पिता एवमस्मिन्त्राणे सर्वं समर्पितम् ।

यथा रथचक्रस्यारा रथनाभ्याश्रिता एवं समस्तमचेतनं भूतजातमेत-चेतनाश्रितमित्यर्थः । ' मूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः ' [ की० ३।८ ] इति श्रुत्यन्तरात् ।

प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति।

गन्ता देवदत्तादिरिप जीव एव, गमनकरणमूतोऽश्वादिरिप जीव एव, दाताऽपि जीव एव, देयो गवादिरिप जीव एव, संप्रदानमूतो बाह्मणादिरिप जीव एवेत्यर्थ:।

> प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भाता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

पित्रादिरपि जीव इति प्रसिद्ध एवेत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु परिदृश्यमानमांसपिण्डविशेषा एव पित्रादिशब्दवाच्या न जीव इति मन्वानं प्रत्याह—

> स यदि पितरं वा मातरं वा भातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद्भुशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाडुः पितृहा वे त्वमिस मातृहा वे त्वमिस भ्रातृहा वे त्वमिस स्वसृहा वे त्वम-स्याचार्यहा वे त्वमिस ब्राह्मणहा वे त्वमिसीति ॥ २ ॥

अथ ययप्येनानुत्कान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नेवेनं ब्रुयुः पितृहाऽसीति न मातृ-हाऽसीति न भातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाऽऽचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति॥ ३॥ प्राणो ह्ये वैतानि सर्वाणि भवति।

सजीवेषु पित्रादिशरीरेषु धिक्त्वामित्येव किंचिद्भृशमधिक्षिपति पुरुषे पितृहेत्यादिशब्दान्प्रयुक्षते । तेष्वेव शरीरेषूत्क्रान्तजीवेषु शूलेन समासं संपूर्वात्क्षेपार्थाद्स्यतेर्णमुलन्तोऽयं शब्दः। शूलेन सम्यक्पतिक्षिप्य व्यत्यस्य सम्यग्दहत्यपि पुरुषे पितृहेत्यादिशब्दा न प्रयुज्यन्त इत्यर्थः । अतः सजीवेषु पित्रादिषु हिंसितेषु पितृहेत्यादिशब्दप्रयोगान्निर्जीवेष्वप्रयो-गाच निर्जीवस्य शरीरस्य पित्रादित्वाभावस्य सिद्धत्वाजीव एव पित्रादि-र्भवतीत्यर्थः। भगवता भाष्यकृता-प्राणशब्दनिर्दिष्टः प्राणसहचारी प्रत्य-गात्मैव न वायुविशेषमात्रम्। प्राणो ह पिता प्राणो मातेत्याद्यः प्राणस्य चेतनतामवगमयन्ति । पितृहा मातृहेत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रमृतिषू-पमर्दकारिणि हिंसकत्वादिनिमित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वेव विगतप्राणेष्वत्य-न्तोपमर्कारिण्युपकोशाभावाच हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राणशब्दनिर्दिष्टः। अप्राणेषु स्थावरेष्वपि चेतनेषूपमर्दमावामावयोर्हिसातद्भावद्र्शनाद्धि-सायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैवेति निश्चीयते । अत एव चारनाभिदृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राणशब्द्निर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम् । परस्य हिंसाप्रसङ्गामावात्, जीवादितरस्य भोग्यभोगोपकरणस्य कृत्स्र-स्याचिद्वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनाभिदृष्टान्तोपपत्ते-श्रेति भाषितम् । यद्यपि 'नायं हन्ति न हन्यते ' [गी० २ । १९] इति निर्दिष्टस्य जीवस्य स्वतो हिंसायोग्यत्वामावेऽपि देहादिसाहित्य-प्रयुक्तहिंस्यत्ववन्मुख्यप्राणस्यापि हिंस्यत्वं सुवचम्, स्थावरहिंसास्थ-लेडिप 'भेद्श्रुतेः ' 'वैलक्षण्याच' [ब० सू० २।४।१८।१९] इति सूत्रमा-ष्योक्तरीत्या स्थावरेषु प्राणस्य पञ्चधाऽवस्थाय शरीरधारणाभावेऽपि पाणसद्भावोऽस्तीति, न तु दृष्टान्तभावादिति सूत्रे भाषितत्वेन प्राणस्य सद्भावाद्धिंसादिवचनमुपपद्यत एव, तथाऽपि प्राणो ह पितेत्यादिवाक्य-निर्दिष्टानां जीववाचितया लोके प्रसिद्धानां बहुनां पित्रादिशब्दानां गौणत्वकल्पनापेक्षयैकस्य प्राणशब्दस्यैव जीवत्वमाश्रयणीयमिति भाष्यकाराभिप्रायः । अत एव वृत्तिकृता भगवता बौधायनेनापि 'मूमा संप्रसादाद्ध्युपदेशात्' [ ब० स० १।३।८] इति स्त्रव्याख्याने प्रत्यगात्मन ऊर्ध्वमुपदेशादित्येवोक्तं न तु मुख्यप्राणाद्वर्ध्वमिति वेदना-जनकष्यापारलक्षणिहांसाया वेदनाशून्येऽचेतनेऽसंमवाञ्च ।

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति ।

पूर्ववाक्ये प्राणशब्दिनिर्दिष्टः स वैष जीवः स्वात्मानमुक्तेन प्रकारेण मन्वानो मननविषयीकुर्वन्ननेन प्रकारेण विजानन्नुपासीनश्च संस्तेन प्रकारेण पश्यन्साक्षात्कुर्वन्नतिवादी भवति । अतिक्वान्तस्योपास्यव-स्तुवादी भवति स्वोपास्यवस्तुनः सर्वोत्कृष्टत्ववादी मवतीत्यर्थः । वृह्व-स्पतिसमप्रत्यर्थिजनाप्रतिभाधायकस्वोपास्यदेवतापारम्यवादशीलत्वम-तिवादित्वम् । तज्वोपास्यदेवतातिशये पर्यवस्यति । एवं पश्यन्नेवं मन्वाम इत्यादी 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः। ततश्च स्वोपास्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वे हेतुरित्यर्थः । साक्षात्कारपीतस्वोपास्य-देवतानामुश्चादीदृशपतिवादित्वं भवतीति भावः । अत्र स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान इति वाक्येन पूर्वसंदर्भनिर्दिष्टस्य प्राणस्य द्रष्टृत्वमन्तृ-त्वादिकथनादिप प्राणशब्दिनिर्दिष्टो जीव इत्यवसीयते । प्राणशब्दिनिर्दिष्टस्य जीवत्वज्ञापनायैव हि स वा एष इति पद्योः प्रवृत्तिरिति द्रष्टयम् ।

तं चेद्ब्र्युरितवायसीत्यितवाय-स्मीति ब्र्यान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

प्राणशब्दितस्य जीवस्य पूर्वोक्तनामाद्याशान्तसर्वातिशायित्वादेवा-तिवादित्वं नापह्नोतव्यमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अत्र पूर्वपर्यायेष्वनुक्तस्यातिवादित्वस्य कथनात्प्रकान्त आत्मोपदेशः प्राणशब्दिते प्रत्यगात्मनि पर्यवसन्न इति प्राणाद्वाव भूयोऽस्तीति पुनर-पृच्छत्येव नारदे सनत्कुमारः स्वयमेव ततोऽप्यतिशयितं परमात्मानमुप-क्षिपति-

### एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति ।

तुशब्दो विशेषप्रदर्शकः । 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्य-मिति '[ छा० ८ । ३ । ४ ] इति दहरविद्यायां वक्ष्यमाणत्वात् ' सत्यं ज्ञानमनन्तं बह्म ' [तै० २।१।१] इति सत्यशब्दस्य बह्मणि प्रसिद्धेः सत्यशब्दो ब्रह्मपरः । तस्य सततैकरूपत्वेन निविकारत्वात्सत्यत्वम् । तेन बह्मणा निमित्तेन योऽतिवद्त्येषोऽतिवादी पूर्वस्मात्प्राणातिवादिनो विशिष्ट इत्यर्थः । अत्र भाष्यकृता सत्येनेतीत्थं मूतलक्षणे तृतीया । सत्येन परेण ब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवद्तीत्यर्थ इतीत्थंमूतल-क्षणे तृतीया कण्ठतः प्रतिपादिता । अतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्यशब्दा-भिधेयं च परं बह्म प्रतीयत इति भाष्यवाक्यान्निमित्तत्वार्थकत्वमपि तृतीयायाः सूचितम् । ततश्च निमित्तस्य करणत्वविवक्षया कारकविम-कित्वमपि भाष्यकृद्भिमतमेवेति द्रष्टव्यम् । अत्र सत्यातिवादिनः प्राणातिवाद्यपेक्षयाऽतिशयकथनात्सत्यशब्द्निर्दिष्टस्य परस्य प्राणशब्द्निर्दिष्टजीवापेक्षया भूयस्त्वमुक्तं भवति । न च पूर्वप्रस्तुतप्राणा-तिवादिन एव 'एप तु वा अग्निहोत्री यः सत्यं वद्ति ' इत्यादाविव सत्यवद्नमङ्गतया विधीयतामिति वाच्यम् । एष तु वा अग्निहोत्रीति वाक्ये द्रव्यदेवतान्तरामावेनाग्निहोत्रान्तराप्रतीतेस्तुशब्दस्वारस्यमङ्गः । इह तु प्रकृतातिवाद्निमित्तप्राणव्यतिरिक्तस्य सत्यशब्दितस्य ब्रह्मणो निमित्तान्तरस्य प्रतीतेर्न तत्स्वारस्यभङ्गो युक्तः । किंच सत्यवद्नस्या-क्कतया विधाने सत्यं वद्तीतिनिर्देशस्य युक्ततया सत्येनेति नृतीयाया . अतीत्युपसर्गस्य चायोगादिति दृष्टव्यम् ।

सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति ।

ब्रह्मणाऽतिवदानीति शिष्यः प्रार्थयामासेत्यर्थः । इतर आह—

सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ।

यदि सत्यशब्दितब्रह्मानिमित्तकातिवादितामभिलपसि तार्हे ब्रह्मो-

पास्यमित्यर्थः । ब्रह्मोपासनमितवादित्वहेतुरिति यावत् । शिष्यस्तद्-भ्युपगच्छति—

सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

विजिज्ञास उपासनं करोमीत्यर्थः ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य पोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

बह्मोपासनस्यातिवादित्वहेतुत्वं ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारेत्याह— यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति ।

अत्र विजानातिशब्दः साक्षात्कारपरः । यदा वै साक्षात्करोति तदा सत्यं वद्ति सत्यंनातिवद्तीत्यर्थः । पूर्वत्र सत्यंनातिवदानीतिनिर्दृष्टत्वान्तर्त्यशब्द्तिस्य ब्रह्मणोऽतिवद्नं प्रति निमित्तत्वेन करणत्वविवक्षया वृतीयाया वद्नं प्रति कर्मतया द्वितीयाया अप्युपपत्तेः । 'स वा एष एवं पश्यक्षेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी मवति 'इति साक्षात्का-रमननोपासनानामितवादित्वनिमित्ततया पूर्वत्रोक्तत्वात् । 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति 'इत्युपासनस्योक्तत्वात् । 'मतिस्त्वेव विजिज्ञा-सितव्येति '[छा० ७ । १८ । १] इति मननस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत्र विजानातित्यनेन साक्षात्कार एवोच्यते । उक्तं च व्यासार्थः—विजानातिशब्दः साक्षात्कारपरो न तु शास्त्रजन्यज्ञानपरः । ' यदा वै मनुत्रेऽथ विजानाति '[छा० ७ । १८ । १] इति विजानात्य-र्थस्य मननसाध्यत्वावगमात् । सत्यं वद्ति सत्यमितवद्तीत्यर्थ इति ।

नाविजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।

साक्षात्काराभावे नातिवादित्वम् । अतः साक्षात्काररूपं विज्ञानं विजिज्ञासितव्यं संपाद्यमित्यर्थः । पाकं पचतीतिवद्विज्ञानं विजिज्ञा- सितव्यमिति निर्देशः । उत्तरस्यापि विजिज्ञासितव्यपद्स्य संपाद्यत्वमे-वार्थः । उक्तं च व्यासार्थैः — सत्यव्यतिरिक्तविषयाणि विजिज्ञासित-व्यपदानि संपाद्यवाचीनीति । शिष्यस्तद्भ्युपगच्छति—

> विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य सप्तदशः खण्डः ॥ ३७॥

हे भगवन्नतिवादित्वनिमित्तं साक्षात्कारं संपाद्यामीत्यर्थः । पूर्वखण्डे 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ' इति ब्रह्मोपासनस्यातिवादित्वहे-तुत्वकथनादत्र च वाक्ये साक्षात्कारस्यातिवदनहेतुत्वकथनाद्वह्मोपास-नतत्साक्षात्कारयोद्घारिमावापन्नयोरेवातिवादहेत्त्वं सिध्यति । एत-त्सर्वमभिष्रत्य भगवता भाष्यक्रता—ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्व-सिद्धये परब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनं सत्यं त्वेव विजिज्ञा-सितव्यमित्यपदिश्येति भाषितम् । केचित्त-सत्यं त्वेव विजिज्ञासित-व्यमिति विहितं साक्षात्कारहेतुभूतं विज्ञानमेव यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदतीति खण्डेनापि निर्दिश्यते न तु साक्षात्कारः, एवं च सति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ब्रह्मोपासनमुपद्दिश्य तदुपायभूतं ब्रह्म मननं मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपिइयेति भाष्यमपि स्वरसमिति वदन्ति ॥ १ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य सप्तद्शः खण्डः ॥ १७ ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजा-नाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासि-तब्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्या-

ष्ट्रादश: खण्ड: ॥ १८ ॥

ब्रह्मोपासनोपायभूतं मननं संपाद्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्या-ष्टाद्शः खण्डः ॥ १८ ॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥
इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यैकोनविंशतितमः खण्डः ॥ १९ ॥

अत्र च भाष्यकृता—श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन श्रव-णमप्यर्थसिद्धं मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्माणि श्रद्धां श्रद्धाः त्वेव विजि-ज्ञासितव्येत्युपदिश्येति भाषितम् । तत्र श्रवणोपायभूतां ब्रह्माणि श्रद्धा-मित्यनेन ब्रह्मश्रवणविषयिणी श्रद्धाः विवक्षिताः । श्रद्धाः च त्वरेति व्यासार्थेव्यांख्यातम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-कोनविंशतितमः खण्डः ॥ १९॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठच्छ्र-द्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजि-ज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य विंशतितमः खण्डः ॥ २०॥

बह्मैव श्रोतव्यं नान्यदिति व्यवसायरूपा निष्ठा श्रोतुस्त्वरालक्षणश्र-द्धोपायतया संपाद्येत्यर्थः शिष्टं पूर्ववत् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य विंशतितमः खण्डः ॥ २० ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्ति-ष्ठति क्रत्वैव निस्तिष्ठति क्रतिस्त्वेव विजि-ज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यै-कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

उद्योगप्रयत्नापरपर्याया श्रोतव्यान्तरेषु हेयत्वानुसंधानेन मनसो निय-मनरूपां कृतिर्बहींव श्रोतव्यमितिव्यवसायलक्षणानिष्ठाहेतुत्वात्संपाद्ये-त्यर्थः ॥ १ ॥

**इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-**कविंशः खण्डः ॥ २१॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञा-सितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ २२॥

उक्तलक्षणायाः कृतेर्बद्धाणि निरतिशयानुकूलत्वावगममन्तरेणासंम-वाच्छोतव्यान्तरेषु हेयत्वानुसंधानाहितमनोनियमनरूपकृतिहेतुतयाऽ-त्यन्तानुकुलत्वलक्षणं सुखत्वं ब्रह्मणि ज्ञातव्यमित्यर्थः । अत्र च श्रवण-मननश्रद्धादेः प्रागेव सुखप्राप्त्यसंभवात्प्राप्त्यर्थस्यापि लमतेर्ज्ञानमेवार्थः। ज्ञानस्यापि प्राप्तिरूपत्वात् । श्रोतव्येऽत्यन्तानुकूलज्ञानामावे श्रोतव्यान्त-रेषु हेयत्वानुसंधानाहितमनोनियमनरूपकृतेरसंभवात् । अत्यन्तानुकूलत्वं श्रोतच्ये ब्रह्मणि ज्ञातव्यमिति भावः । अत्रत्यविजिज्ञासितव्यशब्दस्य ज्ञातव्यत्वमर्थः । नोपासितव्यत्वं संपादनीयत्वं वा ॥ १ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥१॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य त्रयोर्विशः खण्डः ॥ २३ ॥

मूमशब्दो हि बहुत्ववाची। बहुशब्दात्पृथ्वादित्वादिमनिचि बहोर्लोपो मू च बहोरिति प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे च सति तन्निष्पत्तेः । बहुत्वं चात्र वैपुल्यं न संख्याविशेषः । बहुशब्दस्य बहुषु बहुवचनमित्यादौ संख्याया-मिव 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः' इत्यादावल्पत्वप्रतियो-गिनि वैपुल्येऽपि प्रयोगदर्शनादिहापि नाल्पे सुखमस्तीत्यलपत्वप्रतिद्वंद्वि-तयैव भूमशब्दप्रयोगाच वैपुल्यमेवार्थः । वैपुल्यं च गुणोत्कर्षरूपं न तु परिमाणकृपं सुखशब्दसामानाधिकरण्यात् । न हि सुख उत्कर्षवत्परि-माणं प्रसिद्धमस्ति । अत उत्कर्षकृतवैपुल्यमेवेह मूमशब्देन विव-क्षितम् । अत एव न वैपुल्यरूपधर्मपरो भूमशब्दः । सुखस्य वैपुल्यरूप-त्वाभावात्। अल्पत्वप्रतियोगितया निर्देशाच। न ह्यत्र वोत्तरत्र वाऽल्पत्वं भूमप्रतियोगितया निर्दिश्यतेऽपि त्वल्पत्वमेव । अतोऽल्पशब्दप्रतियोगितया पयुज्यमानो भूमशब्दो वैपुल्याश्रयधर्मिपर एव । ततश्चायमर्थः - यदुत्कृष्टं विपुलं तदेव सुखम् । अत्यन्तानुकूलमित्यर्थः । नाल्पे सुखमस्ति । सुखं सुखत्वम् । अत्यन्तानुकूलत्वमित्यर्थः । 'अपशवो वाऽन्ये गोश्वेभ्यः' इत्यत्र गवाश्वव्यतिरिक्तेऽजादौ पशुत्वनिषेधस्य प्रशस्तपशुत्वनिषेधपरत्व-वद्ल्पे प्रत्यगात्मसुखे सुखत्वनिषेधस्य प्रशस्तसुखत्वनिषेधपरत्वात, पूर्व-. खण्ड एव सुखशब्दस्यात्यन्तानुकूलार्थतया व्याख्यातत्वात्, ततश्च भूम-भिन्नस्य सुखत्वाभावात, सुखत्वादेव हेतोर्भूमत्वमप्यस्तीति ज्ञातच्य-मित्यर्थः । एतत्सर्वं भाष्येऽपि स्पष्टम् ॥ १ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३॥

एतद्वाक्यप्रस्तुतयोर्भूमाल्पशब्दयोरर्थं जिज्ञासमानं प्रत्याह—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्य-द्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्य-त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् ।

यत्रेत्यनुभूयमान इत्यध्याहारः । यत्र वस्तुन्यनुभूयमाने ततोऽन्यन्न हरयते न श्रूयते न विज्ञायते च स भूमेत्यर्थः । यस्मिन्द्रश्यमाने ततोऽ-न्यन्न दृश्यते यस्मिङ्ययमाणे ततोऽन्यन्न श्र्यते यस्मिन्विज्ञायमाने ततोऽन्यन्न विज्ञायते स भूमेत्यर्थः । यद्वा सप्तम्या विषयत्वमर्थः । पर्य-न्नित्यध्याहारः । ततोऽन्यन्न पश्यतीत्यर्थः । अत्र तदितरस्य दर्शनाद्य-भावो विषयाभावकृतः । ततश्च यतोऽन्यञ्चास्ति स भूमेति पर्यवसि-तोऽर्थः । ननु चेतनाचेतनवर्गस्य तिद्धान्तवात्कथं भूक्षोऽन्यन्नास्तीत्यु-च्यते । न च चिद्चिद्विशिष्टस्यैव भूसबहाशब्दार्थत्वाचिद्चितोरपि त-ब्रान्तर्भावात्तद्वयन्नेति निषेधः शक्यते कर्तुमिति वाच्यम् । विशेषण-भूतयोश्चिद्चितोर्भूमबह्मशब्दार्थभूताहिशिष्टादन्यत्वेन ततोऽन्यन्नास्तीति निषेधस्यायुक्तत्वात् । अत एवं जगदैश्वर्यविशिष्टमनुभवंस्तद्तिरिक्तं वस्तु न पश्यतीत्यपि न युक्तम्। ऐश्वर्थविशिष्टादीशितव्यस्य भिन्नत्वात्। सार्वज्यविशिष्टतयाऽवशिष्टमनुभवंस्तद्तिरिक्तं न पश्यतीत्यपि न युक्तम्। सुशकतया विशिष्टस्यापि भूमत्वप्रसङ्गः । किंच 'अथात आहेशः' [बृ० २।३।६] इति भूम्न एवाऽऽत्मत्वस्योपदेक्ष्यमाणत्वात्, 'तरति शोकमात्म-वित्र' [छा० ७।१।३] इति प्रस्तुतस्याऽऽत्मोपदेशस्य भूक्षिपर्यवसानाच भूम आत्मत्वमवर्जनीयम् । न हि चिद्चिद्विशिष्टस्याऽऽत्मत्वमस्ति विशे ण्यस्यैवान्तः प्रविद्य नियन्तृत्वेनाऽऽत्मत्वात् । अतश्च तस्यैव भूमत्वं वक्तव्यम् । न चेदं लक्षणं संभवति तद्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सत्त्वादिति चेदुच्यते । बह्मशब्द्वद्भूमशब्द्स्यापि वस्तुपरिच्छेद्शून्यत्वमेवार्थः। वस्तुपरिच्छेदो नामेद्मिदं नेति निर्देशार्हत्वम् । तद्दाहित्यं स्वरूपामे-दाद्वा भवेत्तद्पृथक्सिन्द्वत्वाद्वा भवेत्। तत्र जीवजङयोरीश्वराभेदाभावा-त्तद्पृथिक्सद्भात्ताकत्वमिति फलति । तच द्वेधा घटते तत्सत्ताव्यति-रिक्तसत्ताशून्यत्वाद्वा ।

यद्धीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते ।

इति स्मृत्यनुसारेण तद्धीनसत्ताकत्वाद्वा भवेत् । तत्र तत्सत्ताव्यितिरिक्तसत्ताश्चन्यत्वमिष सत्तारूपविशेष्याभावेन मिथ्यात्वाद्वा भवेत् ।
तत्सत्ताभिन्नसत्ताकत्वेन सत्ताव्यितिरिक्तत्वरूपविशेषणाभावाद्वा भवेत् ।
तत्र सत्ताशून्यत्वं सकलप्रमाणविरुद्धं नाभ्युपगमार्हम् । तथैव तत्सत्ताभिन्नसत्ताकत्वमिष नाभ्युपगमार्हम् । अषि तु तत्सत्ताधीनसत्ताकत्वमेव ।
एवंविधस्यावृथिक्सद्धत्वस्य सिद्धान्तेऽभ्युपगतत्वान्नानुपपत्तिः । 'अंशो
नानाव्यपदेशात्' [ ब० सू० २ । ३ । ४३ ] इत्यवाष्टथिकसद्धत्वलक्षणांशस्याभेद्व्यपदेशनिर्वाहकत्वोक्तेः स्वनिष्ठत्वलक्षणभरणमिह सत्ताशब्दार्थः । उक्तं च हरिणा—

'आत्मानमात्मना बिभ्रद्स्तीति व्यपद्दियते ।'

इति चेतनाचेतनयोरात्मभरणलक्षणसत्ता परमात्मसत्ताधीनेत्यर्थः । ततश्च यत्र नान्यदित्यस्यापि यत्सत्तानधीनसत्ताकं नास्ति यद्-नात्मकं नास्तीत्यर्थपर्यवसानाञ्चानुपपत्तिः । यहा 'समाने पूर्ववत्त्वात्' [ जै० ७ । १ । २ । १३ ] इति साप्तामिकाधिकरण इतरादिसर्वनाम-शब्दानां पूर्वनिर्दिष्टसदृशवाचित्वस्य व्यवस्थापिततया नान्यतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिवाक्येष्विव यत्र नान्यत्पश्यतीति वाक्येऽपि समानान्यनिषेधपर-त्वाश्रयणाञ्चानुपपत्तिः । उक्तलक्षणकभूमविपरीतलक्षणमल्पमित्यर्थः ।

# यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

् उक्तलक्षणो भूमैवामृतम् । जननमरणादिशून्यं नित्याविर्भूतानन्या-धीनापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमिति यावत् । इतरत्त्वनीहशम् । नित्यमु-क्तादीनामप्यनन्याधीनताहकत्वाभावान्न वाक्यार्थानुपपत्तिरिति द्रष्ट-व्यम् । सर्ववस्तूनामाधारसापेक्षत्वं दृष्ट्वा शिष्यः पृच्छति—

#### स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ।

उत्तरमाह—

### स्वे महिम्नि।

इति । स्वस्वरूपमहिमाधारकः । 'स्वयं दासास्तपस्विनः ' इति-वद्नाधार इत्यभिपायः । उक्ताभिप्रायेणाऽऽचार्यः स्वयमुक्त्वा स्वशब्द-स्याऽऽत्मात्मीयवचनत्वादात्मीये नियाम्यतया महिमभूते गवाश्वहस्ति- हिरण्यदासभायांदिलक्षणे प्रतिष्ठित इत्यभिप्रायं शिष्यो गृह्णीयात् । अथ वा स्वशब्दस्य स्वातमपरतयाऽऽत्माधार इत्यभिप्राय इति वा वाक्या-भित्रायं बुध्येत । न च तदुभयमपि संभवति । परमात्मन उभयविभ-तिलक्षणात्मीयमहिमसद्भावेऽप्यनाधारस्य परमात्मनस्तत्प्रतिष्ठितत्वासं-भवात् । न ह्यतिशिक्षितोऽपि नटपदुः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनतीति न्यायेन स्वस्य स्वाश्रितत्वासंभवाञ्च । अतो न द्वयमपि युज्यते । अतः शिष्यस्य सा बुद्धिर्निर्वर्तनीयेति मत्वा पुनराह—

यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

यदि वा स्वविवक्षितानाधारत्वाभिप्रायातिरिक्ते पूर्वोक्तपक्षद्वये त्वयाऽऽ-शक्किते न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति बूम इत्यर्थः ॥ १ ॥ तद्विवृणोति-

> गोअश्वमिह महिमेत्याक्षते हस्तिहि-रण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति ।

गोअश्वमित्यादौ द्वंद्वैकवद्भावः । आयतनानीतीतिशब्दः प्रकारवचनः । एवंजातीयकानीत्यर्थः।

नाहमेवं बवीमि बवीमीति होवाच ।

तत्र प्रतिष्ठितत्वं न ववीभीत्यर्थः । उक्तं च व्यासार्थैः 'अस्य महिमा-निमिति वीतशोकः ' मु०३।१।२ | एतां विभूतिं योगं चेत्यादि-श्रुतिस्मृतिषु परमात्मनो महिमवत्त्वावगमात् । यदि वा न महिस्रीति न महिमनिषेधः । अपि तु विभूतिरूपमहिमप्रतिष्ठितत्वनिषेधोऽवगम्यत इति । अथ स्वरूपमहिमप्रतिष्ठितत्वं निपेधति—

> अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्विशः खण्डः ॥ २४ ॥

न स्वस्य स्वप्रतिष्ठितत्वं संभवतीति भावः ॥ २॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य चतुर्विद्याः खण्डः ॥ २४ ॥

ननु यत्र नान्यत्पश्यतीत्यनुपपन्नं नानादिग्वर्तिनां चेतनाचेतनपदा-र्थानां भिन्नानामुपलम्मादित्यत्राऽऽह—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदश सर्वमिति।

अत्र स एवेदं सर्वामिति सामानाधिकरण्यात्स इति निर्दिष्टस्य भूम्न इदं सर्वामिति निर्दिष्टस्य चिद्वचिद्वर्गस्य च शरीरात्ममावः फलितो भवति । शरीरात्ममावश्च व्याप्तिनिबन्धन इति स एवाधस्तादितिश्चत्यिमप्रायः । ततश्च यत्र नान्यत्यश्यतीति तद्नात्मकान्यनिषेधे नानुपपत्तिरिति मावः । एवं सर्वात्मभूतस्य भूझ उपासने स्वशरीरकतयोपासनं कर्तव्यमित्युप-दिशति—

#### अथातोऽहंकारादेशः।

क्रियत इति शेष: । अथशब्द: प्रकृतविषयद्योतनार्थः । अहंकारोऽहं-बुद्धि: । अहंग्रहेण भूझ उपासनप्रकारः । अतः परमुपदिश्यत इत्यर्थः । न तु जीवस्वरूपोपदेश इति मन्तव्यम् । तथा सत्यहमादेश इति निर्दे-शस्यैव युक्ततया कारपद्वैयर्थ्यात् । परमात्मनोऽहंग्रहेणोपासनप्रकार-मेव दर्शयति—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणनोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदश सर्वमिति ॥ १ ॥

सर्वदिग्वतिसर्वातमा भूमाऽहमेवेति ज्ञातव्यमित्यर्थः । न तु जीवस्य सर्वात्मकत्वमुपिव्यत इति भ्रमितव्यम् । जीवस्यांतथात्वात्, तथात्वे कारशब्द्वैयर्थ्यस्योक्तत्वाच । उक्तं च भगवता भाष्यकृता—यत्तु अहमेवाधस्तादित्यादिना सर्वात्मकत्वमुपिवृष्टं तद्ध्यमिविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहं- यहेणोपासनमुपिवृश्यते । अथातोऽहंकारादेश इत्यहं यहेणोपदेशोपक्रमा- दिति, परमात्मनः प्रत्यगात्मशरीरकत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहं यहेणोपासनं कर्तव्यमिति च ॥ १ ॥

नन्वहंबुद्धिशब्दयोर्जीवात्मविषययोः कथं भूमपर्यन्तत्वम्, अनहमर्थे च परमात्मन्यहंबहोपासनस्यायथार्थत्वमेव स्यादित्याशङ्क्य भूमनः प्रत्यगात्मानं प्रत्यात्मत्वेन तद्दिषयबुद्धिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वमुप-

१ क्षेसूरसुद्रितपुस्तके-स्यासवीधारत्वेनासर्वातमकत्वात्, इति पाठान्तरम् ।

पद्यत इति दर्शयन् 'तरित शोकमात्मवित् ' इति प्रक्रान्तमात्मत्वोपदेशं भूमि समापयित—

#### अथात आत्मादेशः।

अत्रापि क्रियत इति शेषः । अथशब्दः प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः। आत्मादेश आत्मत्वोपदेशः क्रियत इत्यर्थः।

> आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ता-दात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद सर्वमिति ।

सर्वात्मतय पिद्रियमानी भूमा स्वीपासकस्याऽऽत्मैवेत्यर्थः । ततश्च तत्राहं बुद्धिशब्दयोर्याथार्थ्यमेवेति भावः । नन्वथात आत्मादेश इत्यात्म-त्वोपदेशः प्रकृतभूमविषय इति कथमवसीयत इति चेन्न । भिन्नयोईयोः सार्वातम्यायोगेनैकविषयत्वस्यैव सिद्धत्वात् । ननु स एवाधस्तादित्य-नेनैव सार्वात्म्यस्य सिद्धतयोपासकात्मत्वमपि सिद्धमेवेत्यथात आत्मा-देश इत्युपदेशे व्यर्थ इति चेत् । सत्यम् । स एवेद सर्वामिति सामाना-धिकरण्येनाऽऽत्मत्वं फलति । अथापि कण्ठोक्त्योपासकात्मत्वसिद्ध्यर्थं विशिष्य कण्डोक्त्योपदेशः । न चाथात आत्मादेश इति सामान्योक्ति-रुपासकं प्रत्यात्मत्वोपदेश इति विशेषे किं नियामकमिति वाच्यम् । 'एवं विजानत आस्मतः पाणः इति विद्वद् तसनः प्राणाद्यपाद् । नत्वेन सार्वा-तम्यस्योत्तरत्र प्रतिपाद्यिष्यमाणत्वात् । यत्त्वत्र परेरहंकारस्याऽऽत्मैक-त्वेन प्रत्यक्ष सिद्धस्य 'अथातोऽहंकारादेशः ' 'अथात आत्मादेशः ' इति पृथगुपदेशो भेदार्थः, भूमात्मनोभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगु-पदेश ऐक्यार्थः । हृयोः सार्वात्म्यायोगादिति तदसारम् । अहमर्थादन्य-स्याऽऽत्मनो भूमारूयब्रह्माभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोः पृथगुपदेशो भेदार्थः । अहमर्थस्य तु ब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्त्रयोरुपदेश ऐक्यार्थ इति वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वादित्यास्तां विस्तरः।

> स ग एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मर-तिरात्मक्रीड आत्मिथुन आत्मानन्दः स स्वरा-इभवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

रतिः स्रक्षन्द्नाद्जिन्या प्रीतिः । क्रीडा , उद्यानाद्जिन्या । स्त्रीसं-भवा प्रीतिनिथुनम् । विभूतिजन्या प्रीतिरानन्दः । आत्मैव रतिर्यस्य स तथोक्तः । एवमुत्तरत्रापि । श्रवणमनननिदिंध्यासनैरुक्तभूमात्मसा-क्षात्कारनिष्ठस्य सर्वविधमुखानुभवोऽप्यात्ममुखानुभवान्तर्गत इत्यर्थः । स्वराट्, स्वयमेव राजा । अकर्मवश्यो विधिनिपेधिकंकरो न भवतीति यावत् । 'अत एव चानन्याधिपतिः ' [ त्र० स्० ४ । ४ । ९ ] इति सूत्रेऽत एव सत्यसंकल्पत्वादेव । अनन्याधिपतित्वं विधिनिपेधायोग्य-त्वम् । विधिनिपेधयोग्यत्वे हि प्रतिहतसंकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसं-कल्पत्वश्रुत्येवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अत एव स स्वराङ्मवती-त्युच्यत इति भाषितम् । 'प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेत् ' [ त्र० स्० ४ । ४ । १८ ] इति सूत्रे—अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान्त्र-स्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तृप्यतीति सर्वेषु लोवेषु कामचारो भवतीत्यस्य वाक्यस्यार्थ इति भाषितम् ।

> अथ येऽन्यथाऽतो विद्वरन्यराजानस्ते क्षय्यहोका भवन्ति तेषा सर्वेषु होकेष्वकामचारो भवति॥२॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५॥

य उक्तप्रकाराद्रन्येन प्रकारेणोपासते तेऽन्यराजानो भवन्ति विधिनि-षेधिकंकरा भवन्ति कर्मवश्या भवन्तीत्यर्थः । स्वराडित्यस्य प्रतिद्वंद्वि-त्वात्क्षैय्यलोकाश्च भवन्तीत्यर्थः । अत्र क्षय्यलोका भवन्तीत्यनेन यथो-क्तप्रकारेण परमात्मोपासकानामक्षय्यभगवलोकत्वमस्तीत्युकं भवति॥२॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपारकस्य पञ्जविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अथात आत्मादेश इत्यनेनोक्तमुपासकान्तर्यामिणश्चेतनाचेतनसकल-प्रपञ्चोपादानत्वलक्षणसर्वात्मकत्वं स्पष्टयति—

> तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत

आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न-मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमा-त्मतिश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेद्श सर्वमिति ॥ १ ॥

उपासकस्यान्तर्याम्येव प्राङ्निर्दिष्टपाणशब्दितजीवपर्यन्तसकलपप-श्चोपादानमतोऽहमेवेदं सर्वमितिविहिताहंग्रहस्तात्त्विकविषय एवेति भावः॥१॥

#### तदेष श्लोकः।

तस्मिन्विषय एप वक्ष्यमाणः श्लोकः प्रवृत्त इत्यर्थः ।
न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखता स्
सर्वे ह पश्यः पश्यति सर्वमान्नोति सर्वश इति ।

पश्यो बहाद्शीं मृत्युं मरणं रोगं दुःखसाधनं जगित प्रतिकूलतां च न पश्यति सर्वसाक्षात्कर्ता सन्संकल्पमात्रेणैव संकल्पितानर्थानसर्वस्मिन्काले प्राप्नोतीत्पर्थः । अपहतपाष्मत्वादिगुणाष्टकाविर्मावो भवतीत्पर्थः । अत्र जगित दुःखतां न पश्यतीत्युक्त्या जगितो मुक्तं प्रतिकूलत्वं नास्ति । पित्तोपहतस्य पयःप्रतिकूलत्ववज्जगितः प्रतिकूलत्वं कर्तृकर्मनि-चन्धनमित्युक्तं भवति ।

> स एकथा भवति त्रिधा भवति पश्चधा सप्तथा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विश्शतिः।

आत्मनो निरवयवस्य त्रेधा पश्चधा सप्तधेत्यादिविभागायोगात्संकल्पपिरगृहीतानेकविधशरीरो भवतीत्यर्थः । एतं मोक्षसाधनभूतोपासनपकारमुपिद्वय तादृशोपासनिष्पत्तावन्तःकरणस्योपासनोत्पत्तिप्रतिबन्धकपापराहित्यमपेक्षितम् । तच राजसतामसाहारसेविनां न संभवति,
अपि तु तद्विविक्तसान्त्विकाहारसेविनां भवेदित्युपासकः सान्त्विकाहारसेवी भवेदित्युपिद्देशति—

# आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

इति । आहारशुद्धौ सात्त्विकाहारसेवने सित सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिनैर्मल्यं भवति । तन्नैर्मल्यं सित ध्रुवस्मृतिरिविच्छिन्नस्मृतिसंतानकः पात्मध्यानं सिध्यति । ध्रुवस्मृतिर्छम्भे दुर्मीचतया यन्थिशव्द्वाच्यानाम-विद्यारागादीनां मोक्षो भवतीत्यर्थः । अत्र स्मृतिव्यम्भ एव सर्वयन्थीनां विप्रमोक्ष इत्युक्त्या स्मृत्यनन्तरभाविना स्मृतिविद्यक्षणेन दर्शनेन न मोक्षः, अपि तु दर्शनसमानाकारस्मृतिसंतानेनेव । ततश्च 'स वा एप एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् ' [ छा० ७ । १५ । ४ ] इत्यत्र पश्यन्नित्यादिशब्दा दर्शनसमानाकारोपासनपराः । प्रकरणान्तरस्थाः 'आत्मा वा अरे इष्टव्यः ' [ बृ० २ । ४ । ५ ] इत्यादिशब्दाश्च दर्शनसमानाकारध्यानपरा इति स्वितं भवति । शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वाऽऽ- स्यायिकामुपसंहरित श्रुतिः—

तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः ।

एवं शुद्धान्तःकरणाय नारदाय भगवान्सनत्कुमारः संसारसंतमस-चण्डमानुभूतोपासनगोचरं परमात्मानं स्पष्टमुपादिक्षदित्यर्थः । अत्र नामादिषु ब्रह्मत्वेनोपदिष्टेष्वपि तत्र ब्रह्मत्वस्यानभ्युपगमात्तस्य मृदित-कषायत्वं शिष्यस्य परिशुद्धान्तःकरणतयोपदेशयोग्यतां परीक्ष्यैवोपदि-ष्टवानित्यर्थः ।

तश्र स्कन्द इत्याचक्षते तश्र स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य षड्विंशः खण्डः ॥ २६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ७ ॥

सनत्कुमारं स्कन्द इत्यपि वद्नतीत्यर्थः । स्पष्टोऽर्थः । द्विकक्तिरध्याय-समाप्त्यर्था । एतद्विषयकमधिकरणसूपन्यस्यते । अत्र मुक्तस्य देहेन्द्रि-याणि सन्ति न सन्तीति विचारे—'अभावं बाद्रिराह ह्यवम्' [ ब०सू० ४। ४। १० ] शरीरेन्द्रियाणामभावं बाद्रिराचार्यो मन्यते 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' [ छा०८ । १२ । १ ] इत्येवं श्रुतिराहेत्यर्थः । 'मावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' [ ब० स्०४ । ४ ११] मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादिसद्भावं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । विक-ल्पामननात् । विविधः कल्पो विकल्पः । वैविध्यमित्यर्थः । 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा' [ छा० ७ । २६ । २ ] इत्यादि-श्रुते: । आत्मन एकस्याच्छेद्यस्यानेकधामावासंमवाञ्चिधामावादयः शरीरेन्द्रियनिबन्धना इत्यवगम्यते । अशरीरत्ववचनं तु कर्मकृतशरीरा-भावपरम्। 'ह्वादशाहबदुभयविधं बादरायणोऽतः' बि॰स्०४। ४। १२] संकल्पादेवेति पूर्वनिर्दिष्टः संकल्पोऽतःशब्देन परामृश्यते । अतः संक-ल्पवशादेव मुक्तस्य सशरीरत्वाशरीरत्वलक्षणविधाद्वयमप्यस्ति संकल्पव-शात्सशरीरोऽशरीरश्च भवतीति भगवान्वाद्रायणो मन्यत इत्यर्थः। द्वाद-शाहवत्। यथा 'द्वादशाहयुद्धिकामा उपेयुः' 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इत्युपेतियजतिचोद्नाभ्यां द्वाद्शाहस्य सत्रत्वाद्वीनत्वरूपवि-धाद्वयवस्वमेवमित्यर्थः । 'तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ' [ ब० सू० ४ । ४ । १३] मुक्तस्य स्वतनुमवनादिभोगोपकरणसृष्टिसंकल्पामावे स्वप्ने पर-मात्मसृष्टैमोंगोपकरणैर्यथा भोगान्मुङ्के, एवं मुक्तः सत्यसंकल्पोऽपि पर-मात्मसृष्टैर्भोगोपकरणैर्भोगाननुभवति । 'मावे जाग्रह्नत्' [ ब० सू० ४। ४। १४ ] मुक्तस्य स्वभोगोपकरणतनुभवनादिसृष्टिसंकल्पत्वसत्त्वे यथा जाग्रत्पुरुषः स्वार्जितैर्भोगोपकरणैर्भोगाननुभवति, एवं मुक्तोऽपि स्वसं-कल्पसृष्टेभीगोपकरणैभीगाननुभवति । नन्वणुपरिमाणस्य जीवस्य कथ-मनेकशरीरेप्वात्माभिमानसंभवस्तन्नाऽऽह—प्रदीपवदादेशस्तथा हि दर्श-यति' [ व्र०सू० ४ । ४ । १५ ] यथा प्रदीपस्यैकदेशस्थितस्य स्वप्रमया देशान्तरव्याप्तिः, एवमेकदेशस्थितस्याप्यात्मनो धर्मभूतज्ञानादृहमित्या-त्माभिमानानुगुणा सर्वदेशेषु व्याप्तिरुपपद्यते । तथा हि दर्शयति श्रुति:-'वालाग्रशतमागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते' [ श्वे॰ ५ । ९ ] आनन्त्याय धर्मभूतज्ञानकृतान-न्त्यायेत्यर्थः। इयांस्तु विशेषः - बद्धस्य कर्माधीनशरीरपरिग्रहो मुक्तस्य तु स्वेच्छाप्रयुक्त इति । ननु 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्यक्तो न बाह्यं किंचन

वेद नाऽऽन्तरम्' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इति मुक्तस्य ज्ञानाभावप्रतिपाद्-नात्कथमनेकशरीरेष्वात्माभिमानानुगुणज्ञानव्याप्तिस्तत्राऽऽह-' स्वाप्य-यसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हिं [ब० सू० ४।४। १६] 'न बाह्यं किंचन वेद' [ बृ० ४। ३। २१ ] इति ज्ञानामावश्रुतेः सुपुतिम-रणान्यतरविषयत्वात्सुपुप्तिमरणयोनिःसंबोधत्वस्य 'नाह खल्वयमेव संप्र-त्यात्मानं जानाति'[ छा० ८ । ११ । १ ] 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' [ बृ० २ । ४ । १२ ] इति श्रुतिभ्या-माविष्क्रतत्वात् । अनुविनश्यति न पश्यतीत्यर्थः । मुक्तस्य 'मनसैता-न्कामान्पश्यत्रमते ' [छा०८। १२। ५] इति सार्वज्ञयस्याऽऽविष्कृतत्वा-चेति स्थितम् । तथा च समन्वयाध्याये—'यत्र नान्यत्पइयति नान्यच्छु-णोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [ छा० ७ । २४ । १ ] इति निर्दिश्य-मानो भूमा प्राणशब्दनिर्दिष्टजीव एव प्राणादूर्ध्वमस्ति मगवः प्राणा-द्भूय इति प्रश्नस्य वाचो वाव प्राणाद्भूय इति प्रतिवचनस्य वाऽद्र्शनेन प्रकान्तात्मोपदेशस्य तत्रैव पर्यवसानात् । अतश्च सन्त्यपि ब्रह्मालिङ्गानि तत्रैव यथाकथंचिद्योजयितव्यानीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'मूमा संप्रसा-दाद्ध्युपदेशात्' [ ब० सू० १ । ३ । ८ ] भूमा परमात्मा । संप्रसादा-जीवाद्धिकत्वेन तस्योपदेशात् । 'एप संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' [ छा० ८ । ३ । ४ ] इत्यत्र संप्रसाद्शब्दस्य जीवे प्रयुक्तत्वात्संप्रसादो जीवः । 'एप तु वा अतिवद्ति यः सत्येनातिवद्ति' [ छा० ७ । १६ । १] इति सत्यनिमित्तकातिवादिनः प्राणशब्दनिर्दष्टजीवातिवाद्यपेक्षया तुशब्देनाधिकत्वेनोपदिश्यमानतयाऽतिवद्ननिमित्तस्य सत्यशब्द्निर्दिष्ट-स्य प्राणशब्दिताज्जीवाद्धिकत्वप्रतीतेर्न प्राणशब्दिनिर्दिष्टो जीवो भूमा। 'धर्मोपपत्तेश्च' [ ब॰ सू॰ १।३।९ ] स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः स एवेदं सर्वमित्यादिभिः प्रतिपादितस्वमहिमप्रतिष्ठत्वसर्वात्मकत्वादिधर्माणामा-त्मतः प्राण आत्मत आकाश इत्यादिवाक्यसंदर्भप्रतिपादितप्राणशब्दित-जीवप्रभृतिसकलप्रपञ्चोपादानत्वस्य प्राणशब्दिते जीवेऽसंभवाच भूमा परमात्मेति स्थितम् ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य पङ्गविंशः खण्डः ॥ २६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकः समाप्तः॥ ७॥

दृहरविद्या प्रस्तूयतें—

अथ यदिदमस्मिन्बसपुरे दहरं पुण्डरिकं वेशम ।

विद्यान्तरारम्भप्रदर्शनार्थोऽयमथशब्दः । उपास्यतयां संनिहितस्य परत्रह्मणः स्थानतया नवद्वारादिमत्त्वादिना च पुरशब्दित उपासक-शरीरे पुण्डरीकाकारमल्पं हृदयाख्यं परस्य ब्रह्मणो वेश्म ।

> दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वे-ष्टव्यं तद्दाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अस्मिन्वेश्मनि दृहर: सूक्ष्म आकाश: । अत्र य इति पुंलिङ्गयच्छ-ब्दोऽध्याहर्तव्यः । अस्मिन्यो दृहर आकाश इत्यर्थः । तस्मिन्यद्न्तरि-त्यत्रान्तःशब्दोऽन्तर्वितिपरः । चशब्दश्चाध्याहर्तव्यः । ततश्चायमर्थः-अस्मिन्द्हरपुण्डरीके यो दहर आकाशस्तद्न्तर्वीत च यत्तदुभयं अवण-मननाभ्यामवगन्तव्यं ध्यातव्यं चेत्यर्थः । तद्वन्वेष्टव्यमित्यत्र तदिति नपुं-सकलिङ्गनिर्देशो लिङ्गसामान्यविवक्षया द्रष्टव्यः । यहा द्हरोऽस्मिन्न-न्तराकाश इति न पुंलिङ्गयच्छच्दोऽध्याहर्तव्यः । अस्मिन्दहराकाशस्तद-न्तर्वार्ते च यदिति यच्छव्देनैव नपुंसकमनपुंसकेनैकवचास्यान्यतरस्यामिति कृतनपुंसकैकशेषैकवद्भावनैकेनैव नपुंसकलिङ्गेन द्वयोरपि परामर्शसंभ-वात् । तद्नवेष्टव्यमिति वाक्ये तच्छच्देऽपि नपुंसकैकशेपसंभवादेकेनैव तच्छच्देन द्वयोरपि परामर्शः। ततश्चानेन वाक्येन दहराकाशस्तदन्त-र्वितं चान्वेष्टव्यमित्युक्तं भवति । उक्तं च भगवता भाष्यकृता—' यदिद्-मस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म ' इत्यन् य तस्मिन्दहरपुण्डरीकवे-इमनि यो दहर आकाशः, यच तद्न्तर्वातं, तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधी-यत इति । अत्राऽऽकाशशब्द आ समन्तात्काशते प्रकाशत इति व्यत्पस्या परमात्मपर: । तत्र च हेतुरुत्तरत्र वक्ष्यते । न च तदन्तर्वातिन एवान्वेष्ट-व्यत्वे प्रतीयमाने दहराकाशशाब्दितस्याप्यन्वेष्टव्यतासिद्ध्यर्थमेतावान्क्रेशः किमर्थमाश्रीयते । किंच 'विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो भवति ' इत्यत्र प्रष्ठगतसर्वताविध्याक्षिप्तपृष्ठविधिवद्वहराकाशान्तर्वातत्वेन गुणजातोपा-सनस्य दहराकाशोपासनमन्तरेणासंभवेनाऽऽक्षेपादेव दहराकाशोपासन-स्यापि सिद्धतया यत्तच्छन्द्योर्नपुंसकैकशेषैकवद्भावचशन्दाध्याहार-क्केशानुभवो व्यर्थ इति वाच्यम् । अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य वज-न्त्येता श्र्य सत्यान्कामान्' [ छा०८ । १ । ६ ] इत्यौपसंहारिकोभयोपा-

सनवचनानुसारेणास्य क्वेशस्यानुभोक्तव्यत्वात् । न च तदेव वाक्यं दृह-राकाशतद्ग्तर्वर्तिगुणोभयोपासनविधिपरमस्त्विति वाच्यम् । प्रक्रमस्थं विस्पष्टतव्यप्रत्ययपुक्तं वाक्यं विहायोपसंहारिकस्य विस्पष्टविधिप्रत्यय-शून्यस्य यच्छव्द्युक्तस्य विधित्वकल्पनानौचित्यात् । तस्य विधित्वक-ल्पनायामप्यनुवाद्रक्षपस्याप्यस्य वाक्यस्य तद्नुसारेणार्थद्वयोपासनपर-त्वस्याऽऽश्रयणीयतया नपुंसकैकशेषादिक्वेशस्याऽऽश्रयणीयत्वात् । इति-शब्दो वाक्यसमाप्तौ । अथ वा, इतीत्यस्यानन्तरमाचार्यो ब्रूयादित्य-ध्याहारः ॥ १ ॥

> तं चेद्बूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥

एवमुक्तवन्तमाचार्यं स्वल्पहृद्यमध्यवर्तितयाऽतिस्वल्प किंवा वर्तितुमहीति, यदन्वेष्टव्यं स्यादिति वहराकाशशब्दितस्य ब्रह्मत्व-तदन्तर्वर्तितया निर्विष्टस्य तद्भणजातत्वं चाजानाना अन्तेवासिनो यदि ब्र्युरित्यर्थः। किं तव्त्र विद्यतं इति वाक्यं सर्वान्तरस्य परमात्मनोऽन्तर्व-र्त्यन्तरासंभवलक्षणानुपपत्तिगर्भान्तर्वितिविशेषप्रश्नपरमिति व्यासार्याणा-मभिपाय इति यद्यपि प्रतीयते तथाऽपि 'यदिद्मस्मिन्बह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ' इत्येतावन्मात्रं श्रुतवतां शिष्याणां परमात्मत्वविरोधिन्याकाशशब्दे जागरूके दहरत्वान्वेष्टच्या-न्तराधारत्वादिविरोधिलिक्के च जाग्रति ब्रह्मालिक्केषु चानुपन्यस्तेषु परमात्मत्वनिश्चयस्य वा तदुपजीव्याक्षेपप्रवृत्तेर्वाऽसंभवात्, सर्वान्तरस्य परमात्मनोऽन्तर्वर्त्यन्तरासंभवलक्षणानुपपत्तेरेव शिष्याणां हृवि विपरि-वर्तमानत्वे प्रश्नवाक्ये ' वृहरं पुण्डरीकं वेश्म वृहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ' इति दहरपुण्डरीकान्तर्वितित्वेनाऽऽकाशस्य दहरत्वोपन्यासस्य वा प्रति-वचने ' यावान्वा अयमाकाशः ' [ छा०८।१।३ ] इति वैपुल्योपन्या-सस्य वाऽसंगतत्वापाताद्यासार्याणामप्युक्त एवार्थोऽभिष्रेतः । केचितु शरीरस्य बह्मपुरत्वेनोपक्रमादेव तद्नतर्वत्याकाशग्दानिर्दृष्टं बह्मत्यव-गत्यैव तद्नतर्वतिवस्त्वन्तरासंभवलक्षणानुषपात्तिमभिषयनत एवान्तर्वति-विशेषं पप्रच्छुरित्यपि संभवान्नानुपपत्तिरिति वदन्ति ॥ २ ॥

स ब्रूयायावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हदय आकाश उभे अस्मिन्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभाव-प्रिश्व वायुश्व सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि ।

एवमुक्तः स आचार्यः प्रतिब्र्यात् । किमिति । हृद्यपुण्डरीकमध्य-वर्त्याकाशब्दिनिर्देष्टो मूताकाशबद्धिपुलो द्यावाष्ट्रथिव्यादिशब्दल-क्षितं मोग्यमोगस्थानमोगोपकरणमग्निस्यादिशब्दलक्षितो मोक्तृदर्गश्च तदाश्चित इत्यर्थः ।

# यचास्येहास्ति यच नास्ति सर्वं तदस्मिनसमाहितमिति ॥ ३ ॥

अस्योपासकस्येह लोके यद्भोग्यजातमस्ति यच मनोरथमात्रगोचर-मिह नास्ति सर्वं तद्भोग्यजातमस्मिन्दहराकाशे समाहितमित्यर्थः। दहराकाशो निरतिशयभोग्य इति यावत् । उक्तं च मगवता भाष्य-कृता—'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति वह-राकाशस्यातीव महत्तामिभधाय 'उमे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उमावशिश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुमौ विद्युन्नक्षत्राणि' इति पक्तमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभि-धाय यचास्येहास्ति यच नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितसिति' इति पुन-रप्यस्मिन्निति तमेव दृहराकाशं परामृत्य तस्मिन्नस्योपासकस्येह लोके यद्भोग्यजातमस्ति यञ्च मनोरथमात्रगोचरमिह नास्ति सर्वं तद्भोग्य-जातमस्मिन्दहराकाशे समाहितियिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाशस्या-भिधायेति भाषितम् । न च यद्यास्येहास्ति यद्य नास्ति सर्वं तद्-स्मिन्समाहितमित्यनेनोपासक मोग्यवस्त्वाधारत्वमा झमुपास्यस्य प्रतीयते न तु दहराकाशस्य निरतिशयभोग्यत्वस् । ततश्च यचास्येहास्तीति वाक्येन दृहराकाशस्य निरतिशयभोग्यत्वमभिधायेति माप्यं कथमुपप-द्यतामिति वाच्यम् । उपासकस्य बद्धप्राप्त्येकफलकस्य स्वर्गपश्वादीनां भोग्यत्वाभावात् 'यज्ञास्येहास्ति यज्ञ नास्ति सर्वं तद्स्मिन्समाहित-मिति' इत्यनेन दृहराकाशस्य निरितशयभोग्यत्वमेव प्रतिपाद्यत इति भाष्याभिप्राय इति व्यासार्यैकक्तत्वान्नास्याः शङ्काया अवकाश इति दृष्टव्यम् । केचित्तु 'स यदि पिनृलोककामो भवति ' [ छा० ८ । २।१ ]

इत्यादिना प्राचीनानेकजन्मसंबन्धिपित्रादिवर्गदिद्वक्षायाः संकल्पमात्रेण तत्स्रष्टृत्वस्य च प्रतिपाद्यिष्यमाणत्वात्, सूत्रकृताऽपि 'संकल्पादेव तु तच्छ्रतः, [ ब० सू० ४ । ४ । ८ ] इति सूत्रेण तद्वाक्यस्य विवक्षितार्थ-त्वाविष्करणात, 'यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दुर्शनाय लभते' 'अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यञ्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते' छि। ८। ३।१।२ ] इति नष्टानां पित्रादीनां सुक्तकाम-नाविषयत्वप्रतिपादनात्, 'प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डल-स्थोक्तेः' [ ब॰ सु॰ ४ । ४ । १८ ] इति सुत्रोक्तन्यायेन बह्मविभूतितया नष्टित्राद्यनुभवस्य कामनाविषयत्वसंभवाच, अन्यथा 'अस्मिन्कामाः समाहिता: [ छा० ८ । १ । ५ ] एता श्र्य सत्यान्कामान्, [ छा० ८ १। ६] इत्यादाविप कामशब्दस्य निरितशयमोग्यार्थकत्वं को वारयेत्। तथा 'जक्षन्क्रीडन्' [ छा० ८ । १२ । ३ ] इत्यत्रापि मोग्यत्वार्थक-त्वमेव स्यादिति परोऽपि विजयेत् । अतोऽस्य वाक्यस्य यथाश्रुतार्थ-त्वेऽपि न दोषः, भाष्यमपि भाग्याधारत्वफलितभाग्यत्वपरमेवास्त्विति वद्नित । अत्र भूताकाशशब्द्वैपुल्यप्रतिपाद्नेन द्यावाष्ट्रथिव्याद्जिम-दाश्रयत्वप्रतिपाद्नेनोपासकं प्रति निरतिशयमोग्यत्वप्रतिपाद्नेन च दह-राकाशस्य प्रसिद्धाकाशवैलक्षण्यप्रतिपादनात्स्वल्पे दहराकाशे किमपि मातुं न शक्तोतीत्याक्षेपबीजं परिहृतं मवति ॥ ३ ॥

> तं चेद्बुयुरस्मिश्श्रेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वश् समाहितश सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्ञरा वाऽऽप्रोति प्रध्वश्सते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

अल्पत्वरूपमाक्षेपबीजं परिहृत्य ' किं तदत्र विद्यते ' ि छा० ८ । १।२] इति प्रश्नं विवक्षत्येवाऽऽचार्य उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिं पश्यन्तः शिष्या यद्याचार्यं ब्रूयुः । किमिति । ब्रह्मपुरशन्दितं शरीरं द्यावापृथि-व्यादिशब्द्निर्दिष्टमोग्यभोगोपकरणभोगस्थानान्यग्निवाय्वादिशब्द्नि-दिशो भोक्तृवर्गश्च यद्याश्रयेयुस्तदा शरीरस्य जरानाशादी सति द्यावा-पृथिव्यादिकं किमपि नावशिष्येत तद्पि नश्येदित्यर्थः । सर्वे च कामा इत्यस्य यञ्चास्येहास्तीति वाक्यनिर्दिष्टनिरतिशयभोग्यत्वानुवादित्वात् , सर्वे च कामा इत्यस्य निरतिशयभोग्यत्वमर्थ इति व्यासार्थेक्तम् । ननु दृहराकाशाश्रितं द्यावाप्रथिव्यादिकमिति वदन्तं प्रत्यस्याः शङ्कायाः

कथमुत्थानम् । दहराकाशाश्रितत्वस्यैवोक्ततया ब्रह्मपुरशब्दितशरीराश्रितत्वस्येहानुक्ततया तज्जरानाशानुविधायिजरानाशत्वस्य दहराकाशाश्रिते
द्यावाष्ट्रिथिव्यादौ कथं प्रसक्तिरिति चेदुच्यते । यथा घटाद्यन्तराकाशे
निहितस्य दृध्यादेर्वस्तुतो घटादिरेव धारकः, आकाशः परमवकाशात्मनोपकरोति, एवं देहान्तर्वातिनि दृहराकाशे विद्यमानस्य द्यावापृथिव्यादेर्देह एव धारकः । दृहराकाशस्तु केवलमवकाशात्मनोपकरोति ।
अस्तु वा दृहराकाशस्य घटाद्याकाशचेलक्षण्येन स्वतो धारकत्वम् ।
तथाऽपि तस्य देहजराप्रध्वंसानुपद्माविजराप्रध्वंसत्वाद्यावदेहस्य मारधारणानुकूलं बलं तावत्पर्यन्तमेव दृहराकाशस्य तद्धारकत्वमिति फलतो
देह एव तस्य सर्वस्य धारकः पर्यवस्यतीत्याक्षिपतां शिष्याणामिनप्रायः ॥ ४॥

#### स ब्र्यात्।

आचार्यस्तत्यतिवक्ति।

नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधे-नास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् ।

भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणमोक्तवर्गादिशालितया पुरिमव वर्तमानमेतहहराकाशाख्यं बह्म न तु घटाकाशादिवत्केवलमवकाशात्मनोपकारकम्। यथा पुरं भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानादीनां स्वत एवाऽऽधारभूतं न तु द्ध्यादीनां घटाकाशादिवद्वकाशात्मनोपकारकं तथेत्यर्थः। ननु स्वतो धारकत्वेऽपि तद्देहान्तर्वर्तितया तद्नतर्गतहृद्यवज्जरानाशानुविधायिजरानाशत्वं स्यादिति शङ्काबीजं परिहरित एतत्सत्यमिति। सत्यं निर्विकारियत्यर्थः। अत एव न देहजरामरणानुविधायिजरामरणकं भवतीत्यर्थः। यहा 'तद्यत्सत्तद्मृतम् ' [ छा० ८।३।५ ]
इत्यस्मिन्प्रकरणे वक्ष्यमाणसत्यशब्द्निर्वचनरीत्या चेतनाचेतनियामकत्वं वा सत्यत्वम्। यथाकथंचिद्घटाकाशादिविलक्षणाधार इत्यर्थः।
केचित्तु—'अस्मिन्श्रेदिदं बह्मपुरे' इति पश्चवाक्ये बह्मपुरशब्देन
बह्मरूपपुरत्वाद्द्वराकाश एवोच्यते। यथैतज्जरा वाऽऽप्रोतित्येव पाटः।
तत्र चैतस्य शरीरस्य जरा, एतज्जरा यदा द्हराकाशं प्राप्नोति तद्ध्वंसेन
ध्वंसते वा तदा द्यावाप्यिव्यादिकं नाविशिष्येतत्येवार्थः। न तु

बह्मपुरशब्देन शरीरपरामर्शमभ्युपेत्य तद्नुगुणैताहशाभिषायपरिकल्प-नाक्नेशोऽनुसर्तव्य इति वदन्ति । एवं मध्ये प्रसक्तमाक्षेपं परिहृत्य ' किं तद्व विद्यते ' इत्यन्तर्वर्तिविशेषजिज्ञासां शमयति—

## अस्मिन्कामाः समाहिताः।

काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः । को दृहराकाशः । स च कैः कामैविशिष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह—

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।

उक्तं च भगवता भाष्यकृता—दृहराकाशस्य काम्यभूतकल्याणगुण-विशिष्टत्वं तस्याऽऽत्मत्वं चेष आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिना सत्यसंकल्प इत्यन्तेन स्फुटीकृत्येति, पापजरामरणशोकबुमुक्षापिपासावर्जितः सत्य-कामः सत्यसंकल्पश्चेत्पर्थः। परमात्मप्रकरणेषु पापशब्दः सुकृतसाधा-रणः। 'न सुकृतं न दुष्कृतः सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' [ छा० ८। ४ १ ] इति सुकृते पापशब्दप्रयोगात्।

#### एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः।

इति स्वर्गादीनामि मुमुक्ष्वनिष्टत्वेन स्वर्गादिसाधनकर्मणो मुमुक्षुन्यत्यनिष्टसाधनत्वेनालौकिकत्वे सत्यनिष्टसाधनत्वलक्षणपापशब्द्यवृतिनिमित्तकोडीकृतत्वेन पापशब्द्वाच्यत्वावश्यंमावात् । अपहतपाप्तत्वं चानध्यस्तपाप्मत्वम् । 'नैत्र सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न
मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ।' [ छा० ८ । ४ । १ ] इति
सुकृतदुष्कृतप्राप्त्यमावश्रवणात्तरतेः प्राप्तियचनत्वात् । तस्माद्पहतपाप्तत्वमित्र्यर्थः । अकृतकर्माश्लेपस्य सर्वसाधारणत्वात्
कृतेऽपि कर्मणि तत्फलाश्लेष उच्यते । अत ईश्वरेण कृतानि पुण्यपापसजातीयानि कर्माणि न शुमाशुभफलजननशक्तानीत्यर्थः । कृते पापे
तत्फलजननशक्तिपतिभटत्वलक्षणः कश्चिद्श्वरस्य स्वभावविशेषोऽपहतपाप्मत्वम् । परिशुद्धात्मविषयस्यापहतपाप्मत्वस्याप्ययमेवार्थः । स
तु तस्य तिरोधानार्हः प्रतिबन्धकनिवृत्तावाविभवति, ईश्वरस्य तु तिरोधानानर्हो नित्याविभूत इति विशेष इति व्यासार्थैः 'अन्तस्तद्धमीपदेशात् '[ ब० सू० १ । १ २० ] इत्यत्र वर्णितः । अत्र सत्यकामशब्दो

न कामनायाः सत्यत्वपरः । अमोघाशत्वस्य सत्यसंकल्पशब्देनैव सिद्ध-त्वात् । नापि काम्यत इति व्युत्पत्त्या गुणमात्रपरः । कतिपयगुणान्त-राणां पृथगुक्तेः । अतो भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानस्त्रपा नित्याः कामा अस्य सन्तीत्युच्यते । 'तद्क्षरे परमे व्योमन् ' इत्युक्तनित्यविभूतिविशि-ष्टत्वं सत्यकामशब्दार्थं इति व्यासार्थैकक्तम् । वेदार्थसंग्रहे भाष्यकृताऽ-ष्युक्तम् । सत्यसंकल्पोऽप्रतिहतसंकल्पः ।

यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशा-सनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जन-पदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५॥

इह लोक प्रजा यथानुशासनं राजशासनानुलक्ष्यनेन राजानमन्वा-विशन्त्यनुसरन्तीत्यर्थः । अनुसृत्य किं कुर्वन्तीत्यत्राऽऽह—यं यमन्तम-भिकामा भवन्ति । कर्मणः फलापवर्गत्वात्फलमेव कर्मणोऽन्तः । यं यमन्तं यद्यत्फलमभिकामा अभ्यर्थिनो भवन्ति जनपद्क्षेत्रादिकं वा कामयन्ते तत्तत्फलं यथाशासनमेवोपजीवन्ति । राजशासनानुरोधेनैबेह लोके यथोपजीवन्ति तथा परलोकेऽपि परतन्त्रा एव भवन्तीत्यर्थः । यद्दा यं यमन्तमभिकामा भवन्ति तं तमिह लोके यथा प्रजा अन्वावि-शन्ति राजानमनुसृत्य लभन्ते तथा परलोकेऽप्युपजीवन्तीत्यर्थः । अय-मेवार्थो व्यासार्थेर्वणितः ॥ ५॥

एवं कर्मसाध्ये परलोके पारतन्त्र्यमुक्त्वा क्षयिष्णुत्वमप्याह-

तयथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एव-मेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।

राजसेवादिकर्मणा चितोऽर्जितो लोको यथा क्षीयत एवमेव परलो-केऽपि पुण्यसंपादितो लोकः क्षीयते ।

> तय इहाऽऽत्मानमननुविध वजन्त्येता श्र्थ सत्यान्का-माश्रस्तेषाश्र सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ।

यस्मात्सुकृतसाध्येषु परलोकेषु पारतच्यक्षयिष्णुत्वादिकं तस्मास्य उक्तमात्मानमेतानपहतपाष्मत्वादीनेतांश्च सत्यान्नित्यान्काम्यमानान्क- ल्याणगुणांश्चानुपास्य परलोकं वजन्ति तेषां सर्वलोककामचारो न भवति पारतन्त्र्यमिति यावत् ।

अथ य इहाऽऽत्मानमनुविध वजन्त्येता श्र्य सत्यान्का-माश्क्तेषाश्च सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

ये त्वात्मानमपहतपाप्मत्वादींश्च काम्यमानान्कल्याणगुणानुपास्य परलोकं वजन्ति ते बह्मविभूतिभूतान्विकारलोकाननुभूय यथाकामं तृप्ता न पारतन्त्र्यमनुभवन्तीत्यर्थः । नन्वपहतपाप्मेत्यादिवाक्येष्वपहतपाप्म-त्वादिधर्माणां स्वातन्त्रयेणानुपस्थितानां कथमेतानित्यनेन परामर्शः । न च गत्यभावात्तेपामेव परामर्श इति वाच्यम् । 'यञ्चास्येहास्ति ' [छा० ८ १।३] इति वाक्ये निर्दिष्टस्य 'सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः' ि छा० ८ । १ । ४ ] इति चहुवचनान्तकामशब्देनानूदितस्य निरति-शयभोग्यत्वस्यैव 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' 'एता श्व सत्यान्कामान्' इत्यत्रापि निर्देशोऽस्त्वित चेन्न । तथा सत्यपहतपाप्मा विजर इत्या-द्युपन्यासस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कामानित्यस्य भोग्यत्वपरत्वे बहुवचना-संगतेश्च । अपहतपाष्मत्वाद्य एव 'एता श्च सत्यान्कामान् ' इति काम-शब्देन निर्देश्याः । भोग्यत्वहेतुपिनृलोकादिविषयपरत्वे सत्या इति कामानां नित्यत्वकथनस्यासंभवादिति सिद्धम् । ततश्च 'दहरोऽस्मिन्न-न्तराकाशः ' इत्याकाशशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा न भूताकाशः, तस्मि-न्यद्न्तरिति निर्दिष्टमपहतपाप्मत्वादिगुणजातमितीयता संद्भेणोपदिष्टं भवति । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते — अत्र दह-रायाशो भूताकाशः । आकाशशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः । व्यापके परमा-त्कानि बृहरत्वस्याभावाच । तस्मिन्यद्नतरित्यन्वेष्टव्यान्तराधारतया निर्दे-काय । व हि परमात्मनः स्वयमेवान्वेष्टव्यस्यान्वेष्टव्यान्तराधारत्वं संम-वति । वाबान्वा अयमित्यादिना निर्दिश्यमानभूताकाशोपमेयत्वस्य गगनं गणनाकारभित्यादिवद्भेदेऽप्युपपत्तेः । निरतिशयविपुले परमात्मन्यपि परिच्छिन्नभूताकाशोपमेयत्वस्यास्वरसत्वाच भूताकाशो दहराकाश इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते -- 'दहर उत्तरेभ्यः' बि सू १ । ३ । १४ ] दह- राकाशः परमात्मा । वाक्यशेषगतभूताकाशोषमेयत्वसर्वाधारत्वनिरति-शयभोग्यत्वनिरुपाधिकापहतपाप्मत्वादिगुणानां परमात्मव्यतिरिक्तभूता-काशेऽसंभवात् । परमात्मनोऽप्यपहतपाप्मत्वादिलक्षणान्वेष्टव्यान्तराधा-रत्वसंभवाच । न च गगनं गगनाकारमितिवद्भेदेऽप्युपमानोपमेयभावोऽ-स्त्विति वाच्यम् । गगनं गगनाकारिमत्यादावभेदे सादृश्यं निबध्यमानम-नन्वितत्वादनुपमकत्वफलकं सदनन्वयालंकाररूपम् । न चेह तथा संम-वति । 'यावान्वा अयमाकाशः ' इति वाक्ये बाह्याकाशत्वहार्दाकाश-तारूपोपमानोपमेयताबच्छेदकधर्मभेदसत्त्वेनानन्वयस्यासंभवात् । उप-मानोपमेयतावच्छेद्कधर्भैक्ये ह्यनन्वयालंकारो यथा गगनं गगनाकार-मित्यादौ । यञ्चोक्तमतिविपुलस्य ब्रह्मणः परिच्छिन्नभूताकाशो-पमेयत्वं न संभवतीति । तन्न । अधिकजवेऽपि सवितरीपुवद्गच्छति सवितेति गतिमान्द्यनिवृत्तिपरवचनवत्स्वल्पत्वनिवृत्त्यर्थतया काशसाहश्यकथनस्योपपत्तेः। यदुक्तमाकाशशब्दस्य मूताकाशे प्रसिद्ध-त्वादिति तत्राऽऽह— 'प्रसिद्धेश्च' [ ब० सू० १ । ३ । १७ ] 'यदेप आकाश आनन्दो न स्यात् ' [ तै० २।७ । १ ] इति परमात्मन्यप्याका-शशब्दस्य प्रसिद्धत्वात् । यदुक्तं परमात्मनोऽल्पपरिमाणत्वं नोपपद्यत इति तत्राऽऽह—'अल्पश्चतेरिति चेत्तदुक्तम् ' [ ब० सू० १ । ३ । २१ ] शाण्डिल्यविद्यायाम् ' निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ' वि० सु०१ ।२।७ ] इति सूत्रखण्डेनोपासनार्थं विपुलस्यालपत्वोपदेश उपपद्यत इति पूर्वमे-वोक्तमित्यर्थः । तथा 'प्रदानवदेव तदुक्तम्' [ ब० सू०३।३।४३ ] इत्यत्र इहाऽऽत्मानमनुविद्य वजन्ति इति दहराकाशोपासनमुक्त्वैतांश्च सत्यान्कामानित्यपहतपाप्मत्वादिगुणानामुपासनस्य पृथगान्नानादपहत-पाप्मत्वादिगुणोपासनद्शायां न धर्मिस्वरूपं चिन्तनीयम् । ततश्च प्रथमं दहराकाशाख्यं धर्मिस्वरूपमनुसंधाय तस्यापहतपाप्मत्वविजरत्वविमृत्यु-त्वविशोकत्वविजिघत्सत्वापिपासत्वसत्यकामत्वसत्यसंकरूपत्वरूपाः कामा इत्येव चिन्तनीयम् । न त्वपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघ-त्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इति गुणाश्रयस्य गुणिनोऽपि चिन्त-निमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'प्रदानवदेव तदुक्तम्' [त्र० सू० ३।३।४३] यद्यपि दृहराकाश एवापहतपाप्मत्वादिगुणानां गुणी न च प्रथमं चिन्ति-तस्तथाऽपि स्वरूपमात्राद्धणविशिष्टाकारस्य भिन्नत्वात्, प्रकृते चास्मि-न्कामाः समाहिता इति ब्रह्मणि कामसमाधानाधारत्वमुक्त्वा के ते कामा

इत्याकाङ्क्षायां निष्कृष्यापहत्तपाष्मत्वं विजरत्वमित्यनुक्त्वाऽपहतपाष्मा विजरो विमृत्युरिति तद्विशिष्टविशेष्यपर्यन्ततया निर्देशाद्नेनैवाऽऽकारे-णानुसंधानं कर्तव्यमिति श्रुतेराशय उन्नीयते । अतो वैशिष्ट्यानुसंधानार्थं विशेष्यचिन्तनमप्यावर्तनीयं प्रदानवत् । तदुक्तं संकर्षे-नाना वा देवता-पृथक्त्वादिति । तन्नानाप्रदानाधिकरणमित्थमस्ति । त्रेधा तथावि-धेष्टिः । यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिरा-जायेन्द्राच स्वराज्ञे ' [ तै० सं०२।३।६।१ ] इति त्रिपुरोडाशास्तत्र तेषां पुरोडाशानामुपर्युपर्यधिश्रयणं सर्वेषां युगपद्वदानं च विहितम् । तेषां पूर्वार्धाद्वदानं प्रकृतिवत्कर्तुं शक्यं तथाऽपि मध्याद्वदानं कर्तुमशक्यम्। पुरोडाशानां मध्ये नलकप्रवेशास्त्रपायेन मध्याद्पि युगपद्वदानं प्राह्मम्। एवं स्थिते प्रदानमपि युगपत्कर्तव्यं क्रमेण वेति संशये 'तेषामपृथ-क्पदानमवदानैकत्वात् ' इति सूत्रेणावदानवत्प्रदानमपि युगपदेव कार्यमिति पूर्वः पक्षः । तत्रेदं सिद्धान्तसूत्रम् ' नाना वा देवतापृथ-क्त्वात् ' इति । त्रयाणां यागद्रव्याणां भेदाद्विशिष्टरूपाणां देवतानां च भेदािश्वभिर्द्रव्यदेवतासंबन्धैः कल्प्यानां च यागानां तत्तद्वेवतोद्देशेन क्रमिकाणि प्रदानानि कर्तव्यानीति सूत्रार्थ इति स्थितम् । प्रकृतमनु-सरामः ॥ ६ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्पकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य प्रथम: खण्ड: ॥ १ ॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठान्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १॥

स मुक्तः सन्यदि प्राचीनानेकैजन्मसंबन्धिपितृवर्गं दिदृक्षेत तदा स पितृवर्ग एतस्य संकल्पमात्रात्समुत्थितो भवति तेन सहितः पूज्यते। एतत्खण्डविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते —अत्र सत्यसंकल्पत्वेन व्यवह्निय-माणानामंपि राजादीनामभिलिषितसृष्टेः प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वद्र्शनान्सु-क्तस्यापि सिसृक्षितपितृलोकादिसृष्टिः संकल्पव्यतिरिक्तप्रयत्नान्तरसापे-क्षेवेति प्राप्त उच्यते—' संकल्पादेव तु तच्छूतेः ' [ ब॰सू०४।४।८] संकल्पमात्रादेव सृष्टेर्न प्रयत्नान्तरसापेक्षा । कुतः । संकल्पादेव पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्येवकारश्चतेः । न चैवकारस्यायोगव्यवच्छेद्कत्वम-त्यन्तायोगव्यवच्छेद्कत्वं वाऽर्थः । विशेषणिक्रियासंगतेवकारयोरेवायो-गात्यन्तायोगव्यवच्छेद्कत्वेनैतस्य चातथात्वेनान्ययोगव्यवच्छेद्कत्वस्यैव युक्तत्वात् । 'अत एव चानन्याधिपितः' [ ब० सू० ४ । ४ । ९ ] एतच मूत्रं पूर्वमेव व्याकृतमिति पित्रादीनां संकल्पमात्रसाध्यत्वं स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ १ ॥

> अथ यदि मातृलोककामो भवति संक-ल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ २ ॥ अथ यदि भातृलोककामो भवति संक-ल्पादेवास्य भातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ३॥ अथ यदि स्वस्रलोककामी भवति संक-ल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ४ ॥ अथ यदि सखिलोककामो भवति संक-ल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सिखलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ५ ॥ अथ यदि गन्धमाल्यलोककामा भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥६॥

अथ ययन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ७ ॥

> अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन

गीतवादित्रहोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥
अथ यदि खीहोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः
समुत्तिष्ठन्ति तेन खीहोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥
यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य
संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १०॥
इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमप्रपाठकस्य
दितीयः खण्डः ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकाय<sup>ा</sup> मष्टमप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना- स्तेषा सत्याना सतामनृतमपिधानम् ।

परमात्मिनिष्ठा इमे सत्या अपहतपाप्मत्वाद्यः कामा अनृतमिपिधानं येषां तेऽनृतापिधाना अनृताच्छादिताः। ऋतेतरिवषयो ह्यनृतशब्दः। ऋतमिति कर्मवाचि 'ऋतं पिबन्तों' [क॰ ३।१] इति वचनात्। ऋतं कर्म फलाभिसंधिरिहतं परमपुरुपाराधनवेषं तत्याप्तिफलम्। अत्र तद्यातिरिक्तफलं सांसारिकफलं कर्मानृतं बह्मप्राप्तिविरोधीति महासिद्धान्ते माषितम्।तेषां सत्यानां सतां विद्यमानानामेव कर्माऽऽच्छाद्कम्। ततश्च स्वात्मभूतपरमात्मगता अपहतपाप्मत्वादिधर्माः कर्मस्रपाविद्यातिरोहित-त्वाद्य मासन्त इत्यर्थः।

यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तिमह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥ अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यचा-न्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते ।

अस्योपासकस्य यो बन्धुवर्ग इतः प्रैति न स इह द्रष्टुं शक्यः। अस्य तु ये जीवन्तो नष्टाश्च बन्धवोऽलभ्याश्च मनोरथास्तत्सर्वं दृहराकाशं परमात्मानं प्राप्य लभते । अत्र 'यंचास्येहास्ति यच नास्ति' [छा० ८ ३।१] इति वाक्यसमानार्थत्वाद्स्य वाक्यस्य वाक्यस्य मुक्तस्य सर्वतो विरक्तस्य प्राप्यान्तरासंभवान्निरतिशयभोग्यत्वमेवार्थः ।

अत्र ह्यस्येंते सत्याः कामा अनृतापिधानाः ।

यत उपासकस्य काम्यमाना भोग्यभूता अपहतपाप्मत्वाद्य एत-न्निष्ठाः पूर्वमनृतशब्दितकर्माच्छादिता इदानीं दहराकाशं प्राप्तस्याऽऽवि-र्भवन्त्यतो निरतिशयभोग्यत्वभित्यर्थः । हिशब्दो हेत्वर्थः ।

> तयथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संच-रन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छ-न्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥२॥

यथाऽधस्तान्निक्षिप्तं हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा निधिमत्क्षेत्रस्वमावविज्ञा-नहीना निधेरुपर्युपरि संचरन्तोऽपि निधिं न लभन्त एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः सुषुप्तिकालेऽहरहर्गच्छन्त्यः सुषुप्तौ 'सित संपद्य न विदुः' [छा० ६।९।२] इत्युक्तरीत्याऽविभागं गच्छन्त्य एतं दहराकाशाख्यं ब्रह्मरूपं लोकं न विन्दन्ति न लभनते न जानन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकशब्दी च निषादस्थपतिन्यायेन समानाधिकरणौ । तत्र हेतुमाह-अनृतेन हि प्रत्यूढा इति । प्रत्यूढाः प्रतीपं नीताः स्वमावान्तरं प्रापिता आच्छादिता इति यावत् । यद्वाऽहरहर्गच्छन्त्य इति न सुपुत्तिकालीनं गमनमुच्यतेऽपि त्वन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य हिरण्यनिधिवत्परम-पुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानास्तमजा-नत्यस्तं न विन्द्नित न लभन्त इत्यर्थः। अर्थद्वयमपि माष्यकृता वर्णितं 'गतिशब्दाम्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च' [ब० स० १।३।१५] इति सूत्रे । सूत्रस्य चायमर्थः—'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितम् ' इत्य-हरहः सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनाद्वह्मलोकशब्दाच दहराकाशो ब्रह्मेत्यव-सीयते । तथा ह्यन्यत्र सुपुप्तिकालीनगमनबह्मलोकशब्दौ बह्मविषया-वेव दृष्टी 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः' [छा॰ ६।९।२] 'एप ब्रह्मलोक: सम्राडिति होवाच' [बृ॰ ४।३।३३] इति मा मूद्र-यत्र सुषुप्तिकाले बह्मणि गमनद्र्शनम् । एतदेव तु दहरा-काशे सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव निरस्तनिखिलदु:खानां सुपु-प्तिकालेऽवस्थानं ब्रह्मव्यतिरिक्तेप्वसंभावितं दृहराकाशस्य परब्रह्मत्वे

लिङ्गम् । माष्य एवमेकां व्याख्यां कृत्वा-अथ वाऽहरहर्गच्छन्त्य इति न सुपुतिविषयं गमनमुच्यते । अपि त्वन्तरात्मत्वेन सदा वर्तमानस्य दृहराकाशस्य परमपुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानास्तमजानत्यस्तं न विन्द्नित न लमन्ते। यथा हिरण्यनिधिं निहितं तत्स्थानमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लमनते तद्वदित्यर्थः । सेयमेवान्तरात्मत्वेनावस्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नि-यमितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यन्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थि-तस्य स्वनियाम्याभिः स्वस्मिन्वर्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं हृष्टम् । यथाऽन्तर्यामिबाह्मणे—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद' इति 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता' इतिच । मा मूद्न्यत्र द्र्शनं स्वयमेव त्वियं निधिदृष्टान्तावगतपरमपुरुषार्भभावस्यास्य हृदयस्थस्योपरि तदाधारत-याऽहरहः सर्वासां प्रजानामजानतीनां गतिरस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गमिति व्याख्यातम् । सुषुप्तिकालीनगमनविषयपूर्वव्याख्यायामुपर्युप-रीत्यस्य दृष्टान्त एवान्वयो न दार्दान्तिके । सुषुप्तिकाल एकीमावसद्भा-वेऽप्युपरिगमनाभावात्। अन्तर्यामिविषयद्वितीयव्याख्यायां तु, अन्तर्या-मिण उपरि सर्वदा गतिसत्त्वादुपर्युपरीत्यस्य दार्षान्तिकेऽप्यन्वयो द्रष्टव्यः। अत्र व्यासार्येरन्तर्यामिविषयतया व्याख्यानेऽन्तर्यामिण्यहरहर्गमनस्य दहराकाशस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमयुक्तम् । उपासकानुग्रहायावस्थितो हि दहराकाशोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितो ह्याधारवत्तयो रूपमेवादित्याश-क्क्य धर्मेक्याभिप्रायेणेवमुक्तमिति परिहृतम् ॥ २ ॥

पूर्वोक्तं तस्य हृद्यान्तर्वित्वं स्मारयति—

स वा एष आत्मा हृदि।

अन्तर्वर्तत इति शेपः । हृद्यनामनिर्वचनाद्प्यात्मनो हृद्गृतत्वं सिध्यतीत्याह—

तस्यैतदेव निरुक्तं ह्ययमिति तस्माद्धृदयम् ।

इति । तस्यैतस्य हृद्यस्य हृद्ययमारमा वर्तत इति हि हृद्यशब्दनि-रुक्तिरिति भाव: ।

अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

अहरहः प्रत्यहमाप्रयाणमेवंविदेतादृशदृहराकाशोपासननिष्ठः सुखरूपं

लोक्यमानं बह्म प्राप्नोतीत्यर्थः । बह्मोपासननिष्ठस्य तत्कतुन्यायेन बह्म-प्राप्तेरेव वक्तव्यतया प्रसिद्धस्वर्गलोकपाष्त्यसंभवादिति दृष्टव्यम् ॥ ३॥

कथं ब्रह्मपाप्तिः । प्राप्तस्य वा ततः किं भवतीत्यत्राऽऽह—
अथ य एप संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय
परं ज्योतिरुपसंपय स्वेन रूपेणाभिनिष्पयते ।

अथशब्दः प्रकृतापेक्षत्वद्योतकः । संप्रसाद्शब्दः सुपुप्तिस्थानवचनः संस्तत्संबन्धाज्ञीवं लक्षयति । एप संप्रसादोऽहरहर्वा एवंविदिति पूर्व-वाक्यनिर्दिष्ट उपासको जीवोऽस्माद्धेयतया परिदृश्यमानाच्छरीरादुःकम्य देशविशेषनिष्ठं परमात्मानं प्राप्य स्वेन रूपेणाभिनिष्णद्यते । अस्य वाक्यस्यार्थः प्रजापतिविद्यायां विशिष्य वक्ष्यते ।

एप आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वस्नेति ।

एप आत्मेतद्मृतमित्यवैतच्छव्दौ पूर्ववाक्ये परं ज्योतिरूपसंपद्येति प्राप्यतया निर्दिष्टपरज्योति:शब्दितबह्मपरी प्राप्यतया प्राधान्यादव्यव-हितत्वाच । नतु 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्स स्वां देवतामार्छत् । इत्यत्र विभक्त्यैकरूप्याद्यवहितस्यापि प्रजापतेः स इत्यनेन ग्रहणं हप्टं न त्वव्यवहितस्य संप्रदानत्वेन प्रधानस्य वरुणस्य ग्रहणमित्युक्तं मीमां-सकै:। 'आकाशाचन्द्रमसमेष सोमो राजा ' छा० ५। १०। ४ ] इत्यत्रैतच्छव्दस्य नाव्यवहिताभिसंभाव्यचन्द्रमसः परामिशत्वं हप्टमपि त्वभिसंमवितृपरत्वम् । ततश्चेहापि व्यवहितस्य संप्रसादशब्दितस्य जीव-स्यैवैष आत्मेत्येतच्छब्देन ग्रहणमुचितं विभक्त्येकरूप्यादिति चेन्न । प्रजापतिर्वरुणायेति वाक्ये स इत्यनेन प्रजापतिपरामर्शेऽश्वदानसंप्रदा-नक्षपत्वेन स्वीयां वरुणदेवतामार्छत्प्राप्नोदित्यर्थो युज्यते । वरुणपरा-मर्शे तु वरुणस्याऽऽत्मीयाया देवतायाः प्रागप्रस्तुतत्वाद्श्यांसंगत्या व्यव-हितोऽपि प्रजापतिः परामृष्टो न विभक्त्यैकरूप्यमात्रेण । एप सोमो राजेति पितृयाणवाक्य एतच्छव्देन चन्द्रपरामर्शे तस्य सोमराजभाव-विधानवैयर्थ्याद्यविहताभिसंभवितृपराभार्शत्वं न तु विभक्त्यैकरूप्यात्। प्रकृतेऽव्यवहितप्रधानभूतपरज्योतिः शब्दितपरमात्मपरित्यागे कारणाभा-वात् । प्रत्युत तेन व्यवहितसंप्रसाद्शब्दितजीवपरिग्रहे तस्य निरुपा-धिकात्मत्वनिरतिशयसुखरूपत्वलक्षणामृतत्वदुः खासंभिन्नत्वरूपामयत्व-ब्रह्मत्वविधानासंभवाच ' एष आत्मोति होवाच ' इत्येतच्छच्देन प्राप्य- भूत: परमात्मैव परामृश्यते । यद्यपि स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वरूपाविभावे कथित आविर्भवत्स्वरूपं किमित्यपेक्षायां प्रजापति-वाक्ये 'एप आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वह्मोति ' [ छा० ४ । १५। १] इति निर्दिष्टं मुक्तरूपमित्येतद्रथंकत्वेऽपि नानुपपत्तिस्तथाऽपि 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' ि छा० ८ । ३ । ४ ] इत्युत्तरवाक्यनिर्देक्ष्यमाणचेतनाचेतननियन्तृत्वार्थकसत्यनामत्वस्य मुक्ता-त्मन्यसंभवात्पूर्ववाक्यनिर्दिष्टोऽपि न जीवः परामृश्यतेऽपि तु प्राप्यं ब्रह्मैव । एष आत्मेति होवाचेत्येतावन्मात्रस्याऽऽविर्भवत्स्वरूपपरत्वम् । एतदमृतमभयमेतद्वह्मोत्यत्र त्वेतच्छव्दस्य परज्योतिःशब्दितब्रह्मपरत्व-मित्याश्रयणेऽपि नानुपपत्तिः । अनेन वाक्यसंदर्भेण परमात्मनो मुक्त-प्राप्यत्वतत्स्वरूपाविभावयिनृत्वलक्षणो महिमा प्रतिपादितो भवति । अत एव सूत्रकृताऽपि ' एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' छा० ८। ३। ४ ] इति दृहरविद्यामध्यस्थवाक्ये जीवप्रतिपादनदर्शनाहृहरा-काशोऽपि जीव एवास्तु तस्य यावान्वा अयमित्यादिवाक्यसंद-र्भप्रतिपादितभूताकाशोपमेयत्वस्य भूताकाशेऽनन्वयेन दहराकाशस्य भूताकाशत्वाभावेऽपि जीवे कथं चिन्निर्लेपत्वादिना भूताकाशोपमेयत्व-संभवादणुपरिमाणे जीवे दहरशब्दिताल्पपरिमाणत्वस्यापि संभवाहह-राकाशो जीव एवास्त्वित 'इतरपरामर्शात्स इति चेत् '[ ब० सू० १।३।१८ ] इति सूत्रखण्डेनाऽऽक्षिप्य 'दहर उत्तरेभ्यः ' [ त्र० सू० १।३।१४] 'गतिशब्दाभ्यां तथा हि हप्टं लिङ्गं च ' बि० सू० १।३।१५] ' धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ' [ ब० सू० ३ । १६ ] इति सूत्रत्रयोक्तानां परमात्मधर्माणां जीवेऽसंभवान्न जीवो दहराकाश इति 'नासंभवात् ' बि० सू० १।३।१८ ] इति सूत्र-खण्डेन परिहृत्य तर्हि ब्रह्मप्रकरण एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेति जीवपरामर्शः किमर्थ इत्याशङ्क्य मुक्ते तत्स्वरूपाविर्मावयितृत्वलक्ष-णपरमात्ममहिमप्रकाशनार्थों जीवपरामर्श इति ' अन्यार्थश्च परामर्शः ' [ ब॰ सू॰ १। ३। २० ] इति सूत्रेण प्रतिपादितम्।

तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत्तियमिति । सत्तियमिति सत्यनाम ज्यक्षरात्मकमित्यर्थः । तयत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यम् ।

अत्रामृतमर्त्यशब्दाभ्यां चेतनाचेतने निर्दिश्येते । अथ ययं तेनोभे यच्छति ।

अमृतत्वमर्त्यत्वरूपेणोपलक्षिते उभे यच्छतीति यमित्यर्थः । तदेवो-पसंहरति—

यदनेनोभे यच्छति तस्मायम् ।

अनेन चेतनाचेतनत्वरूपेणोपलक्षिते उभे यतो यच्छति तस्माद्य-मित्यर्थ:। नामनिर्वचनाभिज्ञं स्तौति—

अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

स्पष्टों ऽर्थः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य तृतीयः खण्डः॥ ३॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय ।

उक्तलक्षण आत्मा सेतुरिव विधृतिर्विधारकं इत्यर्थः । किमर्थं सेतु-र्विधृतिरित्यत्राऽऽह—एषां लोकानामसंभेदायेति । असंभेदोऽसंकरः । यद्ययं परमात्मा स्वशासनेन जगन्न धारयेत्, सर्वधर्माणां सांकर्यमेव स्यात् । पृथिव्या गन्धवत्त्वं जलस्य शैत्यं तेजस औष्ण्यमित्याद्यो धर्माः परमात्माज्ञया व्यवस्थिता मवन्ति । सिनोति बध्नाति स्वस्मिश्चिद्-चिद्वस्तुजातमसंकीर्णमिति सेतुरुच्यत इति 'सामान्याज्ञ ' [ ब० सू० ३।२।३२ ] इति सूत्रे भाषितम् ।

# नैतश् सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुक्ठतं न दुष्क्ठतम् ।

तरितः प्राप्तिवचनः । वेदान्तं तरितिवदिति तत्रैव भाषितत्वात् । एतं परमात्मसेतुमहोरात्रे परिच्छेद्कत्वेन न प्राप्नुवतो जरादिकमिप न प्राप्नोति । उक्तमर्थं निगमयित—

## सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ।

शोकादिषु पाष्मशब्दस्यामुख्यत्वेऽपि सुकृतदुष्कृतयोरलौकिकमुमु-क्ष्वनिष्टसाधनत्वलक्षणपापशब्दप्रवृत्तिनिमित्तसंभवात्पाष्मशब्दो मुख्य इति व्यासार्यैर्लघुसिद्धान्ते वर्णितम् । तत्र हेतुमाह—

# अपहतपाप्मा होष बसलोकः 🕨 १ ॥

इति । बह्यस्वपो लोक एषोऽपहतपाप्मा । हिहेंती यस्माद्यमपहत-पाप्मा तस्मात्सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यर्थः । पापहेतुकार्याचर-णेऽपि तदुत्पत्तिपतिबन्धकशक्तियोगित्वमेव ह्यपहतपाप्मत्वं तस्मात्पा-प्मशब्दमुख्यार्थसुकृतदुष्कृतयोस्तत्फलभूतजशरोगादीनां च न पसक्ति-रित्यर्थः ॥ १ ॥

> तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्यः सम्नविद्यो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति ।

यस्माद्यमपहतपाष्मा तस्माद्वैतं परमात्मलक्षणं सेतुं प्राप्य पूर्वमा-न्ध्यायुधवेपज्वरादियुक्तदेहोऽपि संस्तद्दोपरहितद्वियदेहयुक्तो भवती-त्यर्थ: ।

> तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनि-ष्पयते सङद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥२॥

परमात्मानं प्राप्तस्य तामिस्रा तामसी राजिरिप दिवैव । तस्याज्ञान-प्रसक्तेरभावादहःसहशी सा राजिः । अहोराज्ञयोर्न विशेष इत्यर्थः । तत्र हेतुः—एष पूर्वोक्तो ब्रह्मलोको हि यस्मात्सकृद्विभातो सर्वदा ब्रह्मस्वरूपप्रकाशस्यानावृततया भासमानत्वादित्यर्थः ॥ २॥ तय एवेतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुवि-न्दन्ति तेषामेवेष ब्रह्मलोकस्तेपाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

तत्तत्रैवं सित य एवं परमात्मानं स्त्रीविषयतृष्णात्यागरूपब्रह्मचर्य-पूर्वकशास्त्राचार्यापदेशादिना जानन्ति तेषामेवेहशब्रह्मप्राप्तिः सर्वलो-कानुभवश्च । न ब्रह्मचर्यादिहीनानामित्यर्थः । सूत्रितं च—'धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ' [ब० सू०१।३।१६] इति 'एप सेतुर्विधरण एपां लोकानामसंभेदाय ' [बृ०४।४।२२] इति परब्रह्ममहिमत्वेन प्रसिद्धस्य जगद्विधरणमहिम्नो दहराकाश उपलभ्य-मानत्वाह्हराकाशः परं ब्रह्मेति ॥३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

यज्ञेष्टसत्रायणमीनानाशकायनारण्यायनाख्यानि कर्माणि बह्मचर्य-साध्यत्वाद्वह्मलोकसाधनत्वेन प्रस्तुतं प्राङ्गिनिद्धं बह्मचर्यमेवेति स्तौति-अथ यखज्ञ इत्याचक्षते बह्मचर्यमेव तत् ।

लोके यत्पाकयज्ञहाविर्यज्ञादिकं कर्म वैदिका यज्ञ इत्याचक्षते तद्वह्मचर्य-साध्यत्वाद्वह्मचर्यमेवेत्यर्थः । ननु यज्ञस्य कथं ब्रह्मलोकसाधनब्रह्मचर्य-साध्यत्वं न हि ब्रह्मगातिसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञो द्वारमित्याशङ्क्य ब्रह्मचर्यसाध्यस्य ब्रह्मप्रातिसाधनस्य ज्ञानस्य यज्ञक्षपत्वाज्ज्ञानसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञसाधनत्वमप्यस्तीति प्रतिपाद्यितुमेकशब्द्रुक्षपितत्वेन तयोरेक्यं संपाद्यति—

ब्रह्मचर्येण होव यो ज्ञाता तं विन्दते।

बह्मचर्यपुरःसरबह्मज्ञानवान्हि तं बह्मलोकं विन्दते । तत्र यो ज्ञाता बह्मचर्येणेत्युक्त्या यो ज्ञातेत्यस्य बह्मचर्यसाध्यत्वं प्रतीयते यो ज्ञातेति शब्दैकदेशस्य यो ज्ञशब्दस्य यज्ञशब्दस्य च साम्यकृताभेवावसायेन तद्-र्थाभेदाध्यवसायमूला यज्ञस्यापि बह्मचर्यसाध्यतेति भावः। एवमुत्त-रत्रापि।

> अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्वह्म-चर्येण होवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अत्रापि ब्रह्मपाप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यस्य परमात्मपूजनस्य दर्श-पूर्णमासादीष्टीनां चेट्वत्येकशब्दरूपितत्वेनाभेदाध्यवसायः॥ १ ॥

अथ यत्सत्रायणभित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्वस्रचर्येण होव सत आत्मनस्राणं विन्दते।

अत्रापि ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यस्य विषयान्तरिवमुखीकर-णलक्षणस्य सच्छन्दितात्मत्राणस्य गवामयनादिसत्रस्य च सत्रायणस्य-पैकशब्द्रस्वितत्वेनाभेदाध्यवसायः।

> अथ यन्मौनिमत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्वह्म-चर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

वाङ्नियमनलक्षणमौनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यात्मश्रवणाधीनमननस्य च मौनक्ष्पैकशब्दक्षपितत्वेनाभेदाध्यवसायः ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते ।

बह्मचर्यसाध्यनाशाभावरूपफलस्य चानशनलक्षणमार्गस्य चानाश-कायनशब्दैक्यक्वतोऽभेदः।

> अथ यदरण्यायनिमत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवी ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि।

इतो भूलोकापेक्षया तृतीये द्युशब्दिते ब्रह्मलोकेऽरण्यसंज्ञकार्णवौ स्तः । अतश्चारण्यायनस्य ब्रह्मलोकस्य चारण्यवासस्य चारण्यायनशः ब्दक्ततोऽभेदः । भुवं चतुर्भुखलोकान्तान्तरिक्षलोकं चापेक्ष्य भगवलोकस्य तृतीयत्वं न तु चतुर्मुखलोकस्य तृतीयत्वमिति मन्तव्यम् । प्रश्लोपनिषवि चतुर्मुखलोकस्याप्यन्तरिक्षलोककोटी निवेशितत्वाप्रसङ्गाद्भगवलोकचि-द्धानि कानिचिदाह—

तदैरंमदीयः सरस्तदश्वत्थः सोमसवनः।

तत्तत्रैरंमदीयनामकं सरः । अस्तीति शेषः । इरयाऽमृतेन माद्यन्ते यस्मिस्तदैरंमदीयममृतमयं सर इत्यर्थः । सोमसवननामाऽश्वत्थश्चास्ती-रयर्थः । चन्द्रवदाह्वादकरत्वात्सोमसवनत्वम् ।

तदपराजिता पूर्वसणः।

तत्तत्राबह्मविद्धिः प्राप्तुमशक्यत्वेनापराजिता नाम परब्रह्मणः पुरी चास्तीत्यर्थः ।

प्रभुविमितः हिरण्मयम् ॥ ३॥

मण्डपमिति शेषः । प्रभुणा भगवता विशेषेण मितं स्वभोगभूमित्वेन विशेषतः परिगृहीतमित्यर्थः । भगवतो व्याप्तत्वेऽपि नित्यविग्रहविाश-ष्टतया संनिधानाद्विमितत्वम् । अतश्च तद्देशविशिष्टबह्मपाप्तिरेव बह्मपा-प्तिरिति भावः ॥ ३॥

प्रसङ्गादाह-

तय एवतावरं च ण्यं चार्णवी ब्रह्मलोके ब्रह्म-चर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष बसलोकस्तेषाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

ब्रह्मप्राप्तिसाधनीभूतारण्यशन्दितार्णवद्वयप्राप्तेर्बह्मचर्याधीनत्वाद्वह्मच-र्यमेव सर्वसाधनोत्क्रष्टमिति मावः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

उक्तबह्मलोकपातिसाधनतया मूर्धन्यनाडीगमनं प्रस्तौति— अथ या एता हृदयस्य नाडचस्ताः पिङ्गलस्याणि-स्रस्तिष्ठन्ति शुक्कस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति ।

हृदयसंबन्धिन्यो नाड्यो नानारूपस्क्ष्मान्नरसपूर्णास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । असो वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्र एप नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

आदित्यस्य नानारूपाश्रयत्वं च मधुविद्याप्रसिद्धं प्रत्यक्षसिद्धं च। ततश्चैतद्रश्मिसंबन्धादेवान्नरसस्य नानारूपत्वं चेति भावः॥ १॥

> तयथा महापथ आतत उभी ग्रामी गच्छ-तीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभी लोकी गच्छन्तीमं चामुं च ।

यथा विस्तीर्णो महान्पन्था ग्रामद्वयप्रविष्टो भवति तथाऽऽिदत्यरहमयो लोकद्वयानुप्रविष्टा इत्यर्थः । लोकद्वयप्रवेशनक्रममाह— अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो

नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥ २॥

प्रतायन्ते संतताः सृप्ताः प्रविष्टाः । रश्मीनामुमयलिङ्गत्वात्ते ता इति च निर्देशः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

तयत्रेतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वमं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति।

तत्तत्रेवं सतीत्यर्थः । यत्र यदा समस्त उपसंहतकरणमण्डलोऽत एव संप्रसन्नो बाह्यविषयसंपर्कजनितकालुष्यगून्यः स्वप्नं न पश्यती-त्येतत्स्वप्नादर्शनं सुपुप्तिरिति यावत् । तदाऽऽस्च नाडीषु प्रविष्टो भवति पुरीतद्वह्मगमनाय नाडीषु प्रविष्टो भवति । 'नाड्यो द्वासप्ततिः सह-स्नाणि हृद्यात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृष्य पुरीतित शेते ' [ वृ० २ । १ । १९ ] इति श्रुत्यन्तरान्नाडीपुरीतद्वह्मणां समुचयेन सुषु-पित्यस्य । तद्भावो नाडीपु तच्छूतेरात्मिन च ' [ व० सू०३।२।७]

इत्यत्र स्थितत्वाञ्चाङीनामपि सुपुप्तिस्थानत्वमस्तीति द्रष्टव्यम् ।

#### तं न कश्चन पाप्मा स्प्रशति ।

सुपृप्ती सतोऽपि कर्मणः फलजननसामर्थं नास्तीत्यर्थः। न कश्चन पाप्मा स्पृश्ततीत्यस्मिन्वाक्येऽनुष्ठानाशक्तिर्विवक्षितेति व्यासार्यवचनस्या-प्ययमेवार्थः । तत्र हेतुमाह—

## तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा०६।८।१ ] इति श्रुतेः । तेजःशब्दः प्रकाशकत्वगुणयोगाद्वह्मपरः । ब्रह्मणि संपत्तिनीम देहेन्द्रियाधिष्ठातृत्वराहित्येन बह्मण्यवस्थानम् । संपत्त्यधिकरणस्य कर-णत्वविवक्षया नृतीयानिर्देशः ॥ ३ ॥

#### अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति ।

अथशब्दोऽर्थान्तरप्रस्तावार्थः । अबलस्य भावोऽबलिमाऽबलत्वं रोगादिक्रतं दौविल्यं नीतो भवतीत्येतद्यत्र यदेत्यर्थः । यदा दौर्बल्यं प्राप्तवानित्यर्थः ।

तमित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति।

तं ताहशदशाविशिष्टं परितो वर्तमाना बान्धवा मां जानासि किं मां जानासि किमित्याहुः । यद्दा, एतदेतासु नाडीषु स्थित इत्यर्थः ।

स यावदस्माच्छरीरादनुत्कान्तो भवति तावजानाति ॥ ४ ॥ स्पद्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

> अथ यत्रेतस्माच्छरीरादुत्कामद-थेतरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते ।

एतैरेव रश्मिभ: पूर्वोक्तेरादित्यरिमभिरित्यर्थ:।इदं च वाक्यमुक्ता-न्तिपादे चिन्तितम् । निशि सृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारेण गमनासंभवा-द्रश्मिभरेव गमनमिति न नियमः। अथैतैरेव रश्मिभिक्षध्र्यनाक्रमत इति वचनं तु पक्षप्राप्तविषयम् । एवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थ इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते-'रश्य नुसारी ' [ ब० स०४।२।१८]

विद्वान्नियमेन रश्मीननुसृत्यैव गच्छति । एतैरेव रश्मिमिरित्येवकारस्य क्रियासंगतैवकारत्वाभावेनात्यन्तायोगव्यवच्छेदकत्वासंभवेनान्ययोगव्य-वच्छेदकत्वस्यैव वक्तव्यत्वात् । यदुक्तं निशि मृतस्य रशम्यसंभवा-द्रशीननुसृत्य गमनं नोपपद्यतं इति तन्न । निदायसमये हि रात्रावप्यू-प्मोपलम्भाद्रश्मिसंभवः। हेमन्तादौ तु हिमाभिभवाद्दुर्दिन इवोष्मानुप-लम्मः । श्रूयते च नाडीरश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः 'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामी गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रहमय उभी लोकी गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीपु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः 'इति ।

## स ओमिति वाऽऽहोद्दा मीयते।

#### स विद्वान्

ओं तत्सिदिति निर्देशो ब्रह्मणिखविधः स्मृतः [गी० १७। २३] तस्योदिति नाम ' [ छा० १। ६। ७ ] इति प्रमाणप्रसिद्धं परमा-त्मानमाह कीर्तयति किर्तयन्नेव मीयते प्रमीयते च। मरणकाले तस्य भगवन्नामस्मरणं संभवति । यद्वा स एते रिक्मिभिरुन्मीयत उन्नीयते । एको वाशब्दोऽवधारणार्थः।

#### स यावात्क्षप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ।

मनोवेगेनाऽऽदित्यं स गच्छतीत्यर्थः । न च 'स याविस्थिप्येन्मनस्ता-वदादित्यं गच्छति' इति त्वरावचनेन रक्ष्यनुसारिमार्गस्य मार्गान्तरवै-लक्षण्यप्रतीतेर्मार्गभेदः शङ्कचः। 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' [ब० सू० ४।३।१] इत्यधिकरणे नानाशाखासु तस्यैव मार्गस्य प्रथिते: प्रत्यमि-ज्ञानादिंचरादिरेक एव मार्गः। अतोऽचिरादिनैव मार्गेण विद्वानगच्छ-तीति समर्थितत्वात् । स यावित्क्षिप्येन्मन इति त्वरावचनस्य काश्मीरा-पेक्षया मगधान्क्षिप्रं गच्छतीतिवद्गनतन्यस्वर्गाद्यपेक्षयाऽऽदित्यगमनस्य शैद्येण स यावत्क्षिप्येन्मन इति त्वरावचनस्याप्युपपत्तेर्न दोषः ।

# एतदै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

विदुपां बह्मलोकस्य द्वारं प्रपद्नं प्रपद्यतेऽनेनेति प्रपद्नं प्राप्तिसाधनं य आदित्यः । द्वारापेक्षया नपुंसकनिर्देश एतदिति । अविदुषां च निरों- धकः । अविद्वांसो हि सूर्यमण्डलभेदासामर्थान्न गन्तुं शक्नुवन्ती-त्यर्थः ॥ ५ ॥

#### तदेष श्लोकः।

तत्तस्मिन्विषय एष वक्ष्यमाणः श्लोकः प्रवृत्त इत्यर्थः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम-भिनिःसृतैका।तयोध्वमायस्रमृतत्वमेति विष्व-ङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥६॥ इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमप्रपाठकस्य षष्टः खण्डः ॥ ६॥

मूर्धन्यनामनाड्या गच्छन्मुक्तिं प्राप्तोति विष्वग्गतयो नानागतये इतरा नाड्यस्तूत्क्रमणमात्रे प्रभवन्ति न त्वमृतत्वस्थानीभूतोर्ध्वगतावि-त्यर्थः। यद्गा विष्वगुत्क्रमणेऽन्योत्क्रमणेऽन्या नाड्य उपयुज्यन्त इत्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य पष्टः खण्डः ॥ ६ ॥

एवं दहरविद्यां समाप्य तदङ्गभूतां प्रत्यगात्मविद्यां प्रस्तौति—
य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः
सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्श्य लोकानामोति सर्वांश्श्य
कामान्यस्तमात्मानमनुविय विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

अत्रानुविद्येति वाक्यार्थज्ञानमुच्यते विजानातीति ध्यानं लघुसि-द्धान्ते तथैव मापितत्वात् ॥ १ ॥

# तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे।

तत्त्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेण देवा असुराश्चोभयेऽपि श्रुतवन्त इत्यर्थः।

ते होचुईन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानम-न्विष्य सर्वास्थ्व लोकानामोति सर्वाश्च कामानिति । अन्विच्छामः श्रवणमननाभ्यामवगच्छाम इत्यर्थः ।

इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवद्राज विरोचनोऽसुराणाम् ।

देवानां मध्य इन्द्रश्चासुराणां मध्ये विरोचनश्च प्रजापतिसमीपं गन्तुं प्रस्थितौ ।

ती हासंविदानावेव समित्याणी प्रजा-पतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

असंविदानौ परस्परास्यया परस्परसंमन्त्रणमकुर्वन्तावित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

ती ह दात्रिश्शतं वर्षाणि बस्नचर्यमूषतुः । द्वात्रिंशद्वर्षाणि शुश्रुषापरी भूत्वा बस्नचर्यं चेरतुः ।

तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति । किप्रयोजनमुद्दिश्योषितवन्तावित्यर्थः ।

तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-विशोको विजियत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाश्थ्य लोकानामोति सर्वाश्थ्य कामान्यस्त-मात्मानमनुविद्य विजानातीति ह भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमितिः ॥ ३ ॥

य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादि हि भगवतः पूज्यस्य तव वचो वेदयन्त ऐतिह्यरूपेण जनास्तिमिच्छन्ताववास्तं तज्ज्ञानिमच्छन्तावावां ब्रह्मचर्य-मुपितवन्ताविति तौ प्रजापितं प्रत्यूचुरित्यर्थः । अवास्तिमिति पुरुपव्य-त्ययश्छान्दसः ॥ ३॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एपोऽक्षिणि पुरुषो दश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वह्रोति ।

अत्र य एषे।ऽक्षिणि पुरुषो हुश्यत इति नेहाक्षिपुरुषः परमात्मा 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुद्याख्यास्यामि ' [ छा० ८। ९। ३ ] इत्युपक्रम्य स्वप्राद्यवस्थानामभिधानात्। न चायं छायादिपुरुषः प्रजापतिनोपदिश्यत आत्मजिज्ञासयोपसन्नयोस्तयोस्तदुपदेशायोगात्, आत्मत्वामृतत्वाभय-त्वब्रह्मत्वाद्ययोगाञ्च । अतोऽञ्च प्रजापतिना प्रत्यगात्मैवोपदिश्यते । न चेहाक्षिणि जीवस्थितिरुपद्दियतेऽपि त्वक्षिप्रसाद्विकाराभ्यां जीव-स्थितिगती निश्चीयेते । अतोऽक्ष्णो जीवस्थितिगतिसूचकत्वादक्षिणि हृश्यत इत्युक्तं कर्मणः सामर्थ्यसूचकत्वाभिप्रायेणास्मिनकर्मण्यस्य सामर्थ्यं हप्टमितिवत् । ततथ गृहे स्थित्वा निर्गच्छन्पुरुषो यथा गृहादन्य एवं शरीरे स्थितिगति तनात्माऽपि शरीरादन्य इत्युक्तं भवति । अमृत-मिति निरतिशयसुखद्धपत्वम् । अभयमिति दुःसासंभिन्नत्वम् । ब्रह्मत्य-संकुचितविज्ञानतया बृहत्त्वं चोक्तमिति व्यासार्येशक्तम् ।

> अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इति ।

एवं प्रत्यगात्मनि प्रजापतिनोपद्दिष्टे छायापुरुप आत्मेत्युपदिष्ट इति भ्रान्त्या स्वगृहीतच्छायापुरुषात्मकत्वहढीकरणाय जलाद्शांदिप्रति-विम्बोऽप्यक्षिपतिविम्बाभिन्नात्मैवोत तन्द्रिन्नोऽनात्मेत्यभिप्रायेण पप्र-च्छतुरित्यर्थः । एवं ताभ्यां पृष्टः प्रजापतिस्तयोर्भान्तिमनिराकुर्वन्ने-वाऽऽह—

एष उ एवेषु सर्वेष्वन्तेषु परि-च्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७॥

यश्रक्षि दृश्यत्वेन मयोक्तः स आत्मा सर्वान्तरो जलादिष्विप न भिद्यत इत्युत्तरं द्दावित्यर्थः । शिष्यश्रान्तिमनिराकृत्य तद्भान्तिदृढीक-रणायेत्थमुत्तरं दृद्त आचार्यस्यायमभिष्रायः — सुरासुरेन्द्राविनद्रविरोचनौ

स्वात्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यमहत्त्वातिशयौ तथैव जगति प्रसिद्धौ च। तद्यदि युवां भ्रान्ताविति ब्र्यां तदा चित्तावसादात्पुनः प्रश्रग्रहणधार-णेषु भग्नोत्साहौ स्याताम् । अतो यथाश्रुतप्रश्नमात्रस्योत्तरमिदानीं वक्त-व्यमिति । अनेन चोत्तरेण पूर्वीत्पन्नप्रतिबिम्बात्मभ्रमो हढी मवति चेद्भ-वतु। दृढीभूतोऽपि भ्रम उद्शरावनिरीक्षणनियोजनोपायेनापनेष्यत इति। अत एव तद्भमापनयनार्थमाह—'उद्शराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रबूतमिति ' [ छा० ८। ८। १ ]। उद्शरावावे-क्षणे तौ नियुयोज । अत्र व्यासार्थेरेताहशाभिप्रायपरिकल्पनस्यातिक्कि-ष्टत्वात् ' योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमाद्शें कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायते 'इत्येतावानपि प्रश्न एव । प्रश्नवाक्य-मध्यगत इतिशब्दः प्रश्नान्ते निवेशितव्यः। इति होवाचेत्येतदुत्तरस्योदश-रावबाह्मणस्य शेषभूतम् । उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तनमे प्रबूतमितीति होवाचेत्युत्तरेणान्वयः। तत्र चैक इतिशब्दः समाप्तिद्योतकोऽन्यस्तु प्रकारवचनः । अथ वा कतम एप इतीत्यत्रेति-शब्दो वक्ष्यमाणवचनोऽन्यस्तूक्तवचनः। यद्वा प्रश्नवाक्ये प्रथम इतिशब्दः प्रकारवचनो द्वितीयस्तु प्रश्नसमाप्तिद्योतकः । हावाचेति तूत्तरशेषभूतम् । प्रबूतमिति होवाचेत्यन्वय इत्येवं नेतिशब्दद्वयवैयर्थ्यमित्यभिष्रेत्य प्रजा-पतिहृदयानभिज्ञानेन च्छायापुरुष उपदिष्ट इति मत्वा पुनः पत्रच्छतः-योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायत इत्यादिना । सर्वेष्वनतेषु नेत्रादिस्थानेषु परिख्यायते कतम एष इत्यर्थ इत्युक्तम् । चक्षुरादिप्रतिबिम्ब एवाऽऽ-रमेति स्वग्रहणदार्ह्यार्थं पुनरपि पप्रच्छतुरिति भावः । अप्स परि-ख्यायत आद्शें परिख्यायत इत्येवंप्रकारेण जलादिष्वन्तेषुं स्थानेषु यो हश्यते स नेत्रे दृश्यमान एष भवदुक्त एव किमुतान्य: , कतम एष इत्यर्थ इति व्यासार्याणामभित्रायः ॥ ४ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

> > उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रवूतमिति ।

उद्कपूर्णे शराव आत्मानं हङ्घाऽऽत्मसंबन्धिनमनुपपन्नतया भास-मानं सम्यगनवगतमंशं युवां वद्तमितीत्युक्तवान् । **छा** ्प्र०८ ख०८

# तौ होदशरावेऽवेक्षांचकाते।

तौ ह प्रतिबिम्बमवलं।िकतवन्तौ । अवलोक्यापि दोषास्फुरणात्तृष्णीमुषितवन्तौ तयोरनुपपत्त्यस्फूर्तिं ज्ञात्वा किं पश्यथ इति स्वयमेव
प्रजापतिरुवाचेत्याह—

तौ ह प्रजापितरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपिमिति ॥ १ ॥

इदं प्रतिरूपमात्मानं पश्याव इति प्रतिबिम्बात्मभ्रममेवोद्घाटितव-न्तावित्यर्थः॥ १॥

> तौ ह प्रजापितरुवाच साध्वलंकतौ सुवसनौ परिष्क्ठतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्व-लंक्ठतौ सुवसनौ परिष्क्ठतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांच-काते तौ ह प्रजापितरुवाच किंपश्यथ इति ॥ २ ॥

तो होचतुर्यथेवेदमायां भगवः साध्वलंकतो सुवसनौ परिष्क्रतो स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकतो सुवसनौ परिष्क्रताविति ।

आवां साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्वो भवाव इतीदं यथैव तथैवेमाविष प्रतिविम्बौ साध्वलंकारादियुक्ताविति प्रत्यूचतुरित्यर्थः। अत्रोद्शरावावेक्षणालंकृतदेहप्रतिविम्बिनरीक्षणयोर्नियुक्तानस्य प्रजाप-तर्यमभिसंधिः—आगमाणायशालिद्वात्रिंशद्वर्षत्रह्मचर्यदीर्घीभूतकेशनख-वस्त्रालंकारादिलक्षणदोषगुणयुक्ताव्यवस्थितदेहानुकारिदोषगुणवत्त्वाद्दे-हवत्तत्प्रतिविम्बोऽप्यनातमा निरितशयसुखत्वदुःखासंभिन्नत्वलक्षणामृत-त्वामयत्वशून्य इति जानीतिमिति । एवं द्विविधनियोजनेऽि तयोर-प्रक्षीणकल्मपत्या दोषाद्र्शनेन प्रतिविम्बात्मभ्रमो नापनीतः । ततः प्रजापतिर्भान्तिनिराकरणार्थं मया कृतस्य द्विविधप्रतिम्बिबद्शनस्या-भिप्रायमिमावप्रक्षीणकल्मपत्वान्नावगच्छतः। प्रत्यक्षं च युवां भ्रान्ता- विति वक्तमप्यनहीं । तिव्वानीमेतदीयहृद्यानुरोधेन प्रतिबिम्बमेव निर्दिश्य सर्वान्तरं परमात्मानं मनिस निधायेप एवाऽऽत्मेत्युपदेशेन त्यो-राकाङ्क्षां निवर्तियिष्यामि । कालेन कलमधे प्रक्षीणे मद्वचनसंदर्भस्य सर्वस्याप्यभिप्रायं स्वयमेवावगमिष्यत इति विचिकित्समानौ वा मत्स-मीपमागमिष्यत इति मत्वाऽऽह—

> एष आत्मेति है।वाचेतदमृतमभयमेतद्ध-स्नेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवज्ञजतुः॥ ३॥

शान्तहृद्यौ निवृत्ताकाङ्क्षावित्यर्थः ॥ ३ ॥ तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच ।

एवं तयोः प्रतिनिवृत्तयोः सतोः प्रजापतिभ्रान्तिगृहीतार्थश्रद्धयेमौ विनष्टौ मा भूताम्, इद्मपि मङ्क्चनं य आत्मोतिवचनवत्कृणांकणिकया शृणुतामित्यभिष्रत्योवाचेत्यर्थः । उक्तिभेवाऽऽह—

> अनुपलभ्याऽऽत्मानमननुविय व्रजते। यतर एतदुपनिषदे। भविष्यन्ति देवा व्राऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति ।

एताविन्द्रविरोचनावात्मस्वरूपं श्रवणमननाभ्यामज्ञात्वा गच्छतः। यतरे देवा वाऽसुरा वैतदुपनिषदो भविष्यन्ति । उपनिषच्छन्द उपदेश-परः । अनयोरुपदेशाद्भान्तिगृहीतार्थविषयकनिश्चया ये ह भविष्यन्ति ते पराभविष्यन्ति नित्यसंसारिणो भविष्यन्तीत्यर्थः ।

> स ह शान्तदृदय एव विरोचनोऽसुरा-अगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच।

विरोचनस्तु प्राजापत्यस्य द्विविधदेहच्छायादर्शनियोगस्य देहातु-कारित्वाच्छायाया देह एवाऽऽत्मेति सूचने तात्पर्यम्। अलंकृतदेहच्छायां निर्दिश्य, एप आत्मेत्युपदेशस्य नीलानीलयोरादर्शे दृश्यमानयोर्वाससो-पंत्रीलं त्तन्महार्घमिति वचनस्य च्छायानिमित्ते वाससी वाऽलंकृतदेहे तात्पर्यमिति मन्वानो देह एवाऽऽत्माऽलंकारादिभिः परिचरणीय इति निश्चित्य राज्यं प्राप्यासुरेभ्यस्तथैवोपादिक्षदित्यर्थः। आत्मेवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचर-सुभौ लोकाववामोतीमं चामुं चेति॥४॥

आत्मैव देह एव महय्यः पूज्य इत्यर्थः । उभौ लोकाविति सर्वलोक-सुखानुभवोऽपि शरीरगत एवेति भावः ॥ ४ ॥

स संप्रदायोऽद्याप्यनुवर्तत इत्याह—

तस्मादप्यचेहाददानमश्रद्धानमयजमान-माहुरासुरो बतेत्यसुराणां श्रेषोपनिषत् ।

यस्माद्मुरेभ्य एवेयमुपनिषत्पवृत्ता तस्मादिह लोकेऽद्यापि विशिष्टा यागदानश्रद्धाविधुरं पुरुपमासुरस्वभाविमत्याहुः । तत्र हेतुरसुराणां ह्येपोपनिषत् । यागदानश्रद्धावैधुर्ये हेतुभूता नास्तिक्यबुद्धिरसुराणाः मेव हि ।

प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति स\*-स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्या-ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

यत एवं देहस्यैवाऽऽत्मतया परिचरणीयत्वमत एव प्रेतस्य मृतस्य शरीरं भिक्षित्वा वस्त्रालंकारादिभिः पूजयन्ति कुणपसंस्कारेणैव परलो-कजयं मन्यमाना इत्यर्थः ॥ ५ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्याः प्टमः खण्डः ॥ ८॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्येव देवानेतद्भयं ददर्श ।

इन्द्रस्य शुद्धान्तःकरणत्वाद्देहात्मभ्रमोऽपि नाभूत् । स स्वराज्यं प्राप्य देवेभ्यस्तदुपदेशात्प्रागेव मध्ये मार्गं प्रतिचिम्बात्मन्यपीमं वक्ष्यमाणं दोप-मपश्यदित्यर्थः । यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंक्टते साध्वलंक्टतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्क्टते परिष्क्टतः ।

अयं देहप्रतिबिम्ब इत्यर्थः । परिष्कृते ऽपाकृतनखलोमादिक इत्यर्थः ।

एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्नामे स्नामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाश-मन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

नासिका यस्य सदा स्रवति स स्नामः । भिन्नपाणिपादः परिवृक्णः । प्रतिबिम्बस्य विम्बभूतशरीरगतसाध्वलंक्वतत्वसुवसनत्वपरिष्क्वतत्वानुवि-धायित्ववत्तद्गतान्ध्यसाम्यपरिवृक्षणत्वनाशानुविधायित्वावश्यंमावेनामृत-तत्वाभयत्वात्मत्वादिकं मोगं न संभवतीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तथ ह प्रजापतिरुवाच । स इन्द्र एयाय प्रजापतिमिति शेषः ।

> मघवन्यच्छान्तहृदयः प्रावाजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति ।

हे मघवङशान्तदोषशङ्को विरोचनेन सार्धं यद्यस्त्वं गतवान्स किं प्रयोजनमभिलपन्नागतोऽसि । आगम इति गमेर्लुङि लिद्त्वाद्ङ् ।

> स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकिते साध्वलंकितो भवति सुवसने सुवसनः परिष्किते परिष्कित एवमेवायम-स्मिन्नन्थेऽन्थो भवति स्नामे स्नामः परिवृक्णे परिवृक्षणोऽस्थैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्य-ति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

उक्तोऽर्थः ॥ २॥

एवमेवैष मधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनु-

व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिश्शतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिश्शतं वर्षाण्युवास तस्मे होवाच ॥३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः॥ ९॥

हे मघवंस्त्वदुक्तं सत्यमेव । उक्तिमिममेवाऽऽत्मानं पुनरिप दोपशून्य-तया प्रतिपाद्यिष्यामि । अन्तःकरणशुष्यर्थमितोऽपि द्वात्रिंशतं वर्षाणि बह्मचर्यं वसेत्याज्ञत्तो मघवांस्तथैव कृतवानित्यर्थः । एवमुपितवत इन्द्राय प्रजापतिर्वक्ष्यमाणमुवाचेत्यर्थः ॥ ३॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्पकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

> > य एष स्वमे महीयमानश्वरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वस्नेति ।

यः स्वप्ने स्वपादिभिः पूज्यमानश्चरत्येष स्वप्नद्रष्टा भोग्यतादिलक्षणाम्-तत्वादियुक्त आत्मेत्युक्तवानित्यर्थः । नायं पूर्वोक्तदेहगतान्ध्यस्नाम्याद्यनु-विधायित्वलक्षणदोषदुष्ट इति भावः ।

स ह शान्तहृदयः प्रवज्ञाज स हाप्राप्येव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यविषद्भ शरीरमन्धं भवत्यनन्थः स भवति।

तिद्दं शरीरं यद्यप्यन्धं भवति तथाऽपि सोऽनन्धो भवतीति योजना । यदि स्नाममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ १ ॥ न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाम्येण स्नामः ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ब्रन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीव ।

एवशब्द इवार्थः । एवं स्वप्तात्मानं केचन प्रन्तीव द्रावाधन्तीव भानतीत्यर्थः । अप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाह-

हन्यमानत्वद्गाव्यमाणत्वबन्धुजनमरणाद्यप्रियवेत्तृत्वरोदितृत्वादिदर्श-नात्स्वप्नावस्थस्य न भोग्यत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त इ प्रजापितरवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्ययपीदं भगवः
शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्नाममस्नामो नैवेषोऽस्य दोषेण दुष्यित ॥ ३ ॥
न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाम्येण स्नामो
प्रान्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वैव ते भूयोऽनुच्या-

इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य दशमः खण्डः ॥ १०॥

च्यास्यामि वसापराणि द्वात्रि शतं वर्षाणीति स

हापराणि द्वात्रि श्रातं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥४॥

उक्तोऽर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य दशमः खण्डः॥ १०॥

तयत्रेतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वमं न विजा-नात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वस्नेति । यत्र यदा तदेतत्स एषः । सुपां सुलगिति सोर्लुक् । समस्त उपसं- हृतकरणयामः संप्रसन्नो बाह्यविषयसंपर्कजनितकालुप्यरहितः शिष्टं स्पष्टम् ।

> स ह शान्तहृदयः प्रवत्राज स हाप्राप्येव देवा-नेतद्भयं ददशाँ नाह खल्वयमेवश् संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश-मेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अहेत्याश्चर्ये । अयं सुषुप्तः संप्रति सुषुप्तिकालेऽयमहमस्मीति विशेष-ज्ञानाभावेन स्वेतरभूतविषयकज्ञानाभावेन च सुपुप्तो विनष्टपाय इत्यर्थः । विनाशमेव विनाशमिव । अपीतोऽपिगतो विनष्टपाय इत्यर्थः ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तथ ह प्रजा-पतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्रावाजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एव संप्रत्यात्मानं जानात्ययमह-मस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥ एवमेवैष मघवित्रति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्या-स्यामि नो एवान्यंत्रैतस्माद्वसापराणि पश्च वर्षाणीति ।

एतस्मादन्यत्र नो एवोक्तादन्यन्न व्याख्यास्याम्यपि त्वेतं त्वेव पूर्वी-क्तमेव निर्दीपतया भूयो व्याख्यास्यामीत्यर्थः । एतं त्वेवेत्येवकारस्य विवरणमेतत् ।

स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशत संपेदुः। तानि वर्षाण्याहत्यैकशतं संपन्नानीत्यर्थः।

एतत्त्रयदाहुरेकशत १ ह वे वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास ।

एकशतसंवत्सरानिन्दः प्रजापतेः संनिधौ ब्रह्मचर्यं चरस्नवासेति लोके प्रसिद्धतया यदाहरतदेतदेवंविधमनेन प्रकारेणेति यावत् ।

## तस्मै होवाच ॥ ३ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमप्रपाठकस्यै-कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

एकशतवर्षब्रह्मचर्यनिर्मलीकृतान्तःकरणाय मघवते शुद्धात्मस्वकृषो-पदेशयोग्यतां परीक्ष्योपादिक्षदित्यर्थः । अनया चाऽऽख्यायिकया चहु-कालब्रह्मचर्यनिर्मलीकृतान्तःकरणतया संपन्नोपदेशयोग्यत्वायोपदेष्टव्य-मित्यर्थः सूच्यते ॥ ३ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्यै-काद्शः खण्डः ॥ ११ ॥

> > मघवन्मत्यं वा इदः शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठा-नमात्तो वे सशरीरः त्रियात्रियाभ्याम् ।

हे मघवन्निदं शरीरमेव हि मरणधर्मि, न केवलं मरणधर्मित्वमात्र-मिष तु मृत्युनाऽऽत्तं तद्याप्तं च सततिवनाशशीलमिति यावत्। इदं च शरीरे हेयत्वानुसंधानार्थमुक्तम् । एवंभूतं तिद्दं शरीरं कर्मकृतशरी-रराहित्यलक्षणामृतत्वस्वक्षपस्याऽऽत्मनो भोगाधिष्ठानं कर्मवश्येन जीवेन भोगार्थं परिगृहीतिमित्यर्थः। ततश्चाशरीरत्वमेव स्वक्षपं सैवामृतत्वलक्षणा मुक्तिः सशरीरत्वमेव तद्भाव इत्युक्तं भवति। ननु पुरुषार्थस्य हि मुक्तिक्षपत्वं वक्तव्यं न ह्यशरीरत्वं पुरुषार्थः। अपि तु दुःखाभावः। ततश्च तस्यैवामृतत्वक्षपत्वमुचितं न त्वशरीरत्वस्येत्यत्राऽऽह—

न ह वे सशरीरस्य सतः त्रियात्रिययोरपहतिरस्ति ।

कर्मारब्धशंरीरयोगिनस्तद्नुगुणसुखदुःखयोगस्यावश्यंभावित्वात्कर्मा-रब्धदेहसंबन्धाभावस्यैव पुरुषार्थतया मुक्तिरूपत्वमुपपद्यत इति भावः। व्यतिरेकं दर्शयति—

अशरीरं वाव सन्तं न त्रियात्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥ वावशब्दः प्रसिद्धाववधारणे वा ततश्चावश्यान्नापराहित्यलक्षणस्व-रूपमेव मुक्तिरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

## अशरीरो वायुः।

शिरःपाण्यादिलक्षणशरीरशून्यो वायुरित्यर्थः । अभ्रं वियुत्स्तनयिन्नशरीराण्येतानि ।

अभ्रादीनि चाशरीराणीत्यर्थः । 'अभ्रं भूत्वा मेघो भवति ' [ छा० ५ । १० । ६ ] इत्यादिवद्भ्रस्तनयित्न्वोरवस्थाभेदेन मेदो दृष्टप्यः । अशरीराणां च प्रियाप्रियानन्वयों दृष्ट इति भावः ।

तयथैतान्यमुष्मादाकाशात्समृत्थाय परं ज्योतिरुपसंपय स्वेन रूपेणाभिनिष्पयन्त एवमेवेष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समृत्थाय परं ज्योतिरुपसंपय स्वेन रूपेणाभिनिष्पयते ॥ २ ॥

अत्र व्यासार्थेस्तु वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं नाम स्वकार्यकर-णायोध्वंदेशेऽभिवृद्धिः । परशब्दो वाय्वादीनां कारणावस्थावाची । ज्योति:शब्द्रु कारणानां कार्योत्पाद्नद्वारेण तद्भिव्यक्तिहेतुतया प्रयु-क्तम् । वाय्वादीनि च कारणद्रव्यमुपगम्य कार्यावस्थां हित्वा कार-णसहशेन रूपेण विशिष्टानि भवन्ति । वायुर्द्धावहपवहादिरूपेण सप्त-विधत्वं हित्वा वायुत्वमात्रेणाव।तिष्ठते । विद्युत्तु विद्युत्त्वं च हित्वा तेज-स्त्वेन । अभ्रस्तनयित्नू चाभ्रत्वादिप्रहाणेन स्वकारणभूतरूपेण । एवं जीवोऽपि मार्गविशेषेण देशविशेषविशिष्टं परं बह्म प्राप्य संसार्यवस्था-प्रहाणेन परमात्मतुल्यक्षपेणाऽऽविभवतीत्येवमर्थे सत्येव दृष्टान्तदार्धा-न्तिकवाक्यसामऋस्यं भवतीति वर्णितम्। इदं च वाक्यं फलपादे चिन्ति-तम्। स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति देवादिरूपबत्साध्येन रूपेणाभिनिष्प-त्तिरुच्यतेऽभिनिष्पत्तिशब्दस्याऽऽगन्तुकधर्मोत्पत्तिपरत्वात् । स्वशब्दः स्वातमीयवचनः । आगन्तुकस्यापि रूपस्याऽऽत्मीयत्वात्स्वेन रूपेणेत्युप-पद्यते । न तु स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्यत्र स्वशब्दस्याऽऽत्मार्थकत्वं वा निष्पत्तिशब्द्स्याऽऽविभावार्थकत्वं वा युक्तं स्वरूपस्य नित्यत्वेन तत्याप्तेरपु-रुपार्थत्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'संपद्याऽऽविर्मावः स्वेन-शब्दात् ' [ ब्र॰सू॰ ४। ४ । १ ] परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वस्वस्त्रपस्यैवाऽऽ-विर्मावो न त्वागन्तुकात्मीयधर्मोत्पत्तिः । तथाहि सति स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत इत्यत्र स्वेनशब्द्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतः स्वशब्दो नाऽऽत्मीयव-

चनोऽपि त्वात्मवचन एव । आविर्मावेऽप्यभिनिष्पत्तिशब्दो हश्यते। युक्त्याऽयमर्थौ निष्पन्नः । इद्मेकं सुनिष्पन्नमित्यादिषु नन्वात्मनः पूर्वसिद्धत्वात्कथमस्य पुरुषार्थत्वं तत्राऽऽह—' मुक्तः प्रतिज्ञानात् ' [ब॰ सू॰ ४।४।२] स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्यस्य मुक्तो भवतीत्यर्थः । निवृत्ताविद्यातिरोधानो भवतीति यावत् । कथिन-द्मवसीयत इति चेत्पतिज्ञानात् । जागराद्यवस्थात्रयकलुपितं जीवं प्रस्तुत्य ' एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात् ' इति तस्यैवाशरीरत्वलक्षणं मुक्तत्वं 'मघवन्मर्त्यं वा इद्र शरी-रम् ' इत्यादिना चतुर्थेन पर्यायेण प्रतिपादयिष्यामीति प्रतिज्ञाना-न्निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य स्वेन रूपेण साध्यत्वमस्त्येवेति न पुरुषार्थत्व-हानिः। ननु निवृत्ततिरोधानस्याप्यात्मस्वरूपस्य कथंचित्साध्यत्वसंभ-वेऽपि तस्य न पुरुषार्थत्वे प्रमाणमस्तीत्यत्राऽऽह-'आत्मा प्रकरणात्' [ ब० सू० ४ । ४ । ३ ] य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिवाक्यसंदर्भप्रतिपा-द्यापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टतयाऽत्यन्तानुकूलत्वेन परमपुरुपार्थ-भूतोऽयमात्मा । अपहतपाप्मत्वादीनां कथं जीवसंबन्धित्वमित्यत्राऽऽह-प्रकरणादिति । अवस्थात्रयकलुपितं जीवं प्रकृत्यैवापहतपाप्मत्वा-दिगुणानामाम्नानादित्यर्थ इति स्थितम् । तथा स्वेन रूपेणाभिनिष्प-द्यत इत्यत्र स्वरूपमपहतपाप्मत्वमेव न तु विज्ञानमात्रत्वम् । मुक्तस्य बह्मसाम्यश्रवणेन ब्रह्मसाम्यापाद्करूपाविर्भावस्यैव वक्तव्यतया ब्रह्म-साम्यापादकं स्वेन ऋपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यमानं स्वरूपं किमिति विवक्षायामस्मिन्प्रकरणेऽपहतपाप्मत्वादिगुणानामेवोपन्यासात्सत्यसंक-ल्पत्वकार्यजक्षणादिभ्यश्च ब्रह्मसंबन्धिनाऽपहतपाप्मत्वादिगुणलक्षणेन रूपेणाऽऽविभवतीति जैमिनिराचार्यो मन्यत इति 'बाह्मेण जैमिनि-रुपन्यासादिभ्यः ' [ ब० सू० ४ । ४ । ५ ] इति जैमिनिमतमु-पन्यस्य 'प्रज्ञानघन एव ' [बृ०४। ५। १३] विज्ञानघन एव ' [ बृ० २। ४। १२ ] इति ज्ञानैकरसत्वाम्नानेन निर्धर्मकत्वप्रतिपादना-ज्ज्ञानमात्रस्वरूपेणाऽऽविर्भवतीति। 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौ-डुलोमि: ' [ ब्र० सू० ४ । ४ । ६ ] इत्यौडुलोमिमतमुपन्यस्य ' एवम-प्युपन्यासात्पूर्वभावाद्विरोधं बाद्रायणः ' [ ब० स्० ४।४।७] इति स्वसिद्धान्तमाविष्क्वतवांस्तस्य चायमर्थः-एवमपि विज्ञानघनत्वेऽ-प्यपहतपाष्मत्वाद्यपन्यासेन 'बाह्मण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ' इति पूर्वसूत्रोक्तबह्मरूपस्यापि सद्भावात्सैन्धवघनस्य कृत्स्नस्य रसनेन्द्रियाः

वगतरसघनत्वस्य चक्षुराद्यवगतरूपकाठिन्यादेश्वाबिरोधवन्मानान्तरावगतवाह्मरूपस्य च मानान्तरावगतविज्ञानघनत्वस्य चाविरोध इति
बाद्रायण आचार्यो मन्यते । विज्ञानघन एवेत्येवकारस्य स्वप्रकाशत्वाव्याप्तांशनिषेधमात्रपरत्वादिति स्थितम् । यत्परैरुक्तं शरीरात्समुत्थाय
शरीर आत्माभिमानं हित्वा स्वेन परमात्मरूपेण साक्षात्कृत्य परं
ज्योतिर्भवति परमात्मा मवतीत्यर्थः । न तु शरीरादुत्क्रमणं देशान्तरगमनं वेति तद्सत् । अपदार्थत्वात् । न हि शरीरात्समुत्थायेत्यस्य
शरीर आत्माभिमानं हित्वेत्यर्थो मवति । स्वरूपसाक्षात्कारलक्षणस्वरूपाभिनिष्पत्त्यनन्तरभाविनः परज्योतिर्भावस्य च परं ज्योतिरूपसंपद्येति
पूर्वकालतया निर्देशो न युक्तः । न हि सर्पात्समुत्थाय रज्जुमुपसंपद्येति
पूर्वकालतया निर्देशो न युक्तः । न हि सर्पात्समुत्थाय रज्जुमुपसंपद्येति
च प्रयोगो दृष्टचरः । वाय्वभादिदृष्टान्तवैरूप्यं च स्पष्टमेव । किंच
निर्विशेषबद्धमावोऽत्र परं ज्योतिरूपसंपद्येत्यनेन विवक्षितश्चेत्सपुत्तिदृशोद्घाटितस्य विशेपविज्ञानामावप्रयुक्तविनष्टप्रायत्वद्रोषस्यापरिद्वततया
तद्दोषपरिहाराय मुक्त्यवस्थोपदेशोऽसंगतः स्यादित्यास्तां तावत् ॥ २॥

## स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति ।

स उपसंपदनीय उत्तमः पुरुष इत्यर्थः । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः '[गी० १५। १७] इति भगवत एवोत्तमपुरुषत्वेनोपसंपदनकर्तर्युत्तमपुरुषत्वस्य बाधितत्वात् । स तत्र पर्येतीत्युत्तरवाक्यस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गाञ्च । स उप-संपत्ता तत्र परमात्मिन पर्येति तं परितोऽनुभवति । यद्वाऽनुसंचरती-त्यर्थः 'कामरूष्यनुसंचरन्यत्र यत्र धाता गच्छति ' इति श्रुत्यन्तरात् ।

जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा।

यथेष्टं भोगानवाप्रोतीत्यर्थः ।

#### नोपजनश स्मरन्निदश शरीरम् ।

स्त्रीपुंसयोरन्योन्थोपगमेन जातमित्युपजनत्वं शरीरस्य तेन चा-पुरुषार्थत्वमुच्यते । अथ वोपजनं जनानां बन्धुजनानां समीपे शयितं कुणपमित्यर्थः । यद्यपि मुक्तः सर्वज्ञत्वात्त्यक्तमपि शरीरमनुभवत्येव तथाऽप्यबद्धात्मकतया दुःखरूपत्वेनानुभूतं शरीरं न मुक्तिदृशायां तथाऽ-नुभवतीत्यर्थः । आत्मनोऽशरीरस्वभावत्वे प्राक्शरीरसंबन्धः किंनिब-न्धन इत्यन्नाऽऽह— स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमे । वायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३॥

यथा, आचरणे शकटे प्रयोग्यो युग्योऽश्वो बलीवदीं वा पाशेन युक्तों मवत्येवमेवायं प्राणः प्राणसहचारी प्रत्यगात्मा संसारदशायां कर्मपाश-वशेन युक्तो भवति । अनेन युग्यशकटट्ट्टान्तेन देहात्मनोर्व्यतिरेको हढीकृतो भवति ॥ ३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः ।

आकाशं प्रकाशमालोकादि । अथ वा प्रकाश्यमानत्वादाकाशं रूपं ततश्रायथं:—यत्र यस्मिन्नुपकरणत्वेनानुविषण्णं निबद्धं चक्षुराकाशः मालोकं रूपं वा प्रकाशयतीति शेषः । यद्वा, आकाशं रूपादिप्रकाशः कमित्यर्थः । स चाक्षुषः । चक्षुरुपकरणकः पुरुष आत्मेत्यर्थः । चक्षुरुपकरणकाः पुरुष आत्मेत्यर्थः । चक्षुरुपकरणकाः पुरुष आत्मेत्यर्थः । चक्षुरुपकरणकामुद्धिश्य पुरुपशब्देनाऽऽत्मत्वं विधीयते चक्षुरुतु तद्दर्शनाय करणमात्रम् । ततश्च चक्षुरादीनां रूपादीनामात्मनश्च करणत्वज्ञेयत्वज्ञातृ-त्वप्रदर्शनमुखेन शरीरेन्द्रियेभ्यो व्यतिरेक उपपादितो भवति ।

अथ यो वेदेदं जिघाणीति स आत्मा गन्धाय प्राणम्।

गन्धग्रहणकरणं घाणं ज्ञाता त्वात्मेत्यर्थः । अनेन घाणेन्द्रियव्यति-रेक उक्तो भवति ।

> अथ यो वेदेदमभिन्याहराणीति स आत्माऽ-भिन्याहाराय वागथ यो वेदेद शृण-वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः । सकलेन्द्रियविषयमननसाधनत्वान्मनो दिव्यं चक्षुरुच्यते । शिष्टं स्पष्टम् ।

स वा एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसेतान्का-मान्पश्यन्समते य एते ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥ स एष उक्तरीत्या शरीरेन्द्रियग्रामविलक्षण आत्मा विधूतकर्मनि-मित्तशरीरेन्द्रियः पुरुषो मनःशब्दाभिहितेन दिव्येन स्वामाविकेन चक्षुषा ज्ञानेन पूर्वोक्तबह्मलोकशब्दितदृहराकाशनिष्ठान्सर्वान्कामान-नुभवन्मोद्दत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मातेपा सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः।

एताबृशात्मस्वरूपस्य मघवत उपिदृष्टत्वाद्देवाः सर्वे मघवत एतमा-त्मानमुपश्चत्य तमेवोपासते । अतस्तेषां सर्वलोकसर्वकामावाप्त्युपलाक्ष-तबह्मानुभवो भवति । असुराणां तु न तथेति भावः । अद्यत्वेऽपि तमु-पासीनानां तत्प्राप्तिर्भवतीत्पाह—

> सर्वा श्र्य लोकानाभोति सर्वा श्र्य कामा-न्यस्तमात्मानमनुविच विजानाति ।

अद्यत्वेऽपि मनुष्याणामपि तमात्मानं श्रुत्वोपासीनानां सर्वलोकसर्व-कामावाप्तिर्भवतीत्पर्थः । अत्र किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह—

> इति ह प्रजापितरुवाच प्रजापितरुवाच ॥ ६ ॥ इति च्छान्दोग्योपिनषयष्टमप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अत्र प्रत्यगात्मविद्याया बद्धाविद्याङ्गत्वेनाङ्गीभूतबद्धाविद्याफलमेव
तद्झभूतप्रत्यगात्मविद्यायां स्तृत्यर्थं निर्दिश्यत इति द्रष्टव्यम् । उक्तं च
भगवता भाष्यकृता—प्रजापितवाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्यविज्ञानं दृहरविद्योपयोगितयोक्तं, बद्धा प्रेप्सोहिं जीवात्मनः स्वस्वरूपं च
ज्ञातव्यमेव, स्वयमपि कल्याणगुण एव सन्ननविधकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं परं बद्धानुभविष्यतीति बद्धोपासनफलान्तर्गतत्वात् 'सर्वाश्थ लोकानाप्नोति सर्वाश्थ कामान् ' इति प्रजापतिवाक्ये कीर्त्यसानं फलं दृहरविद्याफलमेवेति । ननु प्रजापितिविद्याया दृहरविद्याङ्गत्वे दृहरबद्धाविद्याधिकृतायैवोपदेष्टव्या स्यादुपकोशलविद्याङ्गभूताग्निविद्यावत् । प्रकृते च दृहरबद्धाविद्याविधुरायेन्द्रायो-

पदिश्यमानायाः प्रत्यगात्मविषयकप्रजापतिविद्यायाः कथं विद्यान्तरशेष-त्वमिति चेन्न । प्रजापतिवाक्यस्य ' एष संप्रसादः ' [ छा० ८ । १२ । ३ ] इति दहरविद्यावाक्यान्तर्गतसंप्रसाद्शब्दार्थशोधनार्थं प्रवृत्ततया तदेकवाक्यत्वेन तादार्थ्ये सिद्ध इन्द्रस्यापि पश्चाहहरविद्योपदिष्टेत्येवाव-गन्तव्यत्वेनादोषात् । ननु प्रजापतिविद्यायाः प्रकरणाद्वहरविद्याशेषत्वे सर्वब्रह्मविद्याशेषत्वं न स्यात् । विद्यान्तरशेषत्वे प्रमाणाभावात् । न चेष्टापत्तिः। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति बाह्यन्ति च ' बि० सू० ४। १।३] इत्यत्र प्रत्यगात्मनः परमात्मात्मकत्वेनानुसंधानस्योक्तत्वात्। 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रक्षश्च '[ ब० सू० १ । ४ । ६ ] इति सूत्र उपास्यस्वरूपवदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वोक्तेः । गुणोप-संहारपादे ' आत्मेति तूपगच्छन्ति ' [ ब० सू० ४ । १ । ३ ] इत्यधि-करणसिद्धं जीवोपास्यत्वमङ्गीकृत्य किं कर्तृत्वादिविशिष्टं सांसारिकस्व-रूपमनुसंधेयमुत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिलक्षणः सांसारिक-रूपव्यतिरेको वेति विषये कर्तृत्वादिविशिष्टमेव रूपमनुसंधेयं, शरीरे वर्तमानस्योपासितुरात्मनस्तथामावावित्येके मन्यन्त इति ' एक आत्मनः शरीरे मावात् '[३।३। ५३] इति सूत्रेण पूर्वपक्षं कृत्वा प्रजापति-वाक्योदितापहतपाष्मत्वादिलक्षणः सांसारिकरूपव्यतिरेक एवानुसंधेयः। तथोपासने सत्येव 'तत्क्रतुन्यायेन ताहशात्मस्वरूपफलपाप्तेर्भावित्वा-दिति । 'व्यतिरेकस्तद्भाव(वा)भावित्वात् ' [व॰ सू० ३ । ३। ५४ ] इति सूत्रेण सिद्धान्तितत्वादिति चेन्न यथा विद्याविशेषप्रकर-णश्रुतानां सत्यत्वज्ञानत्वाविस्वरूपनिरूपकधर्माणाम् 'आनन्दाद्यः प्रधानस्य ' [ ब्र० सू० ३। ३। ११ ] इत्यधिकरणोक्तन्यायेन सर्वब्रह्म-विद्यापेक्षितवस्यस्व स्वप्यतिप च्युपयोगितया सामर्थ्य रूपा छिङ्गात्यकरणम-ङ्गेन सर्वब्रह्मविद्यासाधारण्यमाश्रीयते । यथा वा 'तमेतं वेदानुवचनेन बाह्मणा विविदिपन्ति ' [बृ०४।४।२२] इति विद्याविशेषप्रक-रणश्रुतानां वेदानुवचनादीनां सर्वविद्यापेक्षितचित्तनैर्मल्योपयोगित्वल-क्षणसामर्थ्यस्वपलिङ्गवशेन सर्वविद्यासाधारण्यमेवामिहापि ब्रह्मपाप्तिपूर्व-कापहतपाष्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टस्वात्माविर्भावलक्षणमोक्षरूपफलस्य तत्कतुन्यायेन ताइशस्वात्मोपासनसाध्यत्वेन प्रजापतिवाक्योदितप्रत्यगा-त्मविद्यायाः सर्वब्रह्मविद्याङ्गत्वसिद्धेः । दहरविद्यायाः परमात्मपरत्वं च दृहराधिकरणे स्थितम् । तस्मिश्चाधिकरणे—'दृहर उत्तरेभ्यः ' [ ब०

सू० १। ३। १४ ]। 'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ' [ ब० सू० १।३।१५ ]। 'धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ' [ ब० सू० १।३।१६] 'प्रसिद्धेश्च' [ब्न० सू०१।३।१७]। अल्पश्चते-रिति चेत्तदुक्तम् ' [ब० सू० १। ३। २१] 'इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् '[ब० सू० १। ३। १८]। 'अन्यार्थश्च परामर्शः ' ब॰ सू॰ १।३।२०] 'उत्तराचेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ' [ब॰ सू॰ १। ३।१९] 'अनुकृतेस्तस्य च ' [ ब० सू०१।३।२२] 'अपि च स्मर्थते ' [ ब० सू० १ । ३ । २३ ] इति दश सूत्राणि । तत्राऽऽद्यानि सप्त सूत्राणि स्वावसर एव व्याख्यातानि । 'उत्तराचेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' 'अनुकृतेस्तस्य च ' 'अपि च स्मर्थते ' इति त्रीणि सूत्राण्यव्या-ख्यातानि व्याख्यास्यन्ते—उत्तरात्प्रजापतिवाक्याज्ञीवस्याप्यपहतपाप्य-त्वादिगुणयोगावसायाद्पहतपाष्मत्वादिगुणैर्वहराकाशः परमात्मेति न शक्यं निर्णेतुमिति चेत्तत्राऽऽह-आविर्भूतस्वरूपस्त्वित । पूर्वमन्तिरो-हितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्वस्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धः शरीरात्समु-त्थितः परं ज्योतिरूपसंपन्न आविर्भूतस्वरूपः सन्नपहतपाप्मत्वादिगु-णविशिष्टस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽभिधीयते । दृहरवाक्ये त्वतिरोहितस्वभा-वापहतपाप्मत्वादिविशिष्ट एव दृहराकाशः प्रतीयते । आर्विभूतस्वरूप-स्यापि जीवस्यासंभवनीयाः सेतुत्वविधरणत्वाद्यः सत्यशब्द्निर्वचनाव-गतं चेतनाचेतनयोर्नियन्तृत्वं च दृहराकाशस्य परब्रह्मतां साधयन्ति, सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वाद्यो न मुक्तानां नित्यमुक्तानां वा संमवन्तीति 'जगद्यापारवर्जम्' [ ब० सू० ४ । ४ । १७ ] इत्यत्र स्थितम् । अत एव नित्यानां नित्याविर्भूतापहतपाष्मत्वादिगुणाष्टकतया तेष्वतिप्रसक्तस्य नित्याविभूतापहतपाप्मत्वादिमत्त्वस्य कथं बह्मलिङ्गत्वमिति शङ्काऽपि निरस्ता सेतुत्वादीनां तद्संभावितधर्माणामपि अवणात् । ननु ' य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' [ छा०८।७। ४ ] इति प्रजापति-विद्यागतवाक्यान्यपि बह्मपराण्येव भवन्तु वाक्यत्रयेऽपि ' एतद्मृतम-भयमेतद्वह्म ' [ छा० ८। ७। ४ ] इति श्रवणात्, अक्षिवाक्य उपको-शलविद्योपास्यप्रत्यभिज्ञानात्, 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति ' [ छा०८। ८।१] इति वाक्येऽपि स्वाप्तपदार्थस्रष्टृत्वेन महीयमाः नस्य परमात्मन एव प्रतिपादनसंभवात, सुपुप्तिपर्यायेऽपि यत्र यस्मि-न्नाधारे समस्तः सुप्तो भवतीति सुपुष्त्याधारब्रह्मपरत्वोपपत्तेरिति चेदु-

च्यते—स्वप्रपर्याये ' झन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव मवत्यपि रोदितीव '[ छा० ८ । १० । ४ ] इतीन्द्रेण तस्य हन्यमानत्वद्राच्य-माणत्वबन्धुजनमरणाद्यप्रियद्रष्ट्रत्वरोदितृत्वादिप्रतिमासतो दुष्टत्वस्यो-पन्यासात, सुपुतिसंबनध्यात्मोपदेशानन्तरं ' नाह खल्वयमेवं संप्रत्या-त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि मूतानि विनाशमेवापीतो भवति '[ छा० ८।११। २] इति तस्य विशेषज्ञानरहिततया विनष्टपा-यत्वस्योक्तत्वाद्भयत्वामृतत्वादीनां च मुक्त्यवस्थाभाविरूपापेक्षयाऽप्यु-पपत्तेर्जीवविषयत्वमेव द्वितीयतृतीयपर्याययोः । एवं तयोः स्वप्नसुषु-प्त्यवस्थावज्ञीवपरत्वे स्थिते प्रथमपर्यायस्य जागरावस्थावज्ञीवविषय-त्वमेवोपपद्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' छा० ८ । ७ । ४ ] इत्यस्य दर्शनलिङ्गाद्क्षिणि संनिहितोऽनुमीयत इत्यर्थकत्वेन जागराव-स्थाविपयत्वस्यैवोषपन्नत्वात् । ततश्च प्रजापतिवाक्ये जीवः संसारद्शा-यागनृतितरोहितापहतपाप्मत्वादिकः स मुक्तिदशायां साधनाधीनत-दाविर्भावः प्रतिपाद्यते । दृहराकाशे श्रूयमाणं त्वपहतपाप्मत्वादिकं नित्याविभूतमेव याद्यं नित्याविभूतस्य ग्रहणसंभवें तिरोहितत्वेनास-त्पायस्य साधनाधीनाविर्मावस्य ग्रहणायोगात् । ननु स्यादेवं यदि बह्मणो नित्याविर्भूतापहतपाष्मत्वादिमत्त्वं जीवस्यातथात्वं च प्रमाण-सिद्धं स्यात् । तदा दहराकाशे श्रुयमाणमपहतपाष्मत्वादिकं ब्रह्मगतं नित्याविभूतमेव याद्यमिति शक्यते वक्तं न च तद्स्तीति शङ्कमानं प्रत्याह-' अनुकृतेस्तस्य च ' [ब० सु० १ । ३ । २२ ] । अनुकृतिरनुकारः साम्यं तस्य परब्रह्मण उपासनया तद्नुकारो हि जीवस्य श्रूयते—'तदा विद्वान्पुण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ' [ मु० ३ । १ । ३ ] इति। 'अपि च स्मर्यते ' [ ब० सू० १। ३। २३ ]

इदं ज्ञानमुपाश्चित्य मम साधर्म्यमागताः [ गी० १४। २ ] इति।

ततश्च तदुपासनासिद्धमेतस्यैश्वर्यम् । तस्य तु नान्योपासनसिद्धमपि तु नित्याविर्भूतम् । ततश्च दहरवाक्ये श्रूयमाणमपहतपाप्मत्वादिकं ब्राह्म-मेवेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ६ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य द्वाद्शः खण्डः ॥ १२ ॥

#### श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छचामं प्रपद्ये ।

एते च मन्त्रा विद्याङ्गभूता विद्वान्त्रिर्जप्याः । परमात्मनो हि त्रिवि-धमुपासनमुक्तम् । 'उपासात्रैविध्यात् ' [ ब० सू०१।१।३१ ] इत्यत्र चिच्छबलतयाऽचिच्छबलतया स्वरूपेण च, तत्र स्वरूपेणानुसं-धाने ज्ञानादिगुणवद्दिच्यविग्रहयोगिताऽप्यनुसंधेया । तत्सिद्ध्यर्थमेव हि पुण्डरीकाक्षमपाकृतं वपुरतिदिश्यते 'स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये । स एकः' [ तै०२।८।१ ] इति । तत्र स यश्चायं पुरुष इत्यानन्दमयमनूद्य यश्चासावादित्य इति विग्रहातिदेश इति व्यासार्थेरुपासात्रैविध्यादिश्य-त्रोक्तम् । वेदार्थसंग्रहे मगवता भाष्यकृता 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषः ' [ छा० १। ६। ६ ] ' सर्वे निमेषा जिज्ञरे विद्युतः पुरुषा-द्धि ' [ ना० १। ८ ] विद्युद्वर्णात्पुरुषादित्यर्थः। 'नीलतोयद्मध्यस्था विद्युहे खेव मास्वरा ' [ना० ११। १२] मध्यस्थनी हतोयदा विद्युहे खेव सेयं दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तिनी वह्निशिखा स्वान्तर्निहितनील-तोयदाभपरमात्मस्वरूपा स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्यदिव भातीत्यर्थ इत्युक्तम् । अतो नीलविशहवैशिष्टचं सिद्धम् । अत एव 'श्यामा एक-क्रपा भवन्त्येवमेव हि प्रजापतिः समृद्ध्यै ' इति प्रजापतिशन्दितस्य भगवतः श्यामरूपत्वमुक्तं तस्माच्छ्याम इति विग्रहविशिष्टस्वरूपमुच्यते। ततश्च रयामादिति ल्यब्लोपे पश्चमी । स्यामविग्रहविशिष्टं स्वरूपं प्रपद्य स्वरूपमुपास्य शबलं चिद्चिद्विशिष्टं प्रपद्य उपासे । शबलमुपास्य इयाममुपासे । ततश्च निरन्तरं त्रैविध्येनोपास इत्यर्थः ।

> अश्व इव रोमाणि विध्य पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्ममुच्य धूत्वा शरीरमळतं ळतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति॥१॥

इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमप्रपाठकस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अश्वो रोमाणीव स्वयं पापं विधूय विधूयेत्यनेन पापत्याग उच्यते । राहुमुखप्रमुक्तश्चन्द्र इव शरीराद्विमुक्तोऽक्रतं नित्यं ब्रह्मलोकं कृतात्मा

कृतार्थात्मा सन्नभिसंभवामि प्राप्तवानीत्यर्थः । अभिसंभवामीत्यिमसंभ-वामीतीति द्विरुक्तिः खण्डसमाप्त्यर्था ॥ १ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य त्रयोद्शः खण्डः ॥ १३ ॥

## आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्वस्न तदमृतश् स आत्मा।

अत्र 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यपि पाठान्तरं दृष्ट-व्यम् । उभयत्राप्ययमर्थः — श्रुतिष्वाकाश इति प्रसिद्धो नामरूपयो-निर्वहिता व्याकर्ता यत्, आकाशशब्दितं विधेयब्रह्माभिपायेण नपुंसक-त्वम् । ते नामरूपे अन्तरा मध्ये वर्तमानं ताभ्यामस्पृष्टमित्यर्थः । ब्रह्मा-मृतादिशब्दानां पूर्ववदेवार्थः । इदं च वाक्यं समन्वयाध्याये चिन्तितम् । तत्र 'आकाशो ह वै नामक्षपयोर्निर्वहिता' इति नामक्षपवोदृत्वश्रव-णात्, नामरूपवोद्दृत्वस्य परमात्मनि 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छा० ६।३।२] इति जीवद्वारकतयैवोपपाद्यतया नामरूपवोहृत्वस्य जीव एव स्वरसत्वात् । 'एप संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्स-मुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' छा० टाइ।४] इति वाक्यप्रतिपाद्यस्य 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यद्न्तरा' इति वाक्ये प्रत्यभिज्ञानात्, पूर्वं निरूढनामरूप एव पश्चाद्विमुक्त इह प्रतिपाद्यते, आकाशशब्दस्यापि यौगिक्या वृत्त्या मुक्तात्मनि संभवादित्येवं पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' [ब० स्० १।३।४१] आकाशः परं ब्रह्म, अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशान्नामरूपयोर्निर्वहितेति जीवापेक्षयाऽर्थान्तरत्वस्य भेदकधर्मस्य व्यपदेशात् । न हि नितरां वोद्दृत्वं निर्वोद्दृत्वं रूढ्या निर्वोद्दृशब्द्स्य कर्तृत्वाभिविधायित्वात्, ते यद्न्तरेति नामरूपास्पृष्टत्वकथनाच, नामरूपास्पृष्टत्वे सति नामरूपक-र्तृत्वस्य बद्धे मुक्ते वाऽसंभवात् । मुक्तस्यापि 'जगद्यापारवर्जम्' [ब॰ स्० ४।४।१७] इति जगद्यापारराहित्यस्य प्रतिपादितत्वात् । आदिश-ब्देनामृतत्वाभयत्वादीनां संग्रहः । ननु प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वव्यपदेशा-दिति न वक्तं युक्तम्। शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा परमात्मा परं बह्मेति च व्यपिद्रयते तत्राऽऽह—'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योभेंदेन' [ ब०सू०१।३।४२ ]

वाजसनेयके—'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ' [बृ०४।३।७] इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनः सुषुप्तावुत्कान्तौ च 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाद्यं किंचन वेद् नाऽऽन्तरम्' [बृ०४।३।२१] इति 'प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति' [बृ० ४।३।३५] इति प्राज्ञेन परिष्वक्तान्वारोहौ नोषपद्येयातां न द्यमेद् तौ संभवतः । 'पत्यादिशब्देभ्यः ' [ब०स्०१।३। ४३] 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' [बृ० ४।४।२२] इति प्रत्यगात्मा संभावितपतित्वादिधर्माणां श्रवणान्नायं मुक्तात्मेति स्थितं प्रकृतमनुसरामः ।

#### प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपये ।

प्रजापतेः परमात्मनः समामास्थानं वेश्म प्रपद्ये। 'प्रभुविमितः हिरण्मयम् ' [छा०८।५।३] इति दहरविद्यायां निर्दिष्टं वेश्म प्रपद्य इत्यर्थः।
न चात्र प्रजापतिशब्दः कार्यहिरण्यगर्भविषयकः 'न च कार्ये अत्रत्यिनसंधिः ' [त्र० सू० ४।३।१४] इति सूत्रकृतैव निरस्तत्वात्। भाष्यकृता
च न चायं प्रत्यिभसंधिः कार्ये हिरण्यगर्भेऽपि तु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि
'यशोऽहं भवामि बाह्मणानाम् ' इत्येतस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमोकपूर्वकसर्वात्मभावाभिसंधानात् 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र
इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' [ छा० ८।१३।१ ] इत्यभिसंभाव्यबह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्,
सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणादिति मापितम्।

#### यशोऽहं भवामि बाह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् ।

अत्र यशःशब्देन यशःसाधनभूतात्मोच्यते बाह्मणादीनामात्माऽस्मी-त्यर्थः । अत्राहमितिशब्दः स्वान्तर्यामिपरमात्मपरः । ननु तव बाह्मणा-दीन्प्रति कथं यशःशब्दितमात्मत्वमित्यत्राऽऽह—

#### यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः।

अहं यशोरूपं परमात्मानमात्मतयाऽहंत्वेन प्राप्तवानस्मि साक्षात्क्व-तवानस्मि । अतः सोऽहं परमात्मरूपोऽहं यशसां जीवात्मनां यश आत्माऽस्मीत्यर्थः । श्वेतमदत्कमदत्कः श्वेतं लिन्दु माऽ-भिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥ १ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः॥ १४ ॥

श्वेतं शुक्कधातुम् । अद्रत्कं द्नतहीनं श्वेतम् । अत्र श्वेतशब्देन लक्षणया सत्त्वगुण उच्यते । तस्माद्रकं मक्षयितृ । चरमधातोः सत्त्वगुणतत्कार्यज्ञानादिश्मोषकत्वाद्भक्षकत्वम् । ताहशं चरमधातुं प्राप्य लिन्दु
स्त्रीलिङ्गमाऽभिगां न प्राप्नुयां चरमधातुतया योनिप्रवेशो मा मूदिति
जन्म मा मूदिति यावत् । लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगामिति द्विर्वचनं जप्यमन्त्रपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

तद्धेतद्वसा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः । एतद्वसाविज्ञानं ब्रह्मा हिरण्यगर्भः प्रजापतये कर्यपायेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । विद्याङ्गभूततया कर्मानुष्ठातव्यमित्येतत्प्रस्तौति— आचार्यकुलाद्देदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण ।

यथाविधानं विधिमनितक्रम्य गुरोः कर्मातिशेषेण कर्माविशष्टकालेन गुरुशुश्रूपानवरुद्धेन कालेनाधीत्येति योजना । व्यासार्थेस्तु पुरुषार्थाधिकरणेऽतिशेषेण निःशेषिमत्यर्थ इति व्याख्यातं तेपामयमाशयः—'ब्रह्मचारी वेद्मधीत्योपहृत्य गुरवेऽनुज्ञातो न्यायतो दारान्कुर्वीत' 'विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृतानुज्ञानस्य वा स्नानम्' इत्यादिस्मृत्यनुसारात् 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ' इत्यादिश्रुत्यनुसाराच गुरोर्यथाविधानमाचार्यस्य नियमनमनितल्रङ्घ्य कर्तव्यं कर्म, अतिशेषेण, अतिमर्याद्मित्यादावतेर्मर्यादाभावे वृत्तेर्द्शनाद्तिरर्थामावे वर्तते । ततश्चातिशेषणाशेषणाभिसमावृत्य निर्वत्येत्येवान्वयो न त्वतिशेषणत्यस्याधीत्येति पूर्वेणान्वयः । तस्य व्यवहितत्वान्निराक्ताङ्क्षत्वाच । न च 'गुरोः कर्मशेषेण जयेत् ' इति गौतमस्मृत्येकरूप्यात्कर्मातिशेषशन्दस्यापि कर्मातिशिष्टकाल्परत्वं वक्तव्यमिति वाच्यम् । शेषातिशेषशन्दस्यापि कर्मातिशिष्टकाल्परत्वं वक्तव्यमिति वाच्यम् । शेषातिशेषशन्दस्योभिन्नार्थत्वेन तत्प्रत्यभिज्ञानाभावादिति ।

अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः ।

अभिसमावृत्य समावर्तनं कृत्वा गुरुकुलान्निवृत्येत्यर्थः । न्यायतो दारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा गार्हस्थ्यविहितकर्मनिष्ठ इत्यर्थः । शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान इत्यत्र स्वाध्यायमिति नित्यकर्मणामप्युपलक्षणम् ।

धार्मिकान्विद्धत्।

पुत्रशिष्यादीन्धर्मे नियुञ्जानः।

आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्या-

हिश्सन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ।

अनात्मविषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृद्य शास्त्रीयहिंसाव्यतिरिक्तां हिंसामकुर्वाण इत्यर्थ: । न च 'अशुद्धिमिति चेन्न शब्दात्' [ब०स०२।१।२५]
इति सूत्रे क्रत्वर्थपशुहिंसाया हिंसात्वामावस्योक्तत्वाद्-यत्र तीर्थेभ्य इति
व्यर्थमिति वाच्यम् । 'न वा उ एतिन्ध्रयसे न रिष्यिसि 'इति मन्त्रलिङ्गात्तस्य हिंसात्वामावेऽपि गृहस्थानामवर्जनीयतुलस्याहरणादिहिंसाया हिंसाधात्वर्थसंभवेन तत्पर्युदासार्थमन्यत्र तीर्थेभ्य इत्यस्याऽऽवश्यकत्वादिति दृष्टव्यम् ।

स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमिसंप-यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

'आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ' [ ब० सू० ४ । १ । १२ ] इत्यत्र इद्मपवर्गसाधनमुपासनमेकस्मिश्लेवाहिन कार्यं शास्त्रार्थस्य तावतेव समाप्तत्वादिति पूर्वपक्षं कृत्वा , आप्रयाणादामरणाद्नुवर्तनीयमामरणं सर्वस्मिन्काले 'स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुपं बह्मलोकमभिसंपद्यते ' इत्यु-पासनस्य दृष्टत्वात् । अत आप्रयाणं कर्तव्यमिति स्थितम् । 'सह-कार्य-तरविधिः ' [ ब० सू० ३ । ४ । ४७ ] इत्यधिकरणे छान्दोग्ये 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे ' इत्यारम्य 'स खल्वेवं वर्तयन्याव-दायुपं बह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते ' इति बह्मविद्यो याव-दायुपं गृहस्थधभेण स्थितिदर्शनादाश्रमान्तरेषु न बह्मविद्याऽस्तीत्या-शङ्क्य सर्वेष्वाश्रमेषु विद्यायाः प्रमाणप्रतिपन्नत्वादृहस्थधभेणोपसंहार आश्रमान्तरधर्माणामप्युपलक्षणार्थं इति 'कृत्स्मभावात्तु गृहिणोपसं-हारः, [ ब० सू० ३ । ४ । ४८ ] इति सूत्रेण समर्थितम् । 'अनावृत्तिः शब्दाद्नावृत्तिः शब्दात् ' [ ब० सू० ४ । ४ । २२ ] इत्यत्र 'स

खल्वेवं वर्तयन्यावदायुपं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते ' इति शब्दानमुक्तस्य पुनः प्रकृतिवश्यतालक्षणावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । तत्र पुनरावृत्तौ हि न मुक्तेच्छा हेतुः, अनवधिकातिशयानन्द्रक्षपं ब्रह्मानुभवतः पुनरावृत्तीच्छाया असंभवात् । नापि भगवदिच्छा हेतुः, एत्छाभं महालाभं मन्वानस्य पुनस्तदावर्तनेच्छाया असंभवात् । नापि कर्मसं-वन्धो हेतुः, तस्य निःशेषनष्टत्वादिति भाष्ये प्रतिपादितम् । न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इतिद्विकृत्तिर्बह्मविद्यायाः साङ्गायाः परिसमाप्त्यर्था ॥ १ ॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्रक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्दियाणि च सर्वाणि।

अध्ययनजपादौ शान्तिपाठार्थोऽयं मन्त्रः । मदङ्गानि वागादिभिः सहाऽऽप्यायितानि भवन्त्वित्यर्थः ।

सर्वां बह्मोपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् ।

सर्वां ब्रह्मप्रतिपादिकामुपनिषदं प्रति ब्रह्मविषये च नास्तिक्यबुद्धिं मा कार्षमित्यर्थः।

मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

मा मां ब्रह्म निराकुर्यादनुगृह्णात्वित्यर्थः ।

अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।

ब्रह्मणश्च मम च परस्परिनराकरणं मा भूत । अनैकरस्यं मा भूयादैकरस्यमेव भूयात्।

तदात्मिन निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मिय सन्तु ते मिय सन्तु ॥ २ ॥ इति च्छान्दोग्योपनिषयष्टमप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

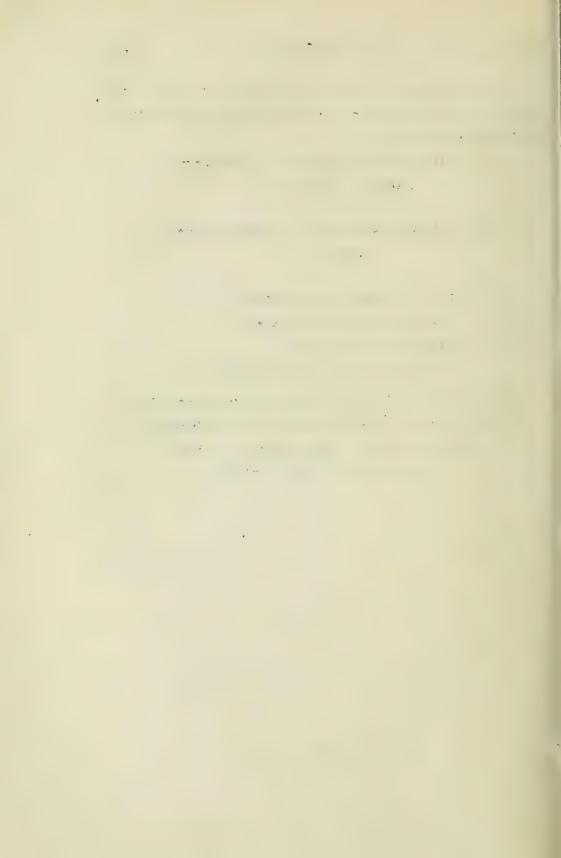
इति च्छान्दोग्योपनिषयप्टमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ८ ॥

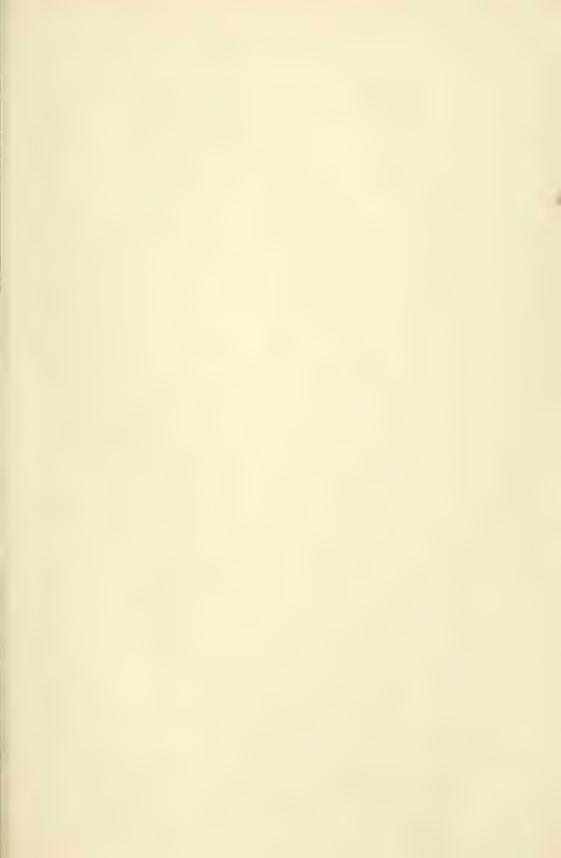
आत्मज्ञाननिरतस्य ये धर्माः शान्तिदान्त्याद्य उपनिपत्सु प्रसि-द्धास्ते सर्वे मि सन्त्वित्यर्थः । ते मि सन्तु ते मि सन्तिविति द्विरु-क्तिरुपनिषत्समाप्त्यर्था ॥ २ ॥

> इति च्छान्दोग्योपनिपत्प्रकाशिकायामप्टमप्रपाठकस्य पञ्चद्शः खण्डः ॥ १५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ८॥

क्षेमाय यः करुणया क्षितिनिर्जराणां भूमावज्रम्भयत भाष्यसुधामुदारः। वामागमाध्वगवदावद्तूलवातो रामानुजः स मुनिराद्गियतां मदुक्तिम् ॥ १ ॥ इति श्रीमत्ताताचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकस्य वात्स्यानन्तार्यसे-वासमधिगतशारीरकमीमांसाभाष्यहृद्यस्य परकालमुनिक्न-पालब्धपारमहंस्यस्य श्रीरङ्गरामानुजमुनेः कृतिषु च्छान्वोग्योपनिपत्प्रकाशिका समाप्ता ।







## अथ च्छान्दोग्योपनिपद्दिभागानां वर्णानु-कमणिका प्रारभ्यते।

| — खण्डविभागाद्यपदानि अध्यायार्द | ीिन   | खण्डविभागाद्यपदानि.   | अध्य        | ।ायादीनि. |     |
|---------------------------------|-------|-----------------------|-------------|-----------|-----|
| अ.                              | 3     | अथ खल्वेतयर्चा        |             | प र       | v   |
| अग्निर्हिकारो वायुः २२          |       | अथ जुहोति नम आ        |             |           |     |
| अभिष्टे पादं वक्तेति ४          | इ १   | त्याय                 |             | २२४       | 88  |
| अजा हिंकारोऽवयः २१०             |       | अथ जुहोति नमोऽग्र     |             | २२४       | 4   |
| अतो यान्यन्यानि १               | ३ ५   | अथ जुहोति नमो वा      |             | २२४       | 9   |
| अत्र यजमानःतस्मे रु-            | 3     | अथ तत् ऊर्ध्वः्       |             | 3 ? ?     | 8   |
| द्राः ् २२                      | 8 503 | अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ   |             | ५ २       | ६   |
| अत्र यजमानःतस्मे व-             | 3     | अथ य आत्मा स सेत्     | <b>नु</b> : | c 8       | 2 3 |
| सव: २२                          |       | अथ य इसे ग्रामे       |             | 430       | 3   |
| अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियं        |       | अथ य एतदेवं विद्वा    |             |           |     |
| वैश्वानरमुपास्ते पाद्रौ प       | ७ इ   | ग्निहोत्रं            |             | ५ २४      |     |
| अत्स्यन्नं पश्यसि वै-           |       | अथ य एतद्वं विद्वानस् |             | 1 1       |     |
| श्वानरमुपास्ते प्राण-           | - 1   | अथ य एषोऽन्तरिक्षी    |             | 3 0       | 4   |
| स्त्वेष ५१                      |       | अथ य एप संप्रसादः     |             | ८ ३       | 8   |
| अत्स्यन्ने पश्यांसेवै-          |       | अथ यच्चतुर्थममृतं     |             | 3 3       | 3   |
| श्वानरमुपास्ते बस्ति-           |       | अथ यत्तद्जायत         |             | 386       |     |
| स्त्वेष ५१                      | - 1   | अथ यत्तपो दानं        | • • •       | ३१७       | 8   |
| अत्हयस्रंमूर्धा त्वेष ५१        |       | अथ यत्तृतीयममृतं      |             | 3 6       | 3   |
| अत्स्यन्नं वैश्वानरमुपा         | 1 1   | अथ यत्पञ्चमं          |             | 3 90      | 8   |
| स्ते संदेहस्त्वेष ५१            |       | अथ यत्त्रथमास्तमिते   |             | २ ९       | 0   |
| अथ खलु य उद्गीथः स              |       | अथ यत्प्रथमोदिते      |             | २ ९       | 3   |
| प्रणवोस उद्गीथ                  |       | अथ यत्रैतत्पुरुषो     |             | ६८        | Ų,  |
|                                 |       | अथ यत्रैतद्वलिमानं    |             | ८६        | 8   |
| अथ खलु य उद्गीथः                |       | अथ यत्रैतदस्माच्छरी   |             | ८६        | ď   |
| इत्यसौ वा आदित्यः १             |       | अथ पत्रैतद्दाकाशमनु   | •           | - 10 - 1  |     |
| अथ खलु व्यानं १                 | ३ ३   | विषण्णं               | • • •       | ८१२       | ,   |
| अथ खलूद्गीथाक्षराणि १           | ३६    | अथ यत्रोपाकृते        |             |           |     |
| अथ खल्वमुमादित्यं २             | 3 3   | अथ यत्संप्रति मध्यंति | ्न<br>र-र   | २ ९       | 4   |
|                                 |       | अथ यत्सत्रायणमित्य    |             |           | 5   |
| अथ खल्वाशीः 🛒 १                 | ३। ८  | क्षते                 |             | 6 4       | २   |

| खण्डविभागाद्यपदानि. अध्यायाद   |                     |                        |
|--|---------------------|------------------------|
| अथ यदतः परो ३ १३   | ७ अथ या एता         | हृद्यस्य               |
| अथ यदनाशकायनमि-  | नाड्य: .            | ८ ६ १                  |
| त्याचक्षते ८   | ३ अथ यानि चतु       | श्चत्वारिं-            |
| अथ यदवोचं भुवः प्रपद्ये ३१५  | ६ शद्वर्षाणि        | इ१६ ३                  |
| अथ यद्वोचं मू: प्रपद्ये ३१९  | ५ अथ यान्यष्टाचत    |                        |
| अथ यद्वोचं स्वः प्रपद्ये ३ १९  | ७ पांणि .           |                        |
| अथ यद्श्वाति ३१५   | २ अथ यां चतुर्थीं   | जुहुयात् ५२२ १         |
| अथ यदाऽस्य वाङ्मनिस ६१५  | २ अथ यां तृतीयां    | जुहुयात्तां ५२१ १      |
| अथ यदि गन्धमाल्यलो-  | अथ यां द्वितीयां    |                        |
| ककामः ८ ः  | इ अथ यां पञ्चर्म    | जुहुयात्तांप २० १      |
| अथ यदि गीतवादितलो-   | अथ ये चास्येह       | जीवाः ८ ३ २            |
| ककामः ८  | ८ अथ येऽस्य द्रा    | क्षेणाः ३ २ १          |
| अथ यदि तस्याकर्ता ६ ११   |                     |                        |
| अथ यदिदमस्मिन्बह्मपुरे ८   | १ अथ येऽस्योदञ्च    |                        |
| अथ यदिभातृलोककामः ८  | ३ अथ येऽस्योध्व     | i: \$ 8 9<br>i: \$ 4 9 |
| अथ यदि महाजिगमिषेत् ५  | ४ अथ यो वेदेदं म    | न्वानीति ८१२ ५         |
| अथ यदि मातृलोककामः ८   | २ अथ योऽस्य द       | क्षिणः ६१३ २           |
| अथ यदि यजुष्टः ४ १५  | ५ अथ योऽस्य प्रत    | यङ् ३१३ ३              |
| अथ यदि संखिलोककामः ८   |                     | इ ३१३ ४                |
| अथ यदि सामतः ४ १५  | ६ अथ योऽस्योध्व     |                        |
| अथ यदि स्त्रीलोककामः ८   | ९ अथ सप्तविधस्य     | र २ ८ १                |
| अथ यदि स्वसृलोककामः ८  |                     | यां २ ९ ४              |
| अथ यदु चैवास्मिन् ४ १  | पुअथ ह एवायं        |                        |
| अथ यदूध्वेमपराह्णात् २ ९   | ७ अथ ह चक्षुः       | १ २ ४                  |
| अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात् २ ९   | ६ अथ ह प्राण उ      |                        |
| अथ यदेंतदृक्ष्णः १   | ४ पन्               |                        |
| अथ यदेतदादित्यस्य १ १  | ५ अथ ह प्राणा अ     | हं श्रेयासिप १ ६       |
| अथ यदेवैतदादित्यस्य १<br>अथ यद्यञ्गानलोककामः ८   | ६ अथ ह मनः          | १२६                    |
| अथ यद्यन्नपानलोककामः ८   | ७ अथ ह य एता        | नेवं पृश्विश्व         |
| अथ यद्यप्वेनानुत्क्वान्त-  | अथ ह वाचं           | १ २ ३                  |
| प्राणान् ८१  | ३ अथ ह शौनकं        | च कापेयं ४ ३ ५         |
| अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ८   | १ अथ ह श्रोत्रं     | १२५                    |
| अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत २२  | ४ अथ ह ह≈सा         | 8 8 8                  |
| अथ यांद्वेतीयममृतं ३   | १ अथ हाम्रयः        | 860 8                  |
| अथ यद्यन्नपानलोककामः ८ अथ यद्यप्येनानुत्कान्त- प्राणान् ७१ अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ८ अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते २२ अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत २२ अथ यद्दितीयममृतं ३ अथ यद्धसति ३१ | ३ अथ हेन्द्रोऽप्राप | यैव ८ ९ १              |
|  |                     |                        |

| खण्डविभागाद्यपदानि. अध    | यायादीनि. | खण्डविभागाद्यपदानि. अध्यायादीनि.   |
|---------------------------|-----------|--|
| अथ हैनमन्वाहार्य०         |           | असं वाव बलाद्भूयः ७ ९ १  |
| अथ हैनमाहवनीयः            | 8 83 8    | अन्यतरामेव वर्तनीं ४१६ ३   |
| अथ हैनमुद्गाता            |           | अपाने तृष्यति ५२१ २  |
| अथ हैनमृषमः               |           | अपांका गतिः १८५  |
| अथ हैनं गार्हपत्यः        |           |  |
| अथ हैनं प्रतिहर्ता        |           | अपाँ सोम्य पीयमानानां ६ ६ ३ अभिमन्थति स हिंकारः २१२ १  |
| अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद    | 8 88      | अभ्राणि संप्रुवन्ते २१५ १  |
| अथ हैनं यजमानः            | 8 88 8    | अभ्रं भ्रत्वा मेघो भवति ५१० ६  |
| अथ हैनं वागुवाच           | 4 8 8 =   | अमृतत्वं देवेभ्यः २२२ २  |
| अथ हैनं श्रोत्रमुवाच      | 4 8 88    | अयं वाव लोको हाउकार: ११३ १   |
| अथ होवाच जनं              |           | अयं वाव स योऽयमन्तः  |
| अथ होवाच बुडिलं           | ७१६ १     |  |
| अथ होवाच सत्ययज्ञं        | ५१३ १     | अयं वाव स योऽयमन्तर्हः   |
| अथ होवाचेन्द्रग्रुप्तं    | 4 88 8    | द्य आकाशः ३१२ ९  |
| अथ होवाचोद्दालकं          | 486 8     | अरिष्टं कोशं पपद्ये ३१५ ३  |
| अथात आत्मादेश एव          | 1         | अज्ञानापिपासे में सोम्य ६ ८ इ  |
| अथातः शौवः                | ११२ १     | अज्ञारीरो वायुरभ्रं ८१२ २<br>असी वा आदित्यः ३११  |
| अथाधिदैवतं                |           | अस्री वा आदि्त्यः ३ १ १  |
| अथाध्यातमं प्राणी वाव     | 1 1       | असौ वाव लोको गौतमाग्निः ५ १  |
| अथाध्यातमं य एवार्य       |           | अस्य यद्कां शाखां ६११ २  |
| अथाध्यात्मं वागेव         | 8 0 8     | अस्य लोकस्य का गतिः १ ९ १  |
| अथानु किमनुशिष्टः         | 0 3 8     | अस्य सोम्य महतः ६ ११ १   |
| अथानेनैव                  | 9 6       |  |
| अथाऽऽवृत्तेषु द्यौहिंकारः | २ २ २     | आकाशो वाव तेजसः ७१२ १  |
| अथैतयोः पथोः              | 480 6     | आकाशो वै नाम ८१४ १   |
| अथोताप्याहुः ्            | २१३       | आगाता ह वै १ २१४   |
| अधीहि भगव इति होप-        |           | आत्मानमन्तः १३१२   |
| ससाद                      | ७ १ १     | आपयिता ११७   |
| अनिरुक्तस्त्रयोदशः        | ??३ ३     | आदित्प्रज्ञस्य रत्सः ३१७ ७   |
| अन्तिरिक्षमेव             | १६३       | आदित्य द्वात हावाच १११   |
| अन्तरिक्षोद्रः कोशः       | ३१५ १     | आाद्त्य ऊकारः ११३ २  |
| अन्नमय हि सोम्य मनः       | ६ ५ ४     | आाद्त्यमथ वश्वद्व २२४१३  |
| " "                       | ६ ६ ५     | आदित्या बहा २१९ १  |
| अन्नम्शितं त्रेधा विधीयते | ६ ५ १     | आादारात द्यक्षर २१० २  |
| अन्नमिति होवाच            | 3 3 5 0   | आदित्प्रवस्य रेतसः ३१७ ७<br>आदित्प इति होवाच १११ ७<br>आदित्य ऊकारः ११३ २<br>आदित्यमथ वैश्वदेवं २२४१३<br>आदित्यो ब्रह्म ३१९ १<br>आदित्यो ब्रह्म ३१९ १<br>आदिति द्यक्षरं २१० २ |
|                           |           |  |

| खण्डविभागाद्यपदारि. उ               | अध्यायादीनि. | खण्डविभागाद्यपदानि. अध्यायादीनि   |
|-------------------------------------|--------------|---|
| आपो वावान्नाद्भय॰                   | ७१० १        | एवमेव प्रतिहर्ता ११०११  |
| आप्नोति हाऽऽदित्यस्य                | २१० ह        | एवमेवैष मघवन्निति   |
|                                     | -            | भूयोऽनुव्याख्यास्यामि   |
| इ. े                                |              | नो एवान्यज्ञैतस्माद्व-  |
| इति तु पञ्चम्या०                    | 4 9 5        | सापराणि ८११ ३   |
| इदमिति ह प्रतिजज्ञे                 | 8 88 3       | एवमेवैष मघ ० भूयोऽ-   |
| इदं वाव तज्ज्येष्ठाय                | 388          | नुव्याख्यास्यामि वसा-   |
| इमाः सोस्य नद्यः                    | ६१० १        |   |
| इयमवर्गाग्नः साम                    | १६१          | एवमेवैष संप्रसादः ८१२ ३   |
| , <b>उ</b> .                        |              | एवमेवोद्गातारं ११०१०  |
| उद्श्राव आत्मानमवेक्ष्य             | 1 1 .        | एवमेषां लोकानां ४१७ ट   |
| उदाने तृष्यति                       | ५ २३ इ       | एवं यथाऽर्मानं १ २ ८  |
| उद्गीथ इति ज्यक्षरं                 |              | एवं सोम्य ते ६ ७ ६  |
| उद्गृह्णाति तन्निधनं                |              | रप उ एव भामनीरेप ४१५ ४  |
|                                     | f   h        | एप उ एव वामनीरेष ४१५ ३  |
| उद्यन्हिंका्र उद्गितः               | २१४ १        | एप तु वा अतिवद्ति यः ७१६ १  |
| उपकोसलो ह वे                        | ४१० १        | एय म् आत्मा ३१४ ३   |
| उपमन्त्रयते स                       | २१३ १        | एष वै यजमानस्य २२४१५  |
| ₹.                                  |              | एप ह वा उद्कप्रवणः ४१७ ९  |
| ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि                 | A .          | एष ह वै यज्ञो योऽयं ४/१६/१<br>एपां भूतानां १/१/२  |
| ऋतुषु पञ्चविधं                      | २ ५ १        | एपां भूतानां ११२  |
| Ÿ.                                  |              | अा.   |
| एकविंशत्याऽऽदित्यं                  | 280 0        | आ।पर्यस्पर्वरमुख्य  |
| एतद्ध स्म वै तद्धिद्वानाह           | 1 1          | 41/41/4   |
| एतद्भ सम वै तद्विद्वाश्स            |              | ्रासीत १११<br>ओमित्येतदक्ष० १४१   |
| एतमु एवाहपुत्रमुवाच                 |              | अों इमदाइमों इ ११२ ५  |
| प्राणाः ११२वं                       |              | ॐ समस्तस्य खलु २ १  |
| एतमु एवाहपुत्रमुवाच<br>रभ्मी स्स्वं |              | औ.  |
| र्ध्मी १६२वं                        | १ ५ ३        | औषमन्यव कं ५१२ १  |
| प्रतिष्ठां में नेनिति               | २ १ ३        | क   |
| प्रतिश में पृह्यात                  | 110 5        | क्रमा क्रमार्क ११७  |
| एवमेव खल मोप्त                      | 200 3        | कल्यन्ते द्रारमा क्रतवः २ ५ ३   |
| एवमेव खल सोम्माक्स्म                | 9 5 5        | औपमन्यव कं ५१२ १<br>क.<br>कतमा कतमर्क् ११४<br>कल्पन्ते हास्मा ऋतवः २५२<br>कल्पन्ते हास्मै लोकाः २२३<br>का साम्रो गतिरिति १८४  |
| प्रवास वर्ष साम्यासस्य              | 5 6 5        | का मामो गतिरिति १८४   |
| द्वान लु तान्यनाः                   | कार्या र     | Aut and and and and the state of state |

| कुतस्तु खलु सोम्यैव र ६ २ २ तदेप श्लोको न पश्यो ७ २६ २ कि ते काममागायानीति १ ७ ९ तदेप श्लोको यदा ७ २ ० कि तदेप श्लोको याति २ २१ ३ विदेश तबहु स्यां ६ २ ३ तदेश तबहु स्यां ६ २ ३ तदेश तबहु स्यां ६ २ ३ तदेश तबहु स्यां ६ २ ३  |
|---|
| के ते काममागायानीति १ ७ ९ तदेष श्लोको यदा ५ २ ८ का तिहं पजमानस्य लोक तदेष श्लोको याति २२१ ३ इति ६ २३  |
| क्क तर्हि यजमानस्य छोक तद्देष श्लोको यानि २२१ ३<br>इति २२४ २ तद्देशत बहु स्यां ६ २ ३  |
| इति २२४ २ तद्रैक्षत बहु स्यां ६ २ ३   |
|   |
| ग्. तद्धैतत्सत्यकामो ५ ३  |
| गायत्री वा इद् सर्वं भूतं ३१२ १ तन्ह्रेतद्वह्मा प्रजापतय<br>गोअश्वमिह महिमा ७२४ २ आचार्यः ८१५ १   |
| गोअश्विमह महिमा ७ २४ २ आचार्यः ८१५ १  |
| न ,, ,,स्तद्धेत ३११ ४   |
| तद्धैतद्योर ३१७ ६   |
| यसुरव ब्रह्मण र १८ जतद्वीभये देवासरा ८ ७ २  |
| चसुर्वगात्मा १ ७ र्तहा इत्थं विदः ५१० १   |
| पञ्चहास्रकाम ५ १ विकार हर समाधिस्तरामाः ५,१० ए  |
| चित्तं वाव संकल्पाद्भूयः ७ ५ १ तद्य एवैतं ब्रह्म ८ ४ ३  |
| ज. तद्य एवैतावरं च एयं ८ ५ ४  |
| जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः ४ १ १ तद्यत्प्रथमममृतं ३ ६ १   |
|   |
|   |
| 1 21 (1(4) 41111 3 4 1  |
| त इह ट्याघो वा सिंहो वा६ ९ इतद्यंत्रैतत्सुप्तः समस्तः   |
| त एतदेव रूपमभि० ३ ६ २ विजानात्येप ८११ १   |
| ,, ,, ,, ३ ७ २ तद्यथा महापथ आततः ८ ६ २  |
| ,, ,, ३ ८ २ तद्यथा ठवणेन ४१७ ७  |
| गं, गं, गं, अविश्व निर्माणका के प्रतिस्थित के स्वाद्या के प्रतिस्था के स्वाद्या के प्रतिस्था के स्वाद्या के प्रतिस्था के स्वाद्या के स् |
| ं,, , , , , , , , , , , , , , , , , , ,   |
| तत्रोद्वातून् ११० टतद्यद्भक्तं प्रथम० ५१९ १   |
|   |
| तथेति ह सम्पविविद्याः १ ८ श्रतयद्गत ३१९ २   |
|   |
| तद् ह जानश्रतिः पौत्रा- तद्यक्षरत्तद्यादित्यमाभेता  |
| यणः ,, ४ १ ५ कृष्णं ३ ३ ३   |
| यणः १ १ ५ कृष्णं २ ३ ३ ३ तद्व हपर्शतानि ४ २ १ तद्यक्षः परं कृष्णं ३ ४ ३ तद्यक्षः कार्यसः ४ ३ ५ तद्यक्षः मध्ये क्षोभत् ३ ५ ३   |
| यणः ११ १ कृष्ण ११ २ तह्यक्षः परं कृष्णं ६ १ ३ तह्यक्षः प्रमुश्तानि ४ ३ ५ तह्यक्षः परं कृष्णं ६ ४ ३ तह्यक्षः निकः काषेयः ४ ३ ५ तह्यक्षः मध्ये क्षाभत् ३ ५ ३  |
| तदेतचतुष्पाद्वह्म ३१८ र तद्या० रोहितं ३ १ ४<br>तदेतचित्रभुनं ११६ तद्या० राहितं ३ १ ४<br>तदेव श्लोकः । शतं चैका  |
| तदेतिनम्थुनं १ १ ६ तद्या शुक्तं ३ २ ३   |
| यणः ४१ ५ कृष्णं ३३३<br>तदुहःपट्रातानि ४२ १ तद्यक्षः परं कृष्णं ३४३<br>तदुह शीनकः काषेयः ४३ ५ तद्यक्षः मध्ये क्षोभत् ३५३<br>तदेतचतुष्पाद्धद्वा ३१८ तद्यः रोहितं ३१४<br>तदेतन्मिथुनं ११६ तद्यः रोहितं ३१४<br>तदेप श्लोकः । शतं चैका   |
| तदेप श्लोकः । शतं चैका तमाग्रिरयुवाद ४६ २<br>च हृद्यस्य ८६ ६ तमुह परः प्रत्युवाच कम्बरे ४, १ ३  |

| खण्डविभागाद्यपदानि. अध्यायादीनि.              | . खण्डविभागाद्यपदानि.        | अध्यायादीनि.                          |
|---|------------------------------|---------------------------------------|
| तमु ह पर: प्रत्युवाचाह हा-                    | तं चेदेतस्मिन्वयसिप्राण      | T                                     |
| तमु ह पर: प्रत्युवाचाह हा-                    | ३ आदित्याः                   | इ १६ ६                                |
| तयोरन्यतरां मनसा ४१६                          | २ तं ० प्राणा रुद्राः        | ३१६ ४                                 |
| तस्मा आदित्याश्च २२४।                         | १६ तं ० प्राणा वसवः          | ३१६ २                                 |
| तस्मा उह द्दुस्ते ४ ३                         | टतं चेद्बूयुरस्मिश्चेदिदं    | c 8 8                                 |
| तस्माद्प्यद्येहाद्दान० ८८                     | प्तं चेद्बूयुर्यदिदमस्मिन्ब- |                                       |
| तस्मादाहुः सोष्यत्यसो ।                       | ह्मपुरे                      |                                       |
| द्येति ३१७                                    | प्तं जायोवाच                 | ११० ७                                 |
| तस्मादु हैवंविद्यद्यपि ५२४                    | र्रतं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद | 8 6 5                                 |
| तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा ८ ४              | ्रतिवाएत देवा                | ८१२, इ                                |
| तस्मिन्निमानि २ ९                             | र्वातर हरसमुपानपत्याम्यु-    |                                       |
| तस्मिन्नतस्मिन्नग्नौ देवा                     | वाद्                         | ४ ७ ३                                 |
| अन्नं ५ ७                                     | र्तं ह चिरं वसेत्या          | ५ ३ ७                                 |
| तस्मि॰ रेतो ५ ८                               | र्वेत १ ह प्रवाहणों          | 8 6 6                                 |
| तस्मिन्नतस्मिन्नग्रौ देवा                     | रतः हाभ्युवाद् रैकेदं        | 8 3 8                                 |
| वर्षं ५ ६                                     | त्र ह शिलकः                  | १८६                                   |
| _   | रतः हाङ्गिरा                 | 3 5 30                                |
| तस्मिश्र्द्धां ५ ४                            | २ त १ हैतमतिधन्वा            |                                       |
| तस्मिसोमं ५ ५                                 | र्तं होवाच किंगोत्रो नु      | 8 8 8                                 |
| तस्मिन्याव्रसंपातमुपित्वा ५१०                 | प्तर होवाच नैतद्बाह्म        |                                       |
| तस्मै श्वा श्वेतः ११२                         | ्रतः होवाच यथा सोम्य         |                                       |
| तस्य क मूल श्रस्यादन्यत्रा-<br>न्नादेवमेव ६ ८ | स्यैक                        | 8 9                                   |
| न्नाद्वमव ६८                                  | शतरहावाच यथा साम्य           | ह ७ ३                                 |
| तस्य॰द्भचोऽद्भिः ६ ८                          | ६ स्यैको                     | 71 '                                  |
| तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम ३१५                 | रतर हावाच य व सान्य-         | ६१२ २                                 |
| तस्य यथा कप्यासं १ ६                          |                              |                                       |
| तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य ६ १४                  | रता आप एकना                  | 9 7 0                                 |
| तस्य ये प्राञ्जो रहमयस्ता ३ १                 | रतानि वा एतानि यजू १-        | 3 2 2                                 |
| तस्यर्कच साम च १ ६                            | तानि॰सामान्येतं              | 3 3 3                                 |
| तस्य ह वा एतस्य हृद्-                         | श्तानि ह वा एतानि त्री-      | 2 2                                   |
| यस्य ३१३                                      | श्वान ह वा उतान श            | c 3 4                                 |
| तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो ५१८                   | श्रुतानि॰चित्तैकायनानि       | , ,                                   |
| तस्य ह वा एतस्यैव ७२६                         | तानि॰ संकल्पेकायनानि         | ७ ४ २                                 |
| तस्या ह मुखमुपोद्गृहत्त्रनु-                  | प्तानु तत्र मृत्युर्यथा      | 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 5 |
| वाच ४ २                                       | प्रतानु तत्र मृत्युपया गर    | 7 0, 4                                |

| खण्डविभागाद्यपदानि ३   | रध्यायादीनि. | खण्डविमागाद्यपदानि            | अध्यायादीनि.          |
|--|--------------|-------------------------------|-----------------------|
| तान्यभ्यतपत्तेभ्यो   |              |                               |                       |
| तान्होवाच प्रातर्वः  | पृश्च ७      | ध्वलंकृती                     | 6 6 3                 |
| तान्होवाचाश्वपतिर्वे   | पश्र ४ती     | हान्बीक्ष्य प्रजापति-         |                       |
| तान्होवाचेहैव  | ११२ इ        | रुवाच                         | c c 8                 |
| तान्होवाचैते   | पश्ट शती     | होचतुर्यथैवेदमावां            |                       |
| तावानस्य महिमा   | ३१२ ६        | भगव:                          | C C 3                 |
| तासां त्रिवृतं   | ६ ३ ४ त्रर्थ | ो विद्या हिंकारस्रय०          | २२१ १                 |
| तेजसः सोम्याश्यमानस्य.   | ६ ६ ४ त्रय   | ो धर्मस्कन्धाः                | २२१ १<br>२२३ १<br>१८१ |
| तेजो वावाद्भचो भूयस्तद्वा  | ७११ १ त्रय   | ी होद्गीथे                    | 3 < 3                 |
| तेजोऽशितं त्रेधा   | ६ ७ ३        | द.                            |                       |
| तेन तर ह बको   | १ २१३ दध     | : सोम्य मथ्यमानस्य            | ६ ६ १                 |
| तेन तर ह बृह०  | १ २११ हुउ हे | र्डसमै वाग्दोहं भवति          |                       |
| तेन तर हाऽऽयास्य   | १ २१२        | य पूतदेवं                     | २८३                   |
| तेनेयं त्रयी   | १ १ ९ दुग्ध  | ोऽस्मै…भवति य ए∙<br>तामेव<्   |                       |
| तेनोभी कुरुतः  | 3 3 30       | तामवर्                        | 8 3 3 X               |
| तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः  | पश्र पह्ना   | वै मृत्यो                     | 2 8 2 2               |
| ते यथा तत्र न विवेकं   | ६ ९ २ इव     | ासुरा ह                       | 3 5 3                 |
| ते वा एते गुह्या आदेशा   |              | वर्गादित्यः                   |                       |
| ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरसः   |              | -                             | १३७                   |
| ते वा एते बह्मपुरुषाः  | ३१३ ६        | ધ.                            |                       |
| ते वा एते रसाना रसा  | ध्या         | नं वाव चित्ताद्ध्यो           | उ ६ १                 |
| वेदा   | ३ ५ ४        | न.                            |                       |
| तेषां खल्वेषां   | ६ ३ १ नक्ष   | त्राण्येव                     | १६४                   |
| ते ह नासिक्यं  | १ २ २ न व    | ाधेनास्यभोग्यं प <sup>.</sup> | •                     |
| ते ह प्राणाः प्रजापति  | 4, 8 6       | व्यामीति . <sub>.</sub>       | ८१० २                 |
| ते ह यथैवेदं   | ११२ ४ न व    | ाधेनास्य भोग्यं प-            |                       |
| ते ह संपादयांचकुरुद्दा-  |              | र्यामीत्यवमवेष                | < 50 S                |
| ल्कः्  | पश्श सन इ    | व तत्र न । नम्लाच             | ३११ २                 |
| ते होचुरूपकोसलेषा  | ४१४ २न इ     | नून भगवन्तः                   | ह १ ७                 |
| ते हाचुयन  | पश्र इन व    | वाचान चक्ष्रशप.               | 3 3 30                |
| ते ह यथैंवेदं<br>ते ह संपाद्यांचक्रुरुद्दा-<br>लकः<br>ते होचुरुपकोसलैपा<br>ते होचुर्येन<br>तौ वा एतौ द्वौ संवगीं<br>तौ ह द्वात्रि×शतं वर्पाणि<br>तौ ह प्रजापतिरुवाच य<br>एपो | ४। ३। ४। नार | . वद्तऽप्याच्छष्टा            | 1 401 8               |
| ता ह द्वाात्र शत वर्षाण  | ८ ७ इन ह     | इवा अस्म                      | 2,44 \$               |
| ता ह्पजापातरुवाचे य  | न ह          | शप्सु प्रत्यप्सु ः            | 200 5                 |
| एषा  | ८ ७ शनान     | परम करमचन                     | २११ ५                 |

|  |           | 2   | - 00                    |
|--|-----------|---|-------------------------|
|  |           | . खण्डविभागाद्यपदानि.                       | अध्यायाद्यान.           |
| नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद  | : ७ १     | ≰ व.  |                         |
| नाहमत्र भोग्यं पश्यामी   | तिट ९     | श्वलं वाव विज्ञानाद्ध्यो.                   | ७ ८ १                   |
| ्निध्नामिति इयक्षरं  | . 280     | ब्रह्मणश्च ते पादं                          |                         |
| नैवैतेन सुराभि   | . १ २     | अब्रह्मणः सोस्य ते पादं                     |                         |
| न्यग्रोधफलमत आहरेती  | दिंह १२   | तस्मै होवाच पृथिवी                          |                         |
|  |           | ब्रह्म॰कला                                  | 1                       |
| •  |           | ब्रह्मणः सोम्य ते पादं                      |                         |
| पश्च मा राजन्यबन्धुः   | . 4 3 1   | ं ब० तस्मै होवाच                            |                         |
| परोवरीयो हास्य   | . २ ७ :   |   | 8 6 3                   |
| पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि   | : 4 4     | बह्मणः सोम्य तेतस्मै                        |                         |
| पशुषु पञ्जविधं   | . २ ६ १   | नेताचागि ।                                  | 0 10 3                  |
| पुरा तृतीयसवनस्य   | . २।२४.११ | बनावादियो बहस्ति                            | 5 50 9                  |
| पुरा प्रातरनुवाकस्य  | . २२४ :   | ब्रह्मविदिव व सोम्य                         | 8 3 2                   |
| पुरा माध्यंदिनस्य  | . 2,28, 1 | भ   |                         |
| पुरुषं सोस्योत हस्तगृही  | तं ६१६ १  | भगव इति ह प्रतिशुश्राव                      | ४१३ २                   |
| पुरुष सोस्योतोपतापिः   |           | भवन्ति हास्य पशवः                           | २ ६ २                   |
| पुरुषो वाव गौतमाग्निः  |           | भगवा थरत्वेच                                | 222 3                   |
| पुरुषो वाव यज्ञः   |           | म   | 2 2 2 4                 |
| पृथिवी वाव गौतमाग्नि   |           | मघवनमत्यं वा इदं शरीरं                      | - 95 9                  |
| पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं   | . २१७ १   | मटचीहतेषु                                   | ११० १                   |
| प्रजापतिलोकानभ्यतप-  |           | मद्गुष्टे पादं                              | 8 5 8                   |
| त्तेभ्यो   | 1 1       |   | ११० १<br>४ ८ १<br>३१८ १ |
| प्रजापति <b>लों</b> कानभ्यतपत्ते   |           | मनोमयः प्राणशरीरो                           | 3 2 8 2                 |
| षां तप्यमानानां  | 1 1       | मनो वाव वाचो भूयो                           |                         |
| प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो  |           | मनो हो चकाम                                 | .५ १११                  |
|  | , y       |   | च्रश रे                 |
| प्रस्तोतयां प्राचीनशाल औपमन्यवः  |           |   | 88680                   |
| गाणा विश्व कोवान   | 999       |   | 1 - 1                   |
| माण पन नन्म  | 777       | मासेभ्यः पितृलोकं<br>मासेभ्यः संवत्सरं<br>य | 090 3                   |
| प्राण एव ब्रह्मणः  | 5 3 5 8   | गासम्यः समस्तर र                            | 3/2                     |
| भाग तृष्यात  | 988       | יי מינישינת אחווווו                         | 15 9                    |
| पाण इति होवाच<br>प्राण एव बह्मणः<br>प्राणे तृष्यति<br>प्राणेषु पञ्जविधं<br>प्राणो वा आज्ञाया भूय | . 2 6 8   | य आत्माऽपहतपाप्मा                           | C 20 8                  |
| प्राणा वा आशाया भूय  | 1-        | य एष स्वप्ने महीयमानः                       | 2 2 2                   |
| न्यथा  | . ७१५ १   | य एपोऽक्षिणि पुरुषो हु-                     | V 9 4 9                 |
| प्राणा ह्यवतानि सन्नाण   | C X O S   | इस्रते<br>यचन्द्रमसो रोहितं                 | ४१५ १                   |
| प्राप हाऽऽचार्यकुलं  | 8 4 8     | यचन्द्रमसो रीहितं                           | ह्य ४ ३                 |

| खण्डविभागाद्यण्दानि.  | अध्य | <b>या</b> दो | नि. | खण्डविभागाद्यपदानि.                                  | अध   | यार | पादीं | नि.       |
|---|------|--------------|-----|--|------|-----|-------|-----------|
| यत्र नान्यत्पश्यति  | ৩    | २४           | 8   | यस्यामृचि तामृचं .                                   |      | 8   | ३     | 3         |
| यथा कृताय   | 8    | 3            |     | यं यमन्तमभिकामो                                      |      |     | Ì     |           |
| यथा कृताय विजिताय   |      | 2            |     |  |      |     | २     | 20        |
| यथा विलीनमेवाङ्गास्या-  |      |              |     | 6  |      | 3   | 3     | 8         |
| न्तात्  | Ę    | १३           | २   | यावान्वा अयमाकाशः                                    |      |     | ?     | 3         |
| यथा सोम्य पुरुषं  | Ę    | 88           | 8   | या वै सा गायत्रीयं .                                 | ••   | 3   | १२    | 3         |
| यथा सोम्य मधु मधुकृतो   |      |              | 8   |  | ••   |     | १२    | 3         |
| यथा सोम्यैकेन नखनि-   | •    |              |     | यां दिशमभिष्टोष्यन् .                                |      |     | 3     |           |
| कून्तनेन  | Ę    | 3            | ફ   | येन च्छन्द्सा  | ••   | 81  | 3     | १०        |
| यथा सोम्यैकेन मृत्यि-   |      |              |     | येनाश्चतः श्चतं                                      | ••   | ξ   | 3     | 3         |
| ण्डेन   | Ę    | 3            | 8   | यो वै भूमा तत्सुखं                                   | '    | ای  | २३    |           |
| यथा सोम्यैकेन लोहम-   |      |              |     | योषा वाव गौतमाग्निः.                                 | • •  | y   |       | 8         |
| णिना  | દ્   | 1            |     | यो ह वा आयतनं  | '    | إب  | 3     | 4         |
| यथेह क्षुधिता बाला  | Y    | २४           | ١٧  |  |      | ų   | 3     | ?         |
| यद्ग्रे रोहितं रूपं   | Ę    | 8            | ۶   | यो ह वै प्रतिष्ठां                                   | '    | ب   | ? ? ? | ~ # 7     |
| यदादित्यस्य रोहितं रूपं   | Ę    | 8            |     | यो ह वै वसिष्ठं                                      | '    | 4   | 3     | 2         |
| यदाप उच्छुष्यन्ति   |      |              | २   | यो ह वै संपदं वेद .                                  | '    | ابا | ٤     | 8         |
| यदा वा ऋचः  | ?    |              | 8   |  |      |     |       |           |
| यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठा   |      |              |     | रैक्केमानि पट्शतानि .                                | '    | 8   | २     | ?         |
| यदा वै निस्तिष्ठत्यथ  |      | २०           | 3   | ल  |      |     |       |           |
| यदा वै मनुतेऽथ विजा-  |      |              |     | लव्णमेतदुद्के  | :    | ह   | १३    | 3         |
| नाति  | U    | 35           | 3   | लाकेषु पञ्चावध साम.                                  | 3    | २   | २     | 3         |
| यदा वै विजानात्यथ सत्यं   | •    |              |     | लो३कद्वारमत्वा                                       |      |     |       |           |
| वद्ति   |      |              | ?   | ्वयश्रा  | :    | २   | २४    | 8         |
| यदा वै श्रद्धधात्यथ मनुते   |      | १९           | 3   | लो३कद्वारम…त्वा व                                    |      |     | 1     |           |
| यदा वै सुखं लभतेऽथ  | •    |              |     |  | •• • | ?   | २४    | 6         |
| करोति   | G    | २२           | 3   | लो३कद्वारमपावार्णू त                                 | वा   |     |       |           |
| यदुदिति स उद्गीथः   | २    | C            | २   | वय <sup>्र</sup> स्वारा० े.<br>लोग हिंकारस्त्वक्पस्त | •• • | २   | २४    | १२        |
| यदु रोहितमिवाभूदिति   | ६    | 8            | હ્  | लोम हिकारस्त्वकप्रस्त                                | वः   | २   | १९    | 3         |
| यद्वविज्ञातमिवाभूदित्ये-  |      |              |     | व  |      |     |       |           |
| तासामेव<br>यद्विद्युतो रोहितं रूपं  | ह    | 8            | U   | वसन्तो हिंकारः                                       | ••   | २   | १६    | 3         |
| यद्विद्युतो रोहितं रूपं   | इ    | 8            | 8   | वासंष्ठाय स्वाहा .                                   | ••   | 4   | २     | 4         |
| यद्वे तत्पुरुषे शरीरं   | 3    | 25           | 8   | वाग्व बह्मणः   | •••  | र   | १८    | 3         |
| वासामव ग्रा<br>यद्गिद्यतो रोहितं रूपं<br>यद्गे तत्पुरुषे शरीरं<br>यद्गे तद्गक्षेतीदं<br>यस्तद्वेद स वेद | 3    | १२           | U   | वागवक्प्राणः   | •••  | 3   | 3     | 2 7 1 7 2 |
| यस्तद्वेद् स वेद् ,   | 2    | 23           | 18  | वाग्वाव नाम्ना भूयसाः                                | • •  | 10  | 7     | 1 3       |

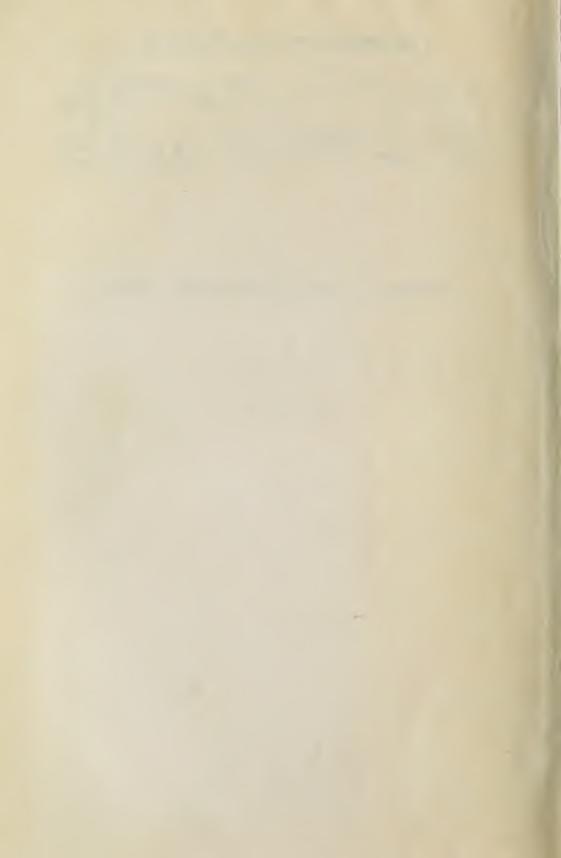
| खण्डविभागाद्यपदानि अ                          | ध्य | यादी। | ने.    | ₹   | वण्डवि <b>भागाद्यपदानि.</b> अध्यायादीनि  | ते.                                     |
|---|-----|-------|--------|-----|--|---|
| वायुर्वाव संवर्गः                             | X   | 3     | 9      | स   | य इदमविद्वान् ५ २४   | 8                                       |
| विनार्दे साम्नः                               |     |       | 8      | स   | य एतदेवसमृतं वेद   | 7                                       |
| विज्ञानं वाव ध्यानाद्ध्यः                     |     |       | 8      |     | मरुतां २ ९   | 3                                       |
| वृष्टी पञ्चविधं सामोपा-                       |     |       |        |     | य एतदेवममृतं वेद   | -                                       |
| सीत   | २   | 3     |        |     | रुद्राणां ः ३ ७  | 3                                       |
| वेत्थ यथाऽसौ लोको न                           | ų   | 3     | 3      | स   | य एतदेवममृतं वेद   | ~                                       |
| वेत्थ यदितः                                   |     |       | Ş      | ï   | य एतदेवममृतं वेद्<br>वसूनां ३ ६  | ?                                       |
|   |     | २०    |        |     | य एतदेवममृतं वेद   | ì                                       |
| <b>्रभ् श</b>                                 |     |       | ì      | 77  | साध्यानां ३१०  | ર                                       |
|   |     | 93    | 9      | _   | ग पनदेनम्मनं वेहा १९   | 4                                       |
| इयामाच्छबलं प्रपद्ये<br>श्रुत≪ ह्येव में भगव० | v   | 3     | 3      | 77  | दित्यानां ३ ८  | 2                                       |
| श्रात्रमेव ब्रह्मणः                           |     | 3     | 2      | -   | व एतदेवं विद्वानक्षरं १ ४  | 3                                       |
| श्रोत्रमेवर्छानः                              | マコ  | 3     |        | स   | य एतदेवं विद्वानसाधु २   | 8                                       |
| श्रोत्रं हे(चक्राम                            |     | 9     | ۲<br>۲ | 177 | य एतमेवं विद्वा श्र्यतुः   | Ø.                                      |
| श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस                       |     | 2     | 3      |     | ष्कलं पादं ब्रह्मणः ४ ८  | y                                       |
| श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्च                    |     |       |        |     |  | Ö                                       |
| लानाः े                                       | Ų   |       | 8      | स   | य एतमेवं विद्वा श्र्यतु-   |   |
| ष   | _   | <     | 2      |     | ष्कलं पादं ब्रह्मणः  |   |
| •   |     |       |        |     | प्रकाशवान् ४ ५   | 3;                                      |
| षोडशकलः सोम्य                                 | ६   | 6     | 3      | स   | य एतमेवं विद्वा स्थ्रतु  |   |
| ₹.  |     |       |        |     | ष्कलं पादं ब्रह्मणी  | ,                                       |
|   |     | १७    |        |     |  | 8                                       |
| स एतास्तिस्रो देवताः                          |     |       | २      | स   | य एतमेवं विद्वा श्वतु-   |   |
| स एवाधस्तात्सः                                |     | २५    | 3      | i   | ष्कलं पादं बह्मणः ४ ६  | 8                                       |
| स एप प्रोवरीयान्                              | 3   | 3     | २      | स   | य एतमेवं विद्वानादित्यं ३१९  | S.                                      |
| स एप ये चैतस्मात्                             | 3   | 6     | ६      | स   | य एतमेवं विद्वानुपास्ते ४ ११   | 5.                                      |
| स एष रसाना र                                  | 3   | 8     | ३      |     | ,, ,, ४१२  | २                                       |
| स जातो यावदायुषं                              | 4   | 3     | २      |     | 77 77 77   | ?                                       |
| सत्यकामो ह जाबालः                             | S   | S     | 3      | स   | य एवमेतत्साम २ २१  | 3.                                      |
| सद्व सोम्यद्मग्रे                             | ह्  | २     | 3      | स   | य एवमेतद्गायत्रं २११   | ?                                       |
| स बूयान्नास्य                                 | 6   | 8     | Y      | स   | य एवमतद्बृहदादित्यं २ १४   | 2                                       |
| समान उ एवाय                                   | 3   | 3     | २      | स   | य एवमेतद्यज्ञाः २१९  | 5                                       |
| समान तृष्यात                                  | u.  | २२    | =      | स   | य एवमतद्रथं २१२  | 5.                                      |
| स य आकाश                                      | 9   | १२    | २      | स   | ग, ग, ४१३<br>य एवमेतत्साम २११<br>य एवमेतद्वायत्रं २११<br>य एवमेतद्वृहदादित्ये २१४<br>य एवमेतद्यज्ञाः २१९<br>य एवमेतद्रयं २१९<br>य एवमेतद्रयं २१२<br>य एवमेतद्राजनं २२० | ~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~ |
| स य आशां 🗸                                    |     | 105   | ४२     | स   | य एवमेतद्वैराजमृतुषु २/१६  | 2                                       |

| खण्डविभागायपदानि. अध्य   | ायादीनि. | खण्डविभागायपदानि.                        | अध्या                   | यादीि | ने.          |
|--------------------------|----------|--|-------------------------|-------|--------------|
| स य एवमेतद्वैरूपं २      |          | स यो मनो                                 | ৩                       | 3     | 2            |
| स य एवमेतद्वामदेव्यं २   |          | स यो वाचं                                | ৬                       | २     | २            |
|                          |          | स यो विज्ञानं                            | v                       | ৩     | २            |
|                          |          | सर्वकर्मा सर्वकामः                       | इ                       | 88    | 8            |
| स य एषोऽणिमा ६           |          | सर्वं खल्विदं ब्रह्म                     | ३                       | 88    | 3            |
| ,, ,, ६                  | 8 8      | सर्वास्वप्सु                             | २                       | 8     | 3            |
| ,, ,, ६                  | 20 3     | सर्वे स्वरा इन्द्रस्याऽऽ                 |                         |       |              |
| स य एषोऽणिमैतदातम्यं ६   |          |  | २                       | २२    | 3            |
|                          |          |  | २                       | २२    | 4            |
|                          |          | स वा एष आत्मा                            | 6                       |       | 3            |
| ,, ,, ε                  |          | स समित्पाणिः पुनरेया                     | य ८                     | १०    | 3            |
| स यथातत्र ६              |          | 1  | 1                       | 22    | २            |
| स यथा शकुनिः ६           | ंट इ     | स हं क्षत्तांऽन्विष्य .                  | 8                       | 8     | Ġ            |
| स यथोभयपात ४             | १६ प     | स ह खादित्वाऽतिशेषा                      | न् १                    | - 1   | 4            |
| स यद्वोचं प्राणं ३       | 84 8     | स ह गौतमो                                | . 4                     | 3     | ह्           |
| स यद्शिशिपति ३           |          | स ह द्वादशवर्ष उपेत्य.                   | ६                       | 6     | २            |
|                          |          | स ह पञ्चद्शाहानि .                       |                         | હ     | २            |
| स यदि पितृलोककामो        |          | स ह प्रातः संजिहान .                     | ?                       | १०    | ह            |
| भवति ८                   | २ १      | स ह व्याधिनाऽनशितुं                      | 1                       | १०    | 3            |
| स यश्चितं ७              | A 5      | स ह शिलकः                                | 8                       | 6     | ३            |
| 9 9                      | 22 =     | स ह संपाद्यांचकार .                      | - (                     | 23    | 3            |
| स यः संकल्पं ७           | 8 3      |  | 8                       | -     | 3            |
| स यः स्मरं ७             | १३ २     | स हाऽऽशाथ हैनं .                         | ६                       | ঙ     | 8            |
| स यावदादित्य उत्तरतः ३   | 30 X     | स हेभ्यं कुल्माषान् .                    | 6                       | 20    | २            |
| स यावदादित्यः पश्चात् ३  | 3 8      | स होवाच किं मेऽन्नं .                    | 4                       | २     | ?            |
| स यावदादित्यः पुरस्तात्  |          | स होवाच किं मे वास                       |                         | •     | ? ?          |
| द्विस्तावत् ३            | ७ ४      | स होवाच भगवनतं .                         | 6                       | 83    | 2            |
| ,, ,, ,, वसूनां ३        | ६ ४      | स होवाच महात्मन:                         | 8                       | 3     | ६            |
| स यावदादित्यो दक्षिणतः ३ | 6 8      | स होवाच विजानाम्य                        | हं ४                    | 40    | V,           |
| म यो ध्यानं ७            | 8 3      | संकल्पो वाव मनसः .                       | ७                       | 8     | 6            |
| स यो नाम ७               | 9 4      | सा हैनमुवाच स्यं देवतेक्षत स्या चतुष्पदा | ·· 8                    | 8     | 5. N 2 2 2 N |
| स योऽन्नं ७              | 3 2      | सेयं देवतैक्षत                           | ६                       | 3     | ?            |
| स योऽपो ७                | १० २     | सैषा चतुष्पदा                            | ३                       | 80    | 8            |
| स यो बलं ७               | C 7      | सोऽधस्ताच्छकटस्य                         | $\cdot \cdot \cdot S_1$ | 8     | 6            |

| खण्डविभागाद्यपदानि.  | अध्यायादीनि.   | खण्डविभागाद्यपदानि.                             | अध्यायादीनि. |
|--|----------------|---|--------------|
| सोऽहं मगवो मन्त्रवि<br>वास्मि<br>स्तेनो हिरण्यस्य सुरां.<br>स्मरो वावाऽऽकाशात् | ७ १ ३<br>५१० ९ | ह.<br>हन्ताहमेतद्भगवतो<br>हस्सस्ते पादं वक्तेति | 8 0 6        |

# समाप्तेयं छान्दोग्योपनिषद्विभागानां वर्णानुक्रमणिका।





0.42 1910a

BL Upanishads. Chandogyopanishad 1120 Chhandogyopanishat



PLEASE DO NOT REMOVE CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

D RANGE BAY SHLF POS ITEM C 39 14 12 15 08 013 3